धर्मवीर भारती

ग्रन्थावली

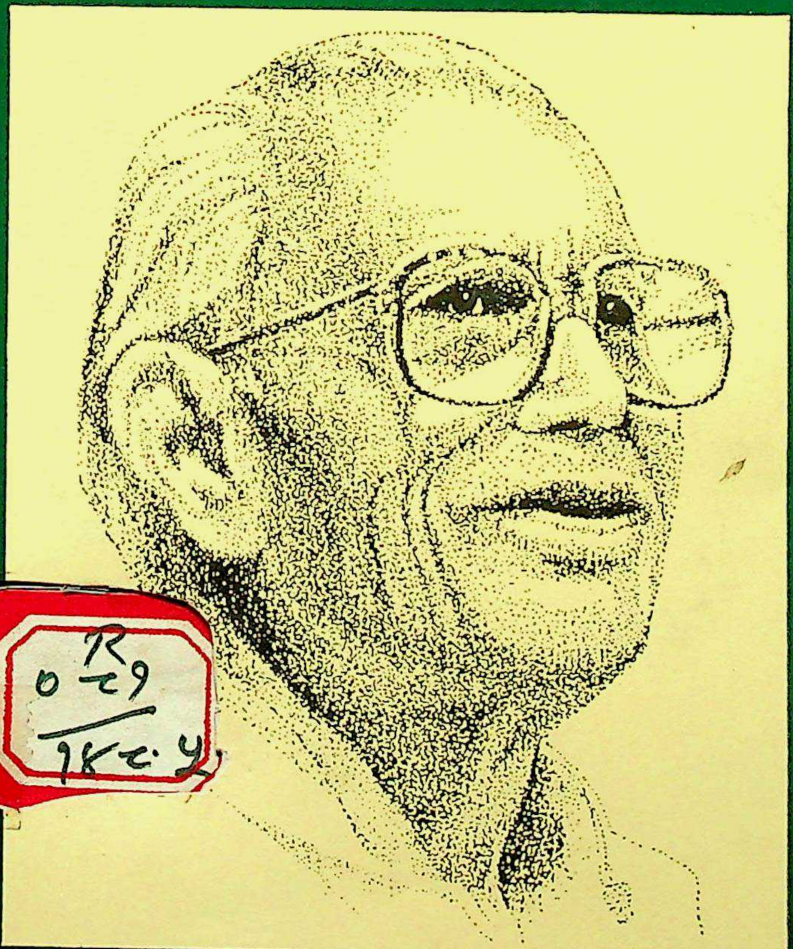

रचनावली

धर्मवीर भारती प्राध्यापक भी रहे। एक सजग, अध्ययनशील अध्यापक के नाते उनहोंने अनुसंधान और समीक्षा का दायित्व भी निबाहा, लेकिन उनके इस चिंतन और आलोचना-कर्म में किताबी जकड़बंदियाँ नहीं हैं। उसमें वैचारिक खुलापन है। इसीलिए उनकी साहित्य-समीक्षा में भी रचनात्मकता है। भारती ग्रंथावली के इस पाँचवे खंड में संकलित 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' तथा 'मानव मूल्य और साहित्य' भारती की इसी सृजनात्मक समीक्षा-सामर्थ्य को रेखांकित करते हैं।

विचारधारा के रूप में प्रगतिवाद का उदय सोवियत रूस में हुआ। तार्किकता, वैज्ञानिकता और स्पष्टता के कारण प्रगतिशील विचारों ने दुनियाभर के बुद्धिजीवियों को आकृष्ट किया तथा रचना और आलोचना में कई आंदोलनों की पृष्ठभूमि का निर्माण किया।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को माननेवाली प्रतिवादी विचारधारा के दो समानांतर रूप प्रारंभ से ही दिखाई देते हैं। भारती 'प्रकृतिवाद : एक समीक्षा' में भारतीय मार्क्सवाद की दोनों धाराओं का आकलन करते हैं और साहित्य के सम्यक् मूल्यांकन के लिए उदार मानवतावादी प्रगतिशील दृष्टि को श्रेष्ठ ठहराते हैं। यहाँ भारती एक नया सूत्र देते हैं कि दुनिया को वही बदल सकता है जिसमें आत्मक्रांति की क्षमता हो—इसे भारती के चिंतन-सृजन में भी देखा जा सकता है।

(अगले फ्लैप पर जारी)

सम्पूर्ण ग्रन्थावली (नौ खण्ड)
रुपये चार हजार मात्र

रचनावली

113496

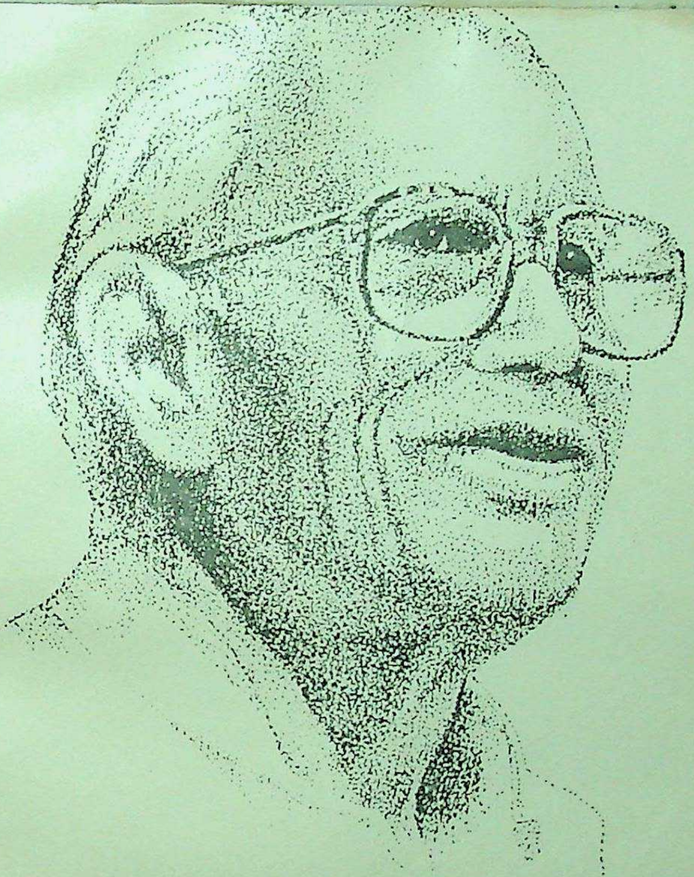

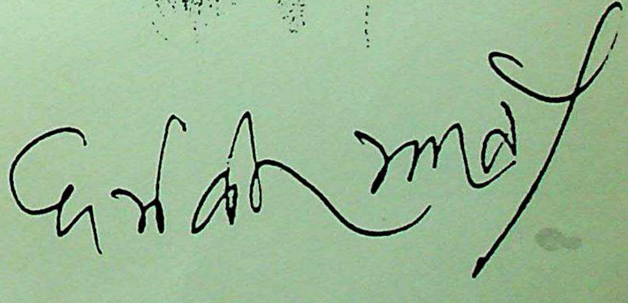

रचनावली

रचनावली

धर्मवीर भारती ग्रन्थावली-5

समीक्षा साहित्य

रचनावली

धर्मवीर भारती ग्रन्थावली

खण्ड : एक

उपन्यास और लंबी कहानियाँ

खण्ड : दो

कहानियाँ और एकांकी

खण्ड : तीन

कविताएँ और गीति-नाट्य

खण्ड : चार

निबंध साहित्य

खण्ड : पांच

समीक्षा साहित्य

खण्ड : छः

संस्मरण साहित्य

खण्ड : सात

यात्रा साहित्य

खण्ड : आठ

अनूदित साहित्य

खण्ड : नौ

शोध साहित्य

113496

धर्मवीर भारती ग्रन्थावली

खण्ड : पाँच

113496

सम्पादक

चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली-110002

रचनावली

R
0-29
14-8.5

ISBN 81-7055-617-1

वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 1999
© श्रीमती पुष्पा भारती

कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110093
द्वारा लेज़र कम्पोज़

मेहरा ऑफसेट प्रेस, नयी दिल्ली-110002
द्वारा मुद्रित

DHARAMVIR BHARTI
GRANTHAWALI-5
Edited by Chandrakant Bandiwadekar

समीक्षा साहित्य

रचनावली

सम्पादकीय

डॉ. धर्मवीर भारती की ग्रन्थावली का यह पाँचवाँ खण्ड है। सृजनशील कल्पनात्मक साहित्य की निर्मिति के समानान्तर डॉ. भारती ने वैचारिक एवं समीक्षात्मक लेखन भी प्रचुर मात्रा में किया है। इस पाँचवें खण्ड में हम उनके दो समीक्षापरक ग्रन्थों का समावेश कर रहे हैं।

पहला ग्रन्थ है 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' (इसका लम्बा शीर्षक यह भी है : 'प्राचीन, स्थायी और शाश्वत साहित्य तथा प्रगतिवादी प्रयोग') यह 1949 में साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग से प्रकाशित हुआ था। दूसरा ग्रन्थ है 'मानव मूल्य और साहित्य' यह 1957 में ही प्रकाशित होना था परन्तु प्रकाशित हुआ 1960 में। इसका दूसरा संस्करण भी 1990 में भारतीय ज्ञानपीठ ने प्रकाशित किया।

डॉ. भारती की प्रथम पुस्तक 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रगतिवाद का जन्मस्थान सोवियत रूस है। वहाँ मार्क्सवादी दृष्टिकोण से साहित्य की ओर देखनेवाली दो धाराएँ रही हैं जिनमें द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है। एक मार्क्सवाद के उदार मानवतावाद को स्वीकार कर और मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रति आस्था रखकर भी उसके प्रति अनुसन्धानपरक दृष्टि रखनेवाली और देश-काल की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन की गुंजाइश स्वीकार करने वाली लचीली धारा है तो दूसरी मार्क्स को कभी न चूक करने वाले देवता के समान मानने वाली कट्टरपन्थी साम्प्रदायिक और पोथीनिष्ठ धारा है। दुर्भाग्य से भारत में दूसरी धारा का प्रभाव अधिक रहा है। इसके गहरे परिणाम साहित्य और समीक्षा पर हुए हैं और साहित्य-विषयक आकलन-आस्वादन में तथा मूल्यांकन में भारी गड़बड़ियाँ हुई हैं। दोनों दृष्टियों का प्रामाणिक दृश्य आमने-सामने रखते हुए डॉ. भारती ने उदार मानवतावादी दृष्टि को अपनाने का आवाहन किया है। द्वन्द्वात्मक भौतिकतावादी

इतिहास दृष्टि, वर्गीय दृष्टि, समाज और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध, साहित्य का सृजन और उसकी व्यक्तिपरकता, लेखक की स्वाधीनता, साहित्य में नैतिकता और अश्लीलता, जीवन में धर्म और अध्यात्म का महत्त्व, धर्म के दो रूप—एक उदार मानववादी और दूसरा संकीर्ण मजहबी जीवन के महत्त्वपूर्ण मूल्य। जीवन में रोमांटिसिज्म, प्रणय, प्रकृति का आकर्षण आदि का स्थान इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार करते हुए डॉ. भारती ने प्रगतिवादी लेखकों और पाठकों के सामने मार्क्स के उपरोक्त दोनों रूप रखे। दुनिया को बदलने के पहले अन्तर्मुख हो कर अपने को बदलने की आवश्यकता पर डॉ. भारती ने बल दिया है। विश्व साहित्य का भान, रूसी साहित्य की गहन पहचान और हिन्दी साहित्य का सजग आकलन इन तीनों दृष्टियों से डॉ. भारती का यह ग्रन्थ उनके चिन्तक व्यक्तित्व की अजस्र शक्ति और गरिमा को उजागर करता है।

भारत एक ओर विभिन्न भाषाओं के साहित्यों से और प्राचीन भारत की समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा से सम्बद्ध रहा तो दूसरी ओर ब्रिटिश राज में पश्चिमी संस्कृति, जो केवल अंग्रेजी के माध्यम से विकीर्ण हुई, से आंशिक रूप में प्रभावित रहा। दो महायुद्ध और भारत की स्वतन्त्रता ने भारतीय लेखकों को समझा दिया कि उन्हें समूचे विश्व के परिप्रेक्ष्य में अपने साहित्य को देखना चाहिए, इसलिए विश्व-दृष्टि को बनाना आवश्यक है। अज्ञेय से लेकर यह प्रक्रिया जोरदार रूप में प्रारम्भ हुई और हिन्दी के महत्त्वपूर्ण लेखकों ने इस प्रक्रिया को भली भाँति समझा। डॉ. धर्मवीर भारती ऐसे महत्त्वपूर्ण इने-गिने लेखकों में एक हैं।

डॉ. भारती का दूसरा ग्रन्थ 'मानव मूल्य और साहित्य' वैश्विक दृष्टि से उनकी गहन संपृक्ति का परिचायक है। वैसे पहले ग्रन्थ में भी विश्व दृष्टि के संकेत मिलते हैं परन्तु वहाँ वे रूसी उदार मानवतावादी मार्क्सीय दृष्टि के अनुषंग में प्रकट हुए हैं। दूसरे ग्रन्थ में यह विश्व दृष्टि अधिक स्वायत्त, मुक्त और सम्पन्न रूप में प्रकट होती है। भारती का वैशिष्ट्य यह है कि वे अपनी भाषा, अपना साहित्य, अपनी सांस्कृतिक धरोहर, सामाजिक- राजनैतिक परिवेश का भान, समय और समकालीनता की पहचान इत्यादि के प्रति विवेकपूर्ण अस्मिता को सुरक्षित रख कर ही बाहरी वैश्विक प्रभावों को ग्रहण करते हैं और अपने बोध को स्वास्थ्यप्रद समन्वित और समग्र रूप में प्रस्तुत करते हैं।

दूसरे ग्रन्थ में मानवीय मूल्यों का विभिन्न दार्शनिक विचार व्यूहों के परिप्रेक्ष्य में समीक्षण करते हुए परखने का प्रयास करते हैं कि इन विचार व्यूहों की मनुष्य के हित के सन्दर्भ में कितनी क्षमता है और सम्भावनाएँ क्या हैं। वे मानवमात्र की नियति और गरिमा की पहचान का प्रयास करते हैं। साहित्य में मनुष्य, जो उनके

लिए सर्वोपरि है, का प्रारूप देखने का प्रयत्न करते हैं और मनुष्य के विभिन्न परिवर्तित रूपों को महान् साहित्यकारों की कृतियों के माध्यम से देखते हुए उसकी स्थिति-गति और सम्भावनाओं पर चिन्तन करते हैं। इस वैचारिक छानबीन में विभिन्न दार्शनिक विचारधाराएँ, धर्म विषयक मान्यताएँ, विभिन्न संस्कृतियों के सन्दर्भ, महान् लेखकों की रचनाओं के सार्थक और प्रतीतिकारी उल्लेख सहजतया उत्स्फूर्ण रूप में आते रहते हैं। डॉ. भारती की सोच में भारतीय मनुष्य तो है ही, विश्व का मानव भी विद्यमान है। मनुष्य की वर्तमान अवस्था, उसका अतीत, उसका भविष्य, उसका बिखराव, निराशा, अकेलापन, मनुष्य का दायित्व, सब पर दृष्टि डालते हुए अपने केन्द्रीय प्रश्न से लगातार जूझते हैं—साहित्य मनुष्य को कैसे बचा सकता है ? उसकी गरिमा को बनाये रखने में क्या योगदान कर सकता है ? साहित्यकार का दायित्व क्या है ? साहित्यकार स्वयं अपनी कथनी और करनी का अन्तर कैसे मिटा सकता है और अपनी मन्त्रभारित शब्द शक्ति से पाठक को कैसे परिवर्तित कर सकता है ?

विश्वास है भारती का यह चिन्तनपरक सर्जनशील रूप पाठकों को एक महान् साहित्यकार के लेखकीय व्यक्तित्व का पारस-स्पर्श देगा।

—चन्द्रकान्त बाँदिवडेकर

अनुक्रम

प्रगतिवाद : एक समीक्षा

भूमिका 17

विषय-प्रवेश 21

रूसी साहित्य में प्रगतिवादी धारा 29

प्राचीन, स्थायी और शाश्वत साहित्य तथा प्रगतिवादी प्रयोग 49

क्या प्राचीन राष्ट्रीय इतिहास पर लिखा गया साहित्य पलायनवादी है ? 63

प्रगतिवाद और रोमाण्टिक प्रेम 75

राजनीतिक अनुशासन और साहित्य 93

प्रगतिवादी साहित्य में कलात्मक तत्त्वों का अभाव 105

क्या व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं ? 113

धर्म, ईश्वर, वैयक्तिक अध्यात्म-साधना और सोवियत साहित्य 123

प्रगतिवादी साहित्य के नाम पर गन्दी अश्लीलता 139

कलाकार किसी का मानसिक गुलाम नहीं बनेगा 151

तरुण कलाकारों से 161

परिशिष्ट 175

सहायक पुस्तकें 183

मानव मूल्य और साहित्य

भूमिका 187

मानवीय तत्त्वों का विघटन

अन्तरात्मा के ध्वंसावशेष 193

अवरुद्ध सृजनात्मकता : पुंस्त्वहीन नायक और सामाजिक अयथार्थ 206

एक भव्य अतीत का अनिश्चित भविष्य 216

निर्माणपरक दायित्व और राष्ट्र 227

233 हाथी-दाँत की भारतीय मीनारें

नयी मर्यादा का उदय

249 नयी मर्यादा का उदय

नये मूल्य और विविध सन्दर्भ

277 समीक्षा के आयाम

286 सृजन प्रक्रिया का मानवीय धरातल

291 उपन्यास और आत्मान्वेषण

300 नयी कविता और दायित्व की आन्तरिकता

प्रगतिवाद : एक समीक्षा

"मैं बिल्कुल तुम्हारी तरह नहीं सोचता, लेकिन तुम्हें क्या हक है कि तुम यह फरमान जारी कर दो कि जो तुम्हारे विचारों से हरफ-ब-हरफ मेल नहीं खाता वह क्रान्ति के बाहर है ? क्रान्ति और प्रगति किसी एक पार्टी की बपौती नहीं है। क्रान्ति की महान् ध्वजा की छाँह में वे सभी सिपाही खड़े हो सकते हैं जो एक बेहतर और ज्यादा सुखी मानवता के सपनों में डूबे हुए हैं। वही सपना मेरी आत्मा में भी पल रहा है। लेकिन मैं उस आधीनता के वातावरण में नहीं रहना चाहता जहाँ कम्यूनिस्ट और बोर्जुआ दोनों अपने-अपने ढोल कलाकार के गले में बाँधने के लिए सन्नद्ध हैं। इसीलिए मैं प्रतिभा के वातायन उन्मुक्त रखता हूँ। अगर मेरी साँस घुटती है तो मैं खिड़की के शीशे भी चूर-चूर कर देने में पीछे नहीं हटूँगा। हम लोगों का दावा है कि हम क्रान्ति और प्रगति के साथ रहेंगे लेकिन आजाद मानव बन कर रहेंगे।"

–रोमाँ रोलाँ

गंभीर विचारक धर्मवीर भारती

रचनावली

लोकार्पण करते धर्मवीर भारती और राजनेता त्रय-चंद्रशेखर, अटलबिहारी वाजपेयी, दिग्विजय सिंह

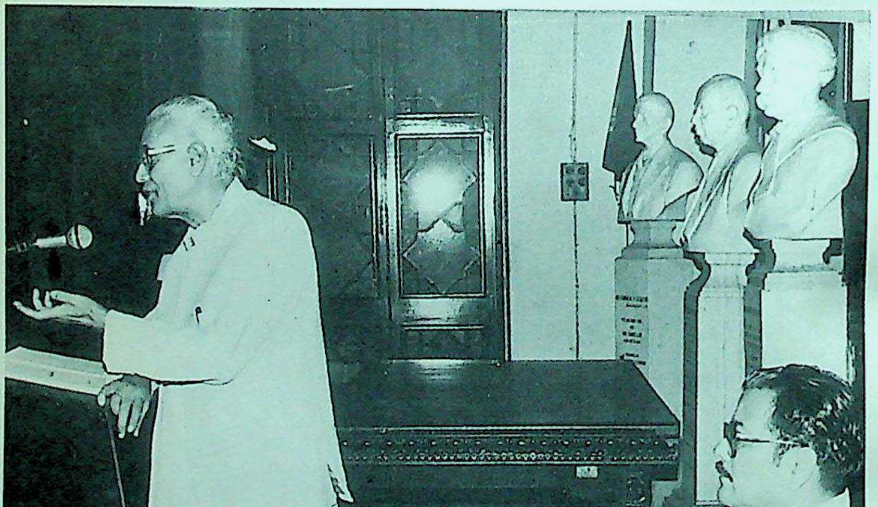

धर्मवीर भारती और डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर (ग्रन्थावली के संपादक)

कमलेश्वर, धर्मवीर भारती, रमारानी जैन, प्रथम ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता जी शंकर कुरुप, अज्ञेय और महावीर अधिकारी

श्रीमती कुंथा जैन, श्रीमती कारंत, ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता शिवराम कारंत, लक्ष्मीचंद्र जैन, पुष्पा भारती और धर्मवीर भारती

धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, उपकुलपति राम जोशी और के.जे. पुरोहित

श्री शिवज्ञान ग्रामणी, श्री विश्वनाथन के साथ धर्मवीर भारती

चंद्रगुप्त विद्यालंकार, रामरिख मनहर, राजेन्द्रसिंह बेदी, किशनचंदर, छोटेलाल प्रभाल, अली सरदार जाफरी, सलमा सिद्दीकी, इस्मत चुगताई के साथ धर्मवीर भारती

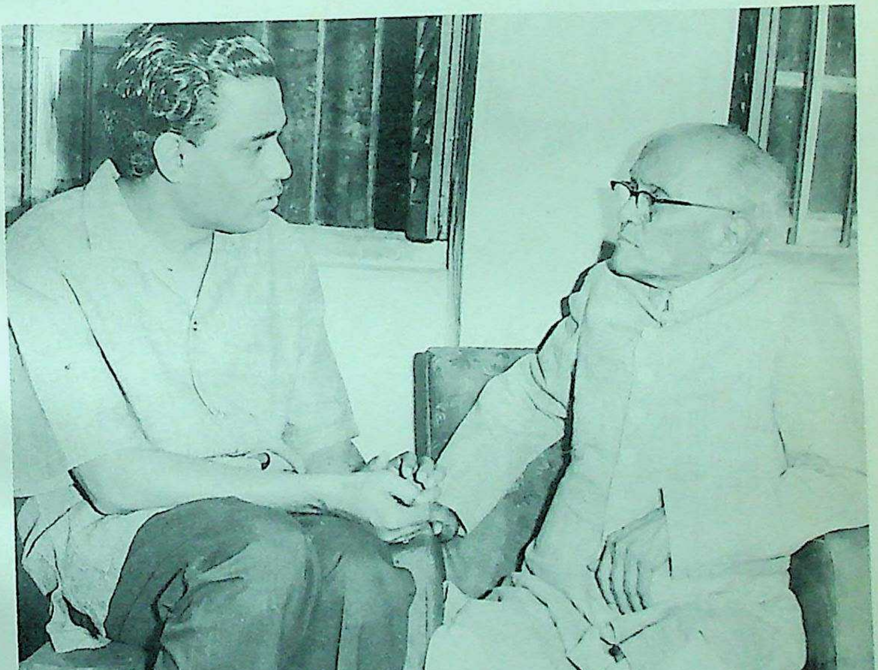

मराठी नाटककार मामा वरेरकर के साथ धर्मवीर भारती

धर्मवीर भारती अपने परमप्रिय नाती अंशुमान के साथ

डॉ. बाउज, भंवरमल सिंधी, पुष्पा भारती, डॉ. नामवर सिंह, धर्मवीर भारती, डॉ. देवराज, अज्ञेय और माइक पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

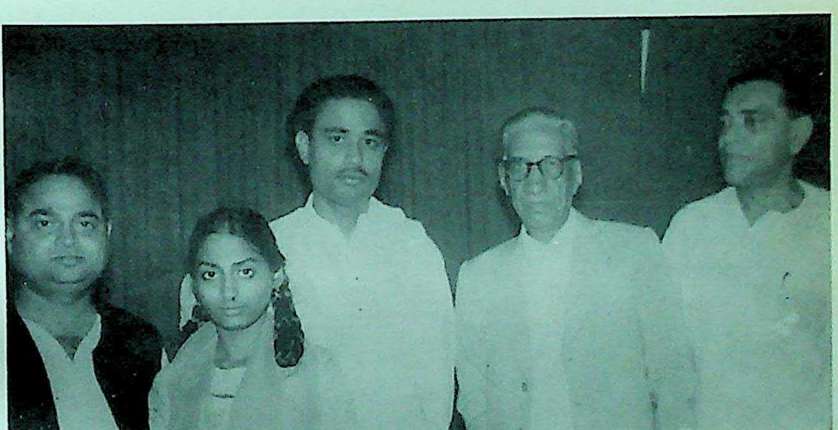

कथाकार सुदर्शन, रामधारी सिंह दिनकर के साथ धर्मवीर भारती

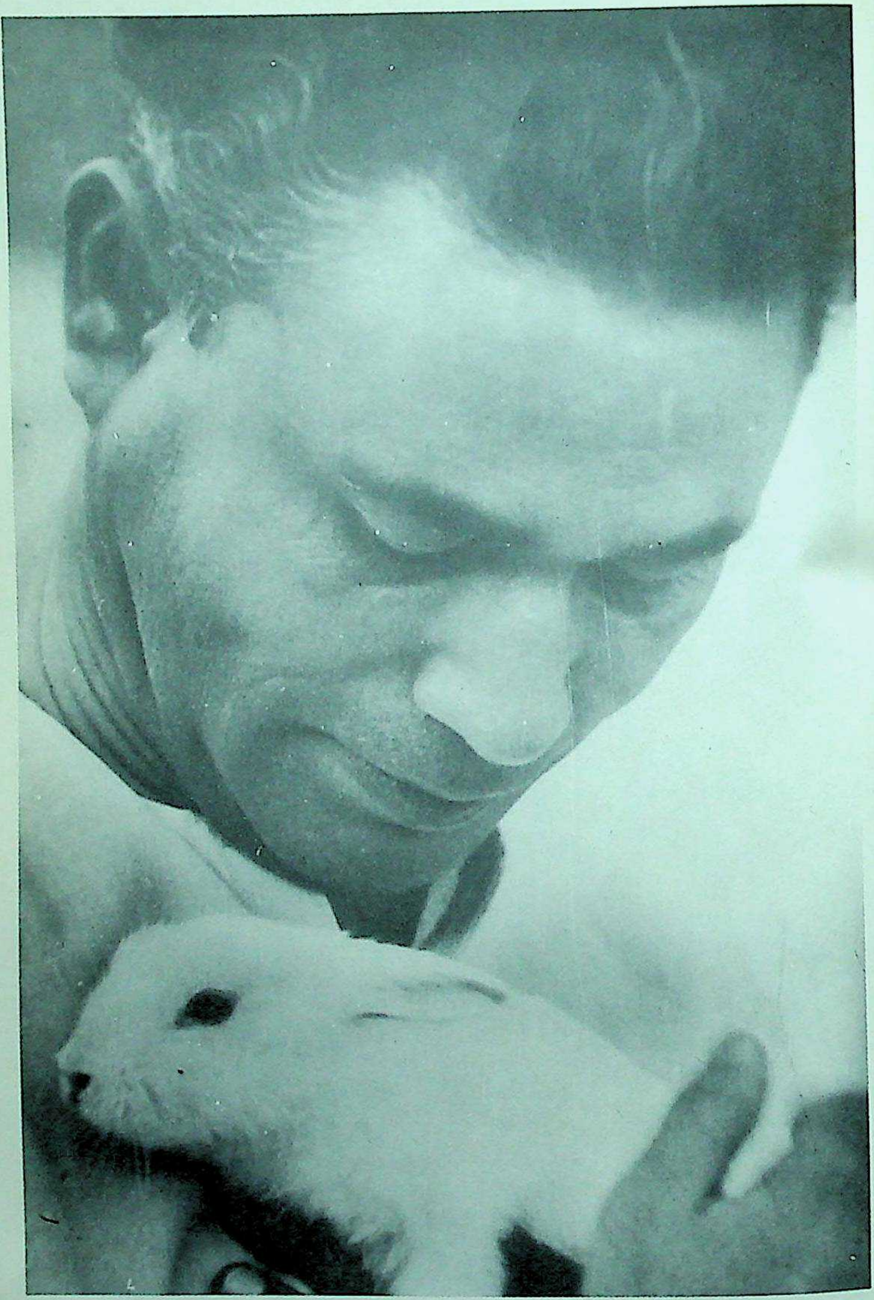

अपने प्रिय खरगोश बेलू के साथ धर्मवीर भारती

भूमिका

यों तो किसी भी साहित्य में विभिन्न विचारधाराओं और शैलियों का अस्तित्व इस बात का परिचायक है कि उस भाषा के साहित्यकार सजग और सक्रिय हैं और सत्य को विभिन्न पहलुओं से समझने का यत्न कर रहे हैं, लेकिन जब कोई भी वाद या कोई भी विचारधारा साहित्य-सुलभ उदारता को छोड़कर तानाशाही का स्वर अख्तियार लेती है, उस वक्त गम्भीरता से विचार करने का समय होता है।

हिन्दी में प्रगतिवादी आन्दोलन का सूत्रपात हुए लगभग 12 वर्ष हुए सन् 36 में अ. भा. प्रगतिशील लेखक संघ कायम हुआ था। 13 वर्ष के दौरान में प्रगतिवाद कई अवस्थाओं से गुजरा। छायावाद के मुकाबिले में प्रगतिवाद को एक बहुत बड़ा लाभ यह था कि छायावाद को हिन्दी में पाठक बहुत मिले, मगर सहानुभूतिपूर्ण आलोचक नहीं मिल पाये। प्रगतिवाद को पाठक कम मिले, लेकिन आलोचकों ने पैदा होते ही उसे चक्रवर्ती शासक घोषित कर दिया। यह अच्छा नहीं हुआ। एक स्वस्थ और सन्तुलित आलोचना भी साहित्यिक विचारधारा के विकास और परिपाक के लिए आवश्यक होती है। लेकिन अन्धी और नासमझ प्रशंसा और बिना अध्ययन ने प्रगतिवाद को दृढ़ और सबल बनाने के बजाय जिद्दी और चिड़चिड़ा बना दिया। वह उस बच्चे की तरह रहा जो अपने घरवालों के स्नेह की कदर नहीं समझता और अपने परिवार की स्थितियों से सन्तुलन करना नहीं चाहता। उसमें एक तानाशाही आ जाती है, जो आगे चलकर उसी को बर्बाद कर डालती है।

मानवता को प्यार करनेवाले एक ईमानदार कलाकार के नाते प्रगति मेरा ईमान है, मेरी कलम की जवानी है, लेकिन अपनी आत्मा में मैं जिस सत्य का साक्षात्कार करता हूँ उसे निर्भीकता से आगे रखना मेरा कर्तव्य है। जहाँ तक कम्यूनिस्ट प्रगतिवाद का सम्बन्ध है, उसके अन्दर जो कुछ भी संकीर्णताएँ हैं, जहाँ वह अपने में सिमटा

हुआ भारत की सांस्कृतिक परम्परा से दूर, मानव जीवन के विशाल कैनवस से अनजान, एक कट्टर राजनीतिक मजहब का रूप धारण कर लेता है, वहाँ एक ईमानदार साहित्यिक के नाते मैं उसके खिलाफ आवाज उठाने के लिए बाध्य हो जाता हूँ। एक सत्य के खोजी साहित्यिक के लिए मानवीय सत्य का महत्त्व किसी भी वाद से ज्यादा है, इसीलिए मुझे वाद का विरोध करना पड़ता है, प्रगति के समर्थन में आवाज उठानी पड़ती है; क्योंकि मैं देख रहा हूँ 'वाद' की जंजीरों ने 'प्रगति' के कदम जकड़ लिए हैं।

मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो प्रगति के नाम से ही घबराते हैं। मैं विश्वास करता हूँ कि मानवजाति सृष्टि के आरम्भ से आज तक परिस्थितियों से लड़ती रही है और अपने रक्त से, अपने आँसुओं और अपने पसीने से, समय के पृष्ठों पर सत्य का इतिहास लिखती रही है। उसने हर युग में नये-नये प्रयोग किये हैं। लेकिन जब कभी प्रयोग को सत्य से अधिक महत्त्व देने लगते हैं, उसी वक्त हमारी प्रगति रुक जाती है। मार्क्सवाद भी मानव सभ्यता का एक बहुत भारी प्रयोग रहा है। लेकिन वह प्रयोग ही रहा, लाभदायक प्रयोग किन्तु समाधान नहीं बन पाया। मार्क्सवाद में कमियाँ थीं। रूस ने उन कमियों को ढूँढ़ निकाला और उनका परिहार करने की कोशिश की। लेकिन फिर भी रूस की संस्कृति उतनी वैभवशाली नहीं जितनी हमारी संस्कृति रही है, अतः अब भी रूसी साहित्य वह स्थायी और सशक्त जीवन दर्शन नहीं खोज पाया है जिसकी खोज का सौभाग्य शायद भारतीय साहित्य को मिलने वाला है, क्योंकि हमारे पास अग्निशिखा सा देदीप्यमान सन्देश है और अब हम उसकी ज्योति विकीर्ण करने के लिए स्वतन्त्र हैं।

इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हम मार्क्स के शब्दों के अभिधार्थ को वेदवाक्य न समझ कर उसके जीवन सन्देश को समझें, रूसी साहित्य ने जो प्रयोग किये हैं उनका अध्ययन करें और देखें कि अब क्या कमी बच जाती है, और ज़ो कमी बच जाती है क्या उसे हम भारतीय संस्कृति के सत्य-दान से पूरा कर सकते हैं या नहीं। साथ ही हम उन प्रयोगों में से भी सत्य के कण बटोरने का प्रयास करें जो फ्रान्स, इंगलैण्ड, और जर्मनी के लेखकों की नवीनतम पीढ़ी द्वारा किए जा रहे हैं। साहित्यकार के सामने एक गम्भीर उत्तरदायित्व रहता है। मेरा नम्र-निवेदन है कि 'भारतीय प्रगतिवादी लेखकों ने इस उत्तरदायित्व की गुरुता का अनुभव नहीं किया है। उन्होंने उस व्यापक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को समझने में उतना उत्साह नहीं दिखाया। उन्होंने साहित्य को एक गम्भीर साधना नहीं समझा। साहित्य की स्थायी सफलता साधना से आती है, प्रचार से नहीं।'

रचनावली

मैं प्रगतिवाद के उन निन्दकों का विरोधी हूँ जो मार्क्सवाद के व्यापक सन्देश को समझे बिना, रूसी साहित्य का अध्ययन किये बिना, प्रगतिवाद के खिलाफ गुहार मचाते हैं। मैं प्रगतिवाद के उन समर्थकों का भी विरोधी हूँ जो भारतीय परिस्थितियों, भारतीय परम्पराओं, और भारतीय साहित्य की आत्मा को पहचाने बिना अपने पूर्व निर्धारित सिद्धान्त साहित्य पर लादना चाहते हैं। ऐसे समर्थक न केवल प्रगतिवाद का नुकसान करते हैं वरन् हिन्दी के मार्ग में भी खतरे बिछा देते हैं।

लेकिन भारत के प्रगतिवादियों के दोषों के कारण हमको रूसी प्रगतिवादियों का मूल्य कम नहीं करना चाहिए। उन्होंने सचमुच अपने सच्चे राष्ट्रीय (कट्टर राष्ट्रीय) साहित्य का निर्माण किया है। लेकिन रूस और मार्क्सवाद का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी मैं उन्हें केवल अनेकों में से एक प्रयोग मात्र मानता हूँ और मैं चाहता हूँ कि भारतीय प्रगतिवादी उसका अन्धानुकरण न करें वरन् अपनी सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुरूप सर्वथा नया और मौलिक साहित्य दें। आलोचकों और लेखकों, दोनों से मेरा निवेदन है कि वे मार्क्सवाद के विरोध या समर्थन को ही अपनी साहित्य सर्जना का लक्ष्य न मान कर मार्क्सवाद को भी मानव की पृष्ठभूमि समझने का प्रयास करें। जैसा गोर्की ने कहा है कि ''मानव हमारा देवता है। मानव से बड़ा कोई सत्य नहीं !''

जहाँ तक मेरी इस आलोचना का प्रश्न है, मैं यह चाहूँगा कि मुझे गलत न समझा जाय। किसी भी हालत में मैं प्रतिक्रियावाद का समर्थन नहीं कर सकता। यह मेरी कलम के स्वाभिमान के खिलाफ होगा कि वह किसी भी रूप में पूँजीवादियों के सांस्कृतिक मोर्चे पर उपयोग में लाई जाय। मेरी इस आलोचना के पीछे प्रगतिवाद के लिए एक सच्ची स्नेह भावना और ईमानदार सुझाव हैं। मैं चाहता हूँ कि हिन्दी साहित्य वर्तमान गतिरोध, सड़ी हुई गतानुगतिकता से साहसपूर्वक निकलकर उस दिशा में शान से बढ़े जहाँ मानवता की मुक्ति के लिए, मानवता के कल्याण के लिए मंगल-यज्ञ हो रहा है।

प्रगतिवाद के पक्ष और विपक्ष, दोनों की आलोचनाओं में जिस 'तू-तू-मैं-मैं' और 'गाली-गलौज' की भरमार रहती है उसे मैं साहित्यिक दिवालिएपन का लक्षण मानता हूँ। अच्छा हो कि हम लोग तर्क और विवेचना को अपनी आलोचनाओं में अधिक स्थान देने का प्रयास करें। इन निबन्धों में उठाये गये प्रश्नों पर भी अगर गम्भीरता से विचार-विनिमय हुआ तो मेरा विश्वास है कि इस पीढ़ी के लेखकों के मन में उठनेवाली उलझनों का बहुत कुछ समाधान ढूँढ़ा जा सकेगा।

पुस्तक की रूपरेखा और अधिकांश निबन्ध लगभग दस महीने पहले लिखे गये थे, लेकिन मैंने इधर की सूचनाओं के आधार पर मिली हुई चीजें भी उनमें जहाँ-तहाँ जोड़ दी हैं।

आज की संक्रान्ति-कालीन अनिश्चित परिस्थितियों में एक उपयुक्त जीवन-दर्शन और दृढ़ विश्वास के अभाव में भटकनेवाले किसी भी तरुण लेखक को यदि इससे प्रकाश के दो कण भी मिल सके तो मैं अपने श्रम को सफल समझूँगा।

धर्मवीर भारती

गुरुपूर्णिमा
10 जून, 49

रचनावली

R
0-c1
18c.4

विषय-प्रवेश

11349

• • •

व्यापक अर्थों में प्रगतिवाद साहित्य की उस विशेष दिशा को कहेंगे जिसमें चल कर साहित्य मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास में सहयोग देता है; रूढ़ अर्थों में प्रगतिघाद साहित्य की उस दिशा विशेष को कहते हैं, जो मार्क्सवादी जीवन दर्शन के अनुसार साहित्य के लिए निर्देशित की गयी है।

मार्क्सवादी जीवन दर्शन समाज और सभ्यता को सतत् परिवर्तनशील मानता है। उसके अनुसार आर्थिक उत्पादन ही समाज व्यवस्था के ढाँचे के मूल में रहता है। आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत सदा दो वर्ग रहे हैं, जिनमें निरन्तर संघर्ष होता रहा है, एक वर्ग दूसरे वर्ग को पराजित कर अपनी व्यवस्था समाज पर आरोपित करता रहा है और इस प्रकार समाज की प्रगति होती रही है। इस वर्ग-संघर्ष की चरम परिणति पूँजीवादी (बोर्जुआ) और सर्वहारा (प्रोलेतेरियत) वर्ग के संघर्ष में है। चूँकि पूँजीवादी व्यवस्था शोषण और विषमता की नींव पर खड़ी है, अतः वह दिनोदिन खोखली और कमजोर होती जाती है, उसके कदम लड़खड़ाने लगते हैं, और धीरे-धीरे सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी वर्ग से सत्ता छीनकर अपना शासन स्थापित कर लेगा। सांस्कृतिक पक्ष में भी पूँजीवाद का खोखलापन छिपा नहीं रह पाता है, पूँजीवाद मानव सम्बन्धों और मानवीय आदर्शों का मूल्य चन्द चाँदी के सिक्कों पर आँकने लगता है जिसके कारण मानवीय जीवन का सहज सौन्दर्य विकृत और कुरूप हो जाता है। संस्कृति में एक घुटन, एक बँधाव, एक गन्दी सड़ायन्ध आने लगती है जिसके जहरीले प्रभाव से साहित्य भी नहीं बच पाता। 'ऐसी अवस्था में साहित्यिक के सामने एक ही रास्ता बच जाता है : वह पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ़ अपनी आवाज बुलन्द करे, नयी आनेवाली जिन्दगी के कदमों को सहारा दे, सर्वहारा वर्ग के युद्ध के विजय गीत गाये और उस भविष्य को समीप लाने में सहायता दे, जिस भविष्य का स्वामी होगा महान् सर्वहारा वर्ग, जो अभी तक प्रवंचना और शोषण

की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ था। प्रगतिवादी साहित्यिक सर्वहारा वर्ग के युद्ध में कलम का मोर्चा सम्हाले, और अपने हृदय के रक्त से उन अनजान शहीदों के गीत लिखे जिनके लाल जवान खून से कोलतार की सड़कों, या कालकोठरियों के फर्शों पर नयी जिन्दगी का इतिहास लिखा जा रहा है।'

वर्ग संघर्ष आर्थिक ढाँचे की मूल भित्ति है, समाज-व्यवस्था की मूल भित्ति है, शासन सत्ता की मूल भित्ति है, संस्कृति की मूल भित्ति है और इसीलिए साहित्य की भी मूल भित्ति है। प्रत्येक कलाकार अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, कम से कम उस वर्ग का, जिससे सहानुभूति रहती है (सहानुभूति शब्द का विशेष महत्त्व है। सम्भव है एक लेखक आर्थिक रूप से सम्पन्न हो लेकिन उसकी सह+अनुभूति हो प्रोलेतेरियत; या वह निर्धन पर उसकी सह+अनुभूति हो बोर्जुआ।) इसलिए मार्क्सवादी कलाकार का कर्तव्य है कि वह जनता के साथ अपने को रक्खे, जनता की भावनाएँ, उमंगें, कल्पनाएँ और सपने कलाकार की भावनाएँ, उमंगें, कल्पनाएँ और सपने बनें। मार्क्सवाद के अनुसार वही कला महान् होती है जिसमें जनता का महान् आन्दोलन सीना उभारता हुआ नजर आये, जिसमें नयी जिन्दगी अंगड़ाइयाँ ले रही हो, जिस पर नयी मानवता के सपने अपने उजले पंख फैला कर छाँह किये हों। जो कलाकार जनता से अपने को अलग कर लेता है, वह अपनी वैयक्तिक विकृतियों में उलझकर या तो पतनोन्मुख साहित्य का सृजन करता है, या अपने वर्ग-स्वार्थ में अन्धा होकर प्रतिक्रियावादी और पलायनवादी साहित्य का !

इसी सिलसिले में हमें प्रतिक्रियावादी, पलायनवादी और पतनोन्मुख शब्दों के पारिभाषिक अर्थ भी समझ लेना चाहिए। प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति उसे कहते हैं जिसमें कलाकार रूढ़ियों तथा प्राचीनता के प्रति विशेष रूप से आसक्त रहता है और उनके प्रति एक अस्वस्थ मोह के कारण वह किसी भी नये आन्दोलन या नयी चिन्तना को शंका और भय की दृष्टि से देखता है। वह परिवर्तन और प्रगति को सत्य की ओर उठा हुआ एक नया कदम न मान कर, उन्हें ह्रास और विनाश का संकेत मानता है, वह दुनिया को यथावत् बनाये रखना चाहता है और उसकी मार्क्सवादी व्याख्या यह है कि वह न पूँजीवादी व्यवस्था को बदलना चाहता है और न उसके आधार पर कायम होनेवाली विकृत समाज-व्यवस्था को। वह समाज-व्यवस्था से असन्तुष्ट रहता है पर समाज में परिवर्तन चाहनेवालों से इस प्रकार वह सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध लड़ता है और पूँजीवादी वर्ग के कदम मजबूत करता है।

पलायनवादी प्रवृत्ति इससे जरा भिन्न है। जहाँ प्रतिक्रियाबादी प्रवृत्ति का प्रारम्भ होता है नवीन के प्रति विरोध से, वहाँ पलायनवादी प्रवृत्ति का आरम्भ बिन्दु है वर्तमान

रचनावली

के प्रति विरोध। वह वर्तमान समाज-व्यवस्था से असन्तुष्ट रहता है, लेकिन मानवता की इन व्याधियों का समाधान वह आगे आनेवाली सर्वहारा क्रान्ति और उसके बाद स्थापित किये जानेवाले वर्गहीन समाज में न मानकर, वह अपनी कल्पना को और भी प्राचीन युग में ले जाता है और वहीं अपने स्वप्नों का नीड़ खोज निकालता है। उसके स्वर में आरम्भ में तो वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह तो रहता है, किन्तु उसकी परिणति होती है, प्राचीन काल के खुमार भरे रोमानी सपनों में अलसा कर खो जाने में !

पतनोन्मुख प्रवृत्ति इन दोनों से भिन्न है। पतनोन्मुख प्रवृत्ति में भी कलाकार अपनी परिस्थितियों से विद्रोह करता है, किन्तु वह अपनी कला में किसी अन्य सत्य की प्रतिष्ठा को समाधान न मानकर अपने व्यक्ति की रुचि कुरुचि, कृति विकृति और उसकी दमित प्रवृत्तियों के उच्छृंखल प्रदर्शन को ही कला का चरम लक्ष्य मान लेता है। कला के सामने, मानव जाति के सामने आ खड़े होनेवाले महान् सांस्कृतिक संकट का सामना करने और एक नयी, स्वस्थतर और सुन्दरतर दिशा खोज निकालने का कोई प्रयत्न नहीं होता। कला सामाजिक सम्बन्धों को बिल्कुल तोड़ देती है, वह केवल कलाकार, निराश और दमित कलाकार के अस्वस्थ व्यक्तित्व में ही सीमित होकर रह जाती है और कलाकार उसे अपनी उच्छृंखल विकृतियों की मानसिक सन्तुष्टि का साधन बना लेता है। पतनोन्मुख कला का सुख और सन्तोष कुछ-कुछ उस व्यक्ति के सुख और सन्तोष की तरह है, जो खाज में खुजलाता है, यहाँ तक कि खून निकल आता है मगर उसे खुजलाए बिना चैन ही नहीं पड़ता। किसी भी प्रगतिविरोधी साहित्य में ये तीनों प्रवृत्तियाँ विभिन्न अनुपात में पाई जा सकती हैं।

आज से ठीक 101 वर्ष पहले, 1848 में जब महान् दार्शनिक कार्ल मार्क्स ने पहली बार 'कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो' प्रकाशित किया, उस समय यूरोपीय साहित्य से रोमांटिक युग की समाप्ति हो चुकी थी और जिस तरह भक्तिकाल के राधा और कृष्ण के पवित्रतम प्रतीक के आधार पर रीतिकाल के कवियों ने भरपूर मानसिक ऐय्याशी की थी, उसी तरह रोमांटिक काल के व्यक्ति-विद्रोह के आधार पर प्रतिक्रियावादी, पलायनवादी और पतनोन्मुख साहित्य का पोषण हो रहा था। रूसो से आरम्भ होकर जिस महान् रोमांटिक परम्परा का परिपाक शेले और वायरन में हुआ था, जिसने अपने युग को विद्रोह की दीक्षा दी थी, जो अपने समय का सबसे अधिक क्रान्तिमुखी जीवन दर्शन था, उसका स्वर धीरे-धीरे मन्द पड़ रहा था और साहित्य में अपेक्षाकृत विकृत प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे प्रवेश पाती जा रही थीं। मूलतः रोमांटिक आन्दोलन जिसने यान्त्रिकता के विरुद्ध व्यक्ति स्वाधीनता का नारा बुलन्द किया था, वह एक प्रगतिशील और विद्रोह जीवन दर्शन था। स्वयं गोर्की ने अपने एक लेख में रोमांटिसिज्म की

विवेचना करते हुए लिखा था कि ''रोमांटिसिज्म के दो स्वरूप होते हैं—रचनात्मक और पलायनवादी। प्रारम्भिक या रचनात्मक रोमांटिसिज्म तत्कालीन प्रारम्भिक पूँजीवादी यान्त्रिकता के विरुद्ध एक विद्रोह था जिसको जनता का पूर्ण नैतिक समर्थन प्राप्त था।'' (लाइफ एण्ड लिटरेचर) लेकिन आगे चल कर व्यक्ति के महत्त्व की बहुत गलत व्याख्या की गयी और फल यह हुआ कि रोमांटिसिज्म का उत्तराधिकार मिला पतनोन्मुख (डिकैडेण्ट) साहित्य को जिसने कला की सारी व्यापक पृष्ठभूमि ही छीन ली और उसे केवल एक अस्वस्थ व्यक्ति की विकृतियों की पंकिल रेखाओं से आबद्ध कर दिया।

सन् 1848 में ही उन पतनोन्मुख प्रवृत्तियों ने सर उठाना शुरू कर दिया जिनका परिपाक आगे चलकर वर्लें के निराशावाद, गाटियर या फ्लाबर्ट के 'कला कला के लिए' वाले उच्छृंखल व्यक्तिवाद में हुआ। ये पतनोन्मुख प्रवृत्ति उसी समय साहित्य से दृष्टिगोचर होने लगी थी। थियोफाइल गाटियर ने 'कला कला के लिए', सिद्धान्त की स्थापना की जिसका सबसे पहला फल था उसका उपन्यास 'मादम्वायजेल द मापं' जिसमें उसने अप्राकृतिक यौन सम्बन्धों के प्रति विशेष अस्वस्थ आकर्षण दिखलाया था। लेकिन उसी समय साम्यवादी विचारकों का भी एक छोटा सा समूह था जो मानव संस्कृति को इस तरह जकड़ लेनेवाले संकट को गम्भीरता से समझने, उसका विश्लेषण करने और उसका निराकरण ढूँढ़ने का प्रयास कर रहा था। उस समूह में थे लुई ब्लांक, एंजेल्स प्राउढन और कार्ल मार्क्स ! सारे पाश्चात्य जगत् में छोटे-मोटे आन्दोलन पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध उठ खड़े हुए थे। ये सारे आन्दोलन मुख्यतया मध्यम श्रेणी के द्वारा हो रहे थे और सभी का लक्ष्य था साम्यवाद की स्थापना। किन्तु वह साम्यवाद क्या होगा, कैसे कायम किया जा सकेगा, यह किसी के सामने स्पष्ट नहीं था। प्राउढन ने लिखा था, ''इन साम्यवादियों के सामने एक ही बात स्पष्ट थी—सामाजिक क्रान्ति। लेकिन उन्हें न उसका विज्ञान मालूम था, न उसका रास्ता !''

साम्यवाद को एक वैज्ञानिक रूप दिया कार्ल मार्क्स ने ! उसकी निगाह पैगम्बरों की निगाह थी। उसने बड़ी निर्ममता से पूँजीवादी व्यवस्था के खोखलेपन को उघाड़ दिया, उसके रेशे-रेशे बिखेर दिये और कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो में नयी दुनिया का निर्माण करने के लिए प्रोलेटेरियत वर्ग को एक सशक्त आह्वान दिया। उसके आह्वान में नये जीवन का महान् सन्देश था। प्रसिद्ध जर्मन कवि हाइने ने लिखा था—''एक बार फिर क्रान्ति का निर्मम चक्र घूम रहा है। इस बार का विद्रोही अपने सभी पूर्वाधिकारियों से अधिक कठोर है। जहाँ कहीं भी नयी जिन्दगी अँगड़ाइयाँ ले रही है वहाँ इस विद्रोही का आवास है !''

रचनावली

सभी महान् कलाकारों ने मार्क्सवादी आन्दोलन और साम्यवाद का स्वागत किया। उसमें उन्होंने मुक्ति की आशा देखी। पूँजीवाद के फौलादी पंजे में जकड़ी हुई कला ने सोचा कि साम्यवाद में उसे अपने पंख फैलाने की स्वतन्त्रता मिल सकेगी। साम्यवाद में मानव आत्मा का अधिक स्वस्थ विकास हो सकेगा। विशेषतः रूस में जहाँ गोगोल, टाल्स्टाय, चेखव और डास्टावस्की के यथार्थवाद ने मार्क्सवाद के लिए अच्छी पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी, मार्क्सवाद का स्वागत हुआ और गोर्की ने जनता के दुःख दर्द, उसकी लड़ाई और मानवीयता के चरम सत्यों का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण मार्क्सवादी भाषा में किया।

लेकिन जैसा बाबा तुलसी दास बहुत पहले कह गये हैं—'राम ते अधिक राम कर दासा !' मार्क्स के अनुयायियों ने प्रगतिवाद और मार्क्सवाद के व्यापक उद्देश्य की अवेहलना कर साहित्य को अपनी दलगत राजनीति का अस्त्र बना लेना चाहा। मार्क्स का तात्पर्य था पूँजीवादी विकृतियों के प्रति विद्रोह और उसके स्थान पर एक स्वस्थ संस्कृति का निर्माण, मगर मार्क्स से भी सौगुना अधिक मार्क्सवादी, उसके अनुयायियों ने प्रगतिवाद को एक व्यापक जीवनदायी सिद्धान्त नहीं रहने दिया और उसे एक कट्टर कठमुल्लेपन में परिवर्तित कर दिया।

कुछ राजनीतिक तानाशाहों ने कहा कि साहित्यकार को जनता के लिए लिखना चाहिए। जनता का भला उसी नीति में है जो दल या उसके तानाशाह निर्धारित करते हैं। इसलिए कलाकार को राजनीतिक अनुशासन में ही रहना होगा।

जब यह अनुशासन का बन्धन आया तो स्पष्ट है कि महान् कलाकार जो अपनी आँखें बन्द करना और अपना दिमाग गिरवी रख देना अपनी कला का अपमान समझते हैं, आखिरकार प्रगतिवादी आन्दोलन से अलग हो गये। फ्रांस में रोमा रोलाँ और रूस में स्वयं गोर्की को इस राजनीतिक तानाशाही का विरोध करना पड़ा।

लेकिन कुछ मानसिक गुलाम कलाकार तथा कुछ सस्ती यशलिप्सा वाले मध्यम श्रेणी के कलाकार इस आन्दोलन के साथ ही गये, जिनमें न तो इतना आत्मविश्वास था कि वे स्वयं अपना मार्ग ढूँढ़ निकालें, न इतनी निस्पृहता थी कि यश के लोभ में अपनी प्रतिभा को राजनीति के हाथ बेच देने का लोभ संवरण कर सकें।

इसका परिणाम यह हुआ कि मार्क्सवादी (प्रगतिवादी) साहित्यिक विचारधारा में दिनोंदिन संकीर्णता, एकांगिता, खोखलापन और विकृतियाँ आती गयीं और नतीजा यह है कि जिस प्रगतिवादी आन्दोलन में एक दिन यह गोर्की, रोलाँ तक सम्मिलित

थे, जिसको अर्न्स्ट टालर और रैल्फ फाक्स जैसे शहीदों ने अपने खून से सींचा था; आज स्टीफेन स्पेण्डर और आडेन की तो बात दूर मैलराक्स (Malraux) जैसे कट्टर कम्यूनिस्ट भी अपने को उसकी संकीर्णता से सन्तुलित नहीं कर पाते।

इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि अपने को प्रगतिवादी कहनेवाले ये मार्क्सवादी कलाकार स्वयं नवीनतम सत्यों को ग्रहण करने में हिचकिचाते हैं, डरते हैं। सौ वर्ष पुराने मूल्यांकनों और रूढ़ियों से चिपके रहने में ही अपनी बचत समझते हैं। वे यह भूल गये कि कलाकार को तो हर दिन, हर क्षण मानवता के लिए असत्य और अज्ञान, पतन और अन्धकार के विरुद्ध लपलपाते हुए स्वर्णाक्षरों का सम्बल लेकर लड़ना पड़ता है। वह अपनी प्रतिभा के सहारे युग की व्याख्या, युग का विश्लेषण और भविष्य का निर्माण करता चलता है और उसकी चिन्तना किसी भी राजनीतिक तानाशाह से अधिक निस्पृह, उदार, व्यापक और समन्वयात्मक होती है। जीवन के युद्ध में विजेता वह होता है जो रोज युद्ध में जीतता है, जो 100 वर्ष पहले अपने पुरखों द्वारा अर्जित सम्पत्ति के बल पर ही अपने वैभव के डंके पीटता रहता है, वह बहुत जल्दी दिवालिया हो जाता है।

हिन्दोस्तान की कुछ ऐसी बदकिस्मती रही कि यहाँ प्रगतिवाद का प्रवेश तब हुआ जब विदेशों में उसका दिवाला निकल चुका था। विदेशों की इस उतरन को हमने बड़े चाव से दौड़ कर पहना, जब कि हमारे अपने साहित्य में किसी भी प्रगतिवाद से सौ गुना शक्तिशाली प्रवृत्तियाँ पनप रही थीं। निराला और पन्त, प्रसाद और प्रेमचन्द, रवीन्द्र और गांधी उस पतनोन्मुख संकीर्ण प्रगतिवाद से कहीं ज्यादा आगे थे जो भारत में इतने आदर से लाया गया।

लेकिन सबसे बड़ी मजाक यह थी कि शुरू में न प्रगतिवाद के समर्थकों ने ही उसे ठीक समझा था और न उसके आलोचकों ने ही। समर्थकों ने उसी को प्रगतिवादी मानना शुरू किया जो अपने को प्रगतिवादी घोषित कर दे, चाहे वह यौन उच्छृंखलता का साहित्य लिखता हो या भावुक राष्ट्रीयता का। आलोचकों ने जिस पर भी गुस्सा उतारना चाहा उसे ही प्रगतिवादी कहना शुरू किया। हिन्दी में प्रगतिवादी आन्दोलन का सूत्रपात बड़े प्रहसनात्मक ढंग से हुआ। उसके बाद लेखकों को फँसाने का आन्दोलन चला। कुछ बड़ी मछलियाँ भी फँसीं। कुछ अवसरवादी, यश-पिपासु परम बूर्ज्वा लेखक भी इस महान् जनान्दोलन में स्वर मिलाने लगे। एक राजनीतिक दल तो साथ था ही प्रचार करने के लिए। कुछ दिनों तक "परस्परम् प्रशसन्ति अहोरूप महो ध्वनिः !" का सुन्दर हंगामा रहा। लेकिन अब उस तमाशे से साहित्य के गम्भीर साधकों का मन ऊब सा गया है। उसके बाद यहाँ के प्रगतिवाद ने कलाबाजियाँ

रचनावली

खानी शुरू कीं। कभी इस प्रवृत्ति को अपनाया, कभी उसे बहिष्कृत किया, कभी इस लेखक को उठाया, कभी उसे पलायनवादी सिद्ध करने में जुट गये। इसी प्रकार की चीजें चलती रहीं। स्वयं प्रगतिवादियों ने भी सिवा तीखी, अवसरवादी आलोचनाओं और दलबन्दी या गाली-गलौज के, अभी तक गम्भीरता और शान्ति से समस्याओं का विश्लेषण, उदारता, समझधारी और दूरदर्शिता का परिचय नहीं दिया है। परिणाम यह हुआ है कि वे सचमुच ही हिन्दी की महान् साहित्यिक परम्परा में जो कड़ी जोड़ सकते थे, उसके बिल्कुल अयोग्य सिद्ध हुए।

इस विषय में सोवियत लेखकों में हमें बिल्कुल ही दूसरी बात देखने में आती है। उनके यहाँ क्रान्ति के बाद बहुत सी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ पनपीं, मार्क्सवाद के नाम पर सच्चे साहित्य को घोंटकर मार डालने का भी प्रयास किया गया। लेकिन वे इन सभी परिस्थितियों से ऊपर उभरे और आज सचमुच एक स्वस्थ राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण कर रहे हैं। यद्यपि आज का सोवियत प्रगतिवादी साहित्य उतना गहरा तो नहीं जितना टाल्स्टाय या डास्टावस्की या गोर्की का, किन्तु वह स्वस्थ है। बहुत-सी असामाजिक और घातक प्रवृत्तियों का उसने परिहार कर लिया है। यद्यपि अभी भी उनसे हमारा मतभेद हो सकता है लेकिन उन्होंने जो कुछ किया है उसका बहुत बड़ा महत्त्व है। उसकी पृष्ठभूमि में हम यहाँ के प्रगतिवादियों की बहुत-सी दुर्बलताओं को भली भाँति समझ सकते हैं। अतः मैं सब से पहले रूसी साहित्य में प्रगतिवाद पर ही विचार करूँगा।

रचनावली

रूसी साहित्य में प्रगतिवादी धारा

रचनावली

जैसे फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के पहले ही रोमांटिसिज्म का सूत्रपात हो गया था और राज्यक्रान्ति के बाद समस्त पाश्चात्य साहित्य में रोमांटिक धारा ही प्रमुख हो उठी थी, उसी तरह रूसी राज्यक्रान्ति के बाद मार्क्सवादी साहित्य की चिनगारियाँ सारी दुनिया में बिखर गयी हैं। भारत भी इससे अछूता नहीं रहा। भारतीय साहित्य में भी प्रगतिवाद बहुत जोरों के प्रचार के साथ आया। यद्यपि अभी तक उसे छायावाद की तरह व्यापकता नहीं मिल पायी है, और न उसने अभी तक प्रसाद जैसा कोई महान् लेखक दिया है, लेकिन इससे हम इन्कार नहीं कर सकते कि प्रगतिवाद ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। फिर भी अभी तक प्रगतिवादी आलोचक प्रगतिवाद की स्पष्ट विवेचना भारतीय पाठक के आगे नहीं रख पाये हैं। इसीलिए मार्क्सवाद और प्रगतिवाद के बारे में एक विचित्र सा भ्रम हिन्दी पाठकों में है। सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ है कि अपने सिद्धान्तों में बराबर सोवियत रूस का हवाला देकर भारतीय प्रगतिवादी आलोचकों ने रूस के साहित्य के बारे में भी एक विचित्र सा भ्रम फैला कर रूस को एक गलत और भ्रमपूर्ण स्थिति में रख दिया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि रूढ़िवादियों और प्रतिक्रियावादियों को रूसी साहित्य के विरुद्ध एक गलत तरीके का प्रचार करने का अवसर मिल गया है।

आवश्यकता इस समय इस बात की है कि हम निष्पक्ष रूप से यह समझने का प्रयास करें कि रूस की नवीन चेतना ने साहित्य में क्या जनवादी प्रयोग किये हैं और किस प्रकार इन प्रयोगों के सहारे रूस ने अपनी नवीन जन-संस्कृति के निर्माण में सहायता पहुँचाई है। रूस ने किस तरह बदलती हुई परिस्थितियों में बराबर अपनी राष्ट्रीय संस्कृति और अपनी प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा और अपने नवयुग के स्वप्नों के बीच में सन्तुलन लाने का प्रयास किया है, इसका जितना अच्छा चित्र हमें साहित्य में मिल सकता है उतना अन्य किसी चीज में नहीं। निष्पक्ष रूप से, पूँजीवादी अमेरिका और साम्राज्यवादी ब्रिटेन के प्रचार से अलग रहकर, हमें रूसी साहित्य के इतिहास

रचनावली

से शिक्षा लेकर अपनी नयी संस्कृति के लिए समुचित रूप रेखा तैयार करनी चाहिए। रूसी साहित्य के ही समुचित अध्ययन से हम भारतीय प्रगतिवादियों की संकीर्णता और रूसी लेखकों की मानसिक उदारता और विशालता का अन्तर समझ सकेंगे।

सोवियत साहित्य, सोवियत संस्कृति का ही एक अंग है, उससे अलग कोई चीज नहीं ! सोवियत संस्कृति के निर्माण में दो धागे गुँथे हुए हैं। एक तो वह आधार भूमि, वह जारशाही रूस जिसने क्रान्ति की, और एक वह चेतना जो क्रान्ति में और क्रान्ति के बाद आयी। सोवियत साहित्य के विकास को ठीक से समझने के लिए हमें पहले उस मनोभूमि और उन साहित्यिक धाराओं की ओर ध्यान देना होगा जो कि क्रान्ति के पहले रूस में प्रचलित थीं। उसके बाद क्रान्ति हुई और किस प्रकार क्रान्ति के बाद क्रान्तिकारी वर्ग, सर्वहारा वर्ग ने साहित्य को नया रूप देने की कोशिश की, साहित्य में विभिन्न जनवादी प्रयोग करने का प्रयास किया, यह भी सावधानी से समझना होगा। सुविधा के लिए हम रूस के आधुनिक साहित्य को पाँच कालों में विभाजित करना चाहेंगे।

1. क्रान्ति तक (1900-18)

सबसे पहले पूर्व-क्रान्ति से क्रान्ति तक का काल आता है। इस काल में लेखकों में सर्वहारा साहित्य की चेतना बहुत कम थी। उस समय लेखक अधिकतर व्यक्तिवादी थे और उन पर फ्रांसीसी साहित्य का विशेष प्रभाव था। 19 वीं शती के अन्त में ही समस्त यूरोपीय साहित्य में जो पतनोन्मुखी (डिकैडैन्ट) प्रवृत्तियाँ आ गयी थीं उनका पूरा प्रभाव रूसी साहित्य पर था।

उस समय बालमाण्ट, ब्रुसाव और सोलोगव मुख्य कवि थे और जैसा यारमोलिन्स्की ने अपने आधुनिक रूसी-काव्य-संग्रह में लिखा है, "ये लोग विदेशी आदर्शों से पूर्णतया अनुप्राणित थे और कई एक तो स्पष्ट कहते थे कि आधुनिक कविता केवल बासी फ्रांसीसी शोरबा है जो रूसी चूल्हे पर गरम कर लिया गया है।" उसी फ्रांसीसी पतनोन्मुखता का स्पष्ट प्रभाव इस समय की इस कविता में भी मिलता है जिसे आलोचकों ने प्रतीकवादी कविता का नाम दिया है। समाज-विरोधी भावनाएँ, स्थापित नैतिकता के विरुद्ध विद्रोह, गुनाहों से खेलने की प्रबल प्यास और सेक्स की तृष्णा, यह इनकी कविता के मुख्य विषय थे। लेकिन फिर भी इस प्रतीकवादी कविता में हर लेखक की अपनी अलग शैली थी, अपनी अलग धारा थी। इनकी कविताओं में उस समय तक सौन्दर्यानुभूति ही मुख्य सूत्र था। लेकिन ये उस समय की प्रगतिवादी और उन्नतिशील प्रवृत्तियों से अलग हो गये थे और उनमें से हरेक एक निराश पैगम्बर था। उनका निराशावाद और व्यक्तिवाद किस सीमा तक पतनोन्मुख हो चुका था इसका बहुत विचित्र उदाहरण प्रसिद्ध प्रतीकवादी कवि अलैक्जेण्डर डोब्रुलुबव के जीवन से मिलता है। वह भी फ्रांसीसी डिकैडैण्ट स्कूल से

रचनावली

प्रभावित था और वास्तविक जीवन से दूर बोदलेयर के द्वारा बताये हुए कृत्रिम स्वर्ग (Paradis artificiels) में रहने में विश्वास करता था। उसने ताबूत की शक्ल का एक कमरा बनवा रक्खा था। उसकी दीवारों पर काला कागज मढ़ा हुआ था, उसकी खिड़कियों पर काले शीशे और दरवाजों पर काले पर्दे पड़े हुए थे। वह स्वयं काले कपड़े पहनता था। उसके दस्ताने तक काले थे। वह अफीम खाता था और चंडू पीता था और अपने शिष्यों को आत्महत्या करने का उपदेश देता था।

1905 के लगभग रूस में जो क्रान्ति हुई उससे रूसी साहित्य के धरातल में भी कुछ हलचल पैदा हुई। निराशा के स्वरों में थोड़ी कमी हुई। तरुण प्रतीकवादियों के एक दल ने अपने पूर्वजों की सौन्दर्यमयी, रहस्यात्मक और व्यक्तिवादी शैली तो अपना ली, लेकिन बजाय पतनोन्मुखता के उन्होंने धार्मिक रहस्यवाद अपनाया। इनमें से आइवानव, बेली, ब्लाक और वोलोशिन प्रमुख थे। उनकी कविता में एक आवेशमयी दार्शनिकता मिलती है जो अन्त में एक धार्मिक विश्वास में परिणत होती है। इस काव्यधारा पर डास्टावस्की का बहुत प्रभाव मिलता है। आइवानव में धार्मिकता के साथ-साथ एक रहस्यमय समष्टिवादी भावना भी मिलती है। केवल व्यक्ति में ही आइवानव की कविता सीमित नहीं है। ब्लाक जिसे उस युग का महानृतम कवि माना गया है, उनकी कविता (न्यू अमेरिका) में नवयुग के स्वर भी कहीं-कहीं सुन पड़ते हैं। उसने एक जगह अपनी कल्पना को सम्बोधित करते हुए लिखा भी है–"तुम्हारे रहस्यमय स्वरों पर विध्वंस की कराहों की छाप है !"

उसी समय सेण्ट पीटर्सबर्ग (वर्तमान लेनिनग्राड) के कवियों में एक नयी विचारधारा का प्रादुर्भाव हो रहा था। वे लोग प्रतीकवादियों की रहस्यमयी शैली का विरोध करते थे। उनके विचार से कविता सरल और स्पष्ट शैली में होना चाहिए, उसमें उलझन और गूढ़ता न होकर ठोस अभिधा होनी चाहिए और अनुभूति को स्पष्ट चित्रों (Images) के सहारे अभिव्यक्त करना चाहिए। इस धारा को एकेमिस्ट धारा कहते थे और गुमिलव इसका प्रवर्तक था। बाद में इसी में से इमेजिस्ट या इमेजिनिस्ट शाखा का विकास हुआ। इस धारा का मुख्य कवि येसेनिन था। इन लोगों के अनुसार अनुभूतियों को स्वतन्त्र और प्रभावपूर्ण शब्द-चित्रों में चित्रित कर देना ही कविता का अन्तिम लक्ष्य है।

लेकिन इस युग में सबसे महत्त्वपूर्ण आन्दोलन था फ़्यूचरिस्ट आन्दोलन ! श्लेब्निकब और मायकावस्की ने इस आन्दोलन की नींव डाली थी। अपने प्रारम्भिक काल में यह आन्दोलन समाजवादी आन्दोलन न होकर काव्य के क्षेत्र में एक सर्वथा शैलीगत आन्दोलन था। मायकावस्की एक बड़े ही सशक्त व्यक्तित्व का कलाकार था और वह प्रतीकवाद की परम्परा को सर्वथा छिन्न-भिन्न कर देना चाहता था। प्रतीकवाद की अपार्थिव सूक्ष्मता, काल्पनिकता और सांकेतिकता को हटाकर एक मांसल यथार्थ का समावेश कविता में करना चाहता था। वह मशीन युग का प्रतिनिधि

था और अपनी भावना और शैली दोनों ही में वह एक फौलादी कठोरता लाना चाहता था। अपने विचारों में मायकावस्की समाजवादी था, गरम समाजवादी; उसकी शैली में बन्दूक से छूटी हुई गोली की सी तेजी थी और उसके स्वरों में फौलादी यन्त्रों की खड़खड़ाहट। उसकी उपमाओं में नवीन यान्त्रिक युग की छाया थी। वह लिखता है–"एक निर्लज़्ज लालटेन सड़क की टाँगों से ऊन के नीले मोजे खींच लेती है!" जिस प्रकार की उपमाओं और कल्पनाओं के लिए टी. एस. ईलियट इतना मशहूर है, उस तरह की उपमाओं में मायकावस्की बीसियों गुना बढ़ा-चढ़ा है।

सन् 1912 में मायकावस्की के हस्ताक्षरों सहित फ्यूचरिज्म का जो घोषणापत्र निकला था वह बहुत महत्त्वपूर्ण है और उससे स्पष्ट है कि फ्यूचरिज्म कविता की पुरानी भाषा और पुरानी शैली के विरुद्ध नवीन भाषा और नवीन शैली का विद्रोह है। वह घोषणापत्र इस प्रकार था–

"जनरुचि के मुँह पर करारा तमाचा

पाठकों के लिए हमारी प्रथम और अप्रत्याशित घोषणा

हमी अकेले अपने समय के अग्रदूत हैं, साहित्य में अपने युग के सच्चे प्रतिनिधि हैं।

अतीत की परम्पराएँ हमारा दम घोंट देती हैं। एकेडेमी और पुश्किन ऐसे शिलालेख हैं जो अब हमारे समझ में नहीं आते, जिनके अक्षर अब हम भूल गये हैं। अब टाल्स्टाय, पुश्किन, डास्टावस्की को समय की नौका से उठाकर लहरों में फेंक देना चाहिए।

जो अपने पहले प्रेमास्पदों को नहीं भूलता, वह नये प्रेमास्पदों को पूरा प्रेम नहीं दे पाता।

ये जितने मैक्सिम गोर्की, कुप्रिन, ब्लाक, सोलोगव, कुजमिन, बुनिन हैं, इन सबको अगर गाँव में एक झोपड़ी दे दी जाय तो ये सन्तुष्ट हो जायेंगे। दर्जियों की किस्मत में यही लिखा होता है। हम अपनी गगनचुम्बी अट्टालिकाओं के शिखर से जब इन बौनों को देखते हैं तब इनकी क्षुद्रता हमें मालूम होती है।

हम विश्वास करते हैं कि कवि को पूरा अधिकार है कि–

वह देशज और तद्भव शब्दों से कविता का शब्दकोश और बढ़ाता रहे।

अपने से पहली पीढ़ी की शैली से वह पूरे हृदय से घृणा कर सके।

आपके दिये हुए यश के मुकुट पर वह थूक सके।

गालियों और विरोध के समुद्र में भी वह अहम् शब्द के द्वीप पर खड़ा हो सके।

अगर अब भी हमारी पंक्तियों में आपकी सुरुचि और आपकी पसन्दगी का कीचड़ झलकता है तो भी एक नयी उगती हुई दुनिया के सौन्दर्य की बिजली उन पर जगमगा रही है।"

इस घोषणापत्र से स्पष्ट है कि यद्यपि इसमें अभी सर्वहारा क्रान्ति और

रचनावली

समाजवादी आदर्श का समावेश नहीं हो पाया था फिर भी भविष्यवाद पुरानी शैली का, पुराने साहित्य का बहुत तीखा विरोधी था। वह एक सिरे से सभी 'प्राचीन' का विरोधी था चाहे वह समाजवादी गोर्की हो, या प्रतीकवादी ब्लाक, या अध्यात्मवादी टाल्स्टाय या रोमांटिक पुश्किन ! इस प्रकार की समन्वयहीन, सन्तुलनहीन, पागलपन से भरी हुई विद्रोही प्रवृत्ति एक अस्वस्थ मनोवृत्ति की परिचायक अवश्य थी, लेकिन इससे यह स्पष्ट हो गया था कि रूसी साहित्य निकट भविष्य में इतना आकस्मिक मोड़ लेने जा रहा है कि उसे अपनी पुरानी पगडण्डियाँ याद रख पाना असम्भव होगा।

2. संक्रान्तिकाल (1922)

उसके बाद जमी जमाई हुई व्यवस्था को चूर-चूर करते हुए, युगों की मान्यताओं को तिनके की तरह उखाड़ते हुए और इतिहास के पत्रों पर लिखे हुए अक्षरों को खून से मिटाते हुए रूस की महान् सोवियत क्रान्ति आयी। क्रान्ति के पहले विस्फोट ने ही जारशाही सभ्यता के तार-तार उड़ा दिये। खून की नदियों से, संगीनों की कलमों से मानवता के इतिहास का नया अध्याय लिखा जा रहा था।

"Silent muse Inter arma" जब बन्दूकें गरजती हैं तो कला खामोश हो जाती है। युद्ध ने कला की प्रगति को पहले ही से धीमा कर दिया था, क्रान्ति ने उस पर चादर उढ़ा दी। पत्र बन्द हो गये, होटलों में बन्दूकों से युद्ध होने लगा, नदियाँ खून से लाल हो गयीं, फूल खून से तर हो गये, आसमान लाल तारों से गूँज उठा, सितारों से हँसिये हथौड़े के झण्डे टकराने लगे–इतनी भयंकर उथल-पुथल आयी जिसने एक बार काव्य-चेतना को मूर्च्छित कर दिया।

धीरे-धीरे प्रलय शान्त हुई, बादल छँट गये क्षितिज साफ हुआ, सूरज मुस्कराने लगा, आँख खुली तो दुनिया बदल गयी थी। सभी कुछ बदल चुका था। साहित्य के मन्दिर के पुराने देवताओं को किसी ने तोड़ दिया था और नये देवताओं ने उनके सिंहासनों पर कब्जा कर लिया था, केवल शासन नहीं बदला था, युग का स्वर बदल गया था। जनता की संस्कृति बदल गयी थी।

रूसी कलाकार स्तब्ध था। सबसे पहले ब्लाक ने आवाज उठायी। उसने क्रान्ति का स्वागत किया। एक रात्रि में, नीरवता में जाते हुए 12 लाल सैनिकों पर उसने एक गीत लिखा–"वे बारह"। उसमें उसने लिखा कि ये 12 लाल सैनिक शायद ईसा के 12 शिष्य हैं और शायद श्वेत गुलाबों के कोहरे में छिपा हुआ मसीहा इनको रास्ता दिखा रहा है। हम देख चुके हैं कि प्रतीकवाद में धार्मिक रहस्यवाद का एक गहरा पुट था और इस लाल क्रान्ति का स्वागत भी उन्होंने धार्मिक या आध्यात्मिक स्तर से किया, कम्यूनिस्टों के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त पर उन्हें शायद विश्वास नहीं था।

ब्लाक के बाद तो इन लाल सैनिकों को मसीहा मानने का आग्रह रूसी कविता में बहुत बढ़ गया। 1918 में आन्द्रे बीली ने–"मसीहा फिर उठा है !" शीर्षक गीत

में यही भावना व्यक्त की है। मैक्सिमिलियन बोलोशिन ने इस क्रान्ति को एक राष्ट्रीय क्रान्ति बताया और उसका स्वागत किया। एकेमिस्ट धारा का प्रवर्तक गुमिलव अवश्य क्रान्ति से सन्तुलन नहीं कर पाया और 1922 में वह सोवियत विरोधी षड्यन्त्र करते हुए पकड़ा गया और उसे प्राणदण्ड दे दिया गया। लेकिन इमेजिस्ट कवि मेसेनिन ने अवश्य क्रान्ति का स्वाग़त किया। वह समझता था कि क्रान्ति इस मशीन सभ्यता को मिटा कर फिर ग्राम संस्कृति लावेगी और कविता में सौन्दर्य, प्रेम और सुकुमार अनुभूतियों की प्रतिष्ठा होगी।

उस समय प्रकाशन गृह बन्द थे। चायघरों और होटलों में लेखक और कवि मिलते थे और अपनी कविता पढ़ते थे। सभी में एक नया उत्साह था, सभी क्रान्ति की व्याख्या अपने ढंग से कर रहे थे और सभी की कला में एक नयी जान आ रही थी। एक कवि ने तो यहाँ तक लिखा था–"हम धरती को उलट रहे हैं, और उसके बाद हम सितारों की दुनिया में गदर करेंगे !" लेकिन कितने सितारों की किस्मत में टूटना बदा था यह अभी भविष्य के पर्दे में छिपा था।

किन्तु इस संक्रान्तिकाल में मायकावस्की ने अपने को बहुत चमका लिया। इसके कई कारण थे। मायकावस्की में प्राचीन गूढ़ शैली के खिलाफ एक विद्रोह था और वह जनता की भाषा में लिखता था। 1912 में L. E. F. की ओर से निकाले गये घोषणापत्र में उसने स्पष्ट लिखा था कि वह बोलचाल की भाषा में और कविता की भाषा में कोई अन्तर नहीं समझता। उसकी जनप्रियता का सबसे पहला कारण था उसकी भाषाएँ और उपमा जो न केवल बोलचाल की वरन् कभी-कभी तो बिलकुल ही बाजारू होती थीं–

मेरे फेनयुक्त मुँह से
कै की तरह उगला हुआ हर शब्द
नंगी वेश्याओं की तरह नाच उठता है ! (पाजामापोश बादल)

यह भाषा चाहे मानव जीवन के गम्भीर सत्यों के निरूपण के लिए उपयुक्त भाषा न हो, लेकिन इसमें वह गाली गलौज थी जो उस अराजकता के समय में काफी प्रचलित थी। युद्ध के समय में जनता गरम जोशीले नारे ज्यादा पसन्द करती है, सन्तुलित, गम्भीर और तर्कयुक्त सत्य नहीं। मायकावस्की में वह नारेबाजी काफी मात्रा में थी।

दूसरी बात उसकी जनप्रियता की यह थी कि उसने सर्वथा सामयिक तथ्यों पर कविता लिखी। उस वक्त जनता अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति में लगी हुई थी और मायकावस्की ने इन्हीं चीजों को अपनी कविता का विषय चुना–सोवियत पासपोर्ट, कम्यूनिस्ट सम्मेलन, बढ़ते हुए रेलभाड़े आदि। उसकी कविता बड़ी उत्कृष्ट ढंग की पत्रकारिता थी और इसीलिए वह इतना ही जनप्रिय हो गया जितना कि युद्ध के दिनों में अखबार जनप्रिय हो जाते हैं। स्वयं उसने अपनी

रचनावली

जीवनी में लिखा है, "मुझे दिनोदिन महसूस हो रहा है कि मैं अपनी कला में पत्रकार अधिक होता जा रहा हूँ।" लेनिन स्वयं उसके काव्यात्मक महत्त्व को स्वीकार नहीं करता था। 6 मार्च सन् 1922 को इजवेस्तिया में प्रकाशित उसकी एक कविता के विषय में लेनिन ने लिखा था–"जहाँ तक उसकी राजनीति का प्रश्न है वह सर्वथा सही है, हाँ काव्यात्मक उत्कृष्टता के विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता !" मायकावस्की में एक युद्धप्रियता थी। एक सामयिकता थी, एक तीखी, भावनात्मक और व्यंगमयी शैली थी। सहज और सरल भाषा थी, चुटीली अभिव्यंजना थी और अनुभूति का एक छिछलापन था जिसने उसे इतना जनप्रिय बना दिया था।

11 वर्ष पहले फ्यूचरिस्ट घोषणापत्र का शीर्षक उसने लिखा था–'जनरुचि के मुँह पर करारा तमाचा' लेकिन अब वह सर्वथा जनरुचि का कवि था और उसमें कहीं पर भी उदार दृष्टिकोण और विचारों और आकलनों की ऊँचाई नहीं थी। वह कलाकार न रह कर एक मशीन बन गया था जिसका चक्का सरकार के हाथ में था। उसने स्वयं 'होमवाइर्स' नामक कविता में लिखा है–

"मैं अनुभव करता हूँ
कि मैं आनन्द बनानेवाला
एक सोवियत कारखाना हूँ।"

मायकावस्की कविता को एक यान्त्रिक साँचे में ढालने के पक्ष में था। वह कविता को कवि की वैयक्तिक अनुभूति न मानकर एक सामूहिक उत्पादन मानता था जिसका नियन्त्रण सर्वथा राज के हाथ में हो।

3. पुनर्निर्माण काल (22-28)

लेकिन उस समय तक संक्रान्तिकाल समाप्त हो चुका था। पुनर्निर्माण या लेनिन की नव-आर्थिक-नीति (N. E. P.) का युग था। उथल-पुथल शान्त हो चुकी थी। हत्या और रक्तपात, प्रलय और क्रान्ति ने जो कुछ तोड़-फोड़ दिया था, उसके खण्डहरों पर पत्थर पर पत्थर जमा कर फिर नयी मीनार उठाने का प्रयास किया जा रहा था। निर्माण की एक नवीन चेतना ने संस्कृति को फिर सजीव और सक्रिय कर दिया था। अराजकता खत्म होकर एक व्यवस्थित जीवन का प्रारम्भ हो रहा था। राष्ट्र की बागडोर उस समय भी लेनिन के हाथ में थी और इसीलिए संकीर्णता नहीं आ पायी थी। नव-निर्माण के प्रयोग सोवियत संस्कृति में हो रहे थे और साहित्य भी इन प्रयोगों से अछूता नहीं था।

साहित्य में उस समय कई विचारधाराएँ और कई साहित्यिक समूहों का आविर्भाव हुआ। इन साहित्यिक दलों में सबसे प्रमुख था–प्रोलेट्कल्ट (सर्वहारा-पन्थ) जो साहित्य को वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त में सीमित कर देना चाहता था और राजनीति की तरह ही साहित्य में भी सर्वहारा चेतना का शासन चाहता था। 1917 में जब

बोल्शेविकों की विजय हो गयी उसी समय उन्होंने बोर्जुआ संस्कृति को नष्ट कर कम्यूनिस्ट संस्कृति की स्थापना करनी चाही। उनका विश्वास था कि जैसे उनकी शक्ति ने शासन में क्रान्ति कर दी है वैसे ही प्रोलेटेरियट लेखकों की कल्पना साहित्य में क्रान्ति कर देगी। उनका विश्वास था कि जैसे युद्ध-क्षेत्र में प्रोलेटेरियट वर्ग बोर्जुआ वर्ग से लड़ा है और लड़कर उसने उनकी सत्ता को उखाड़ फेंका है उसी तरह साहित्य क्षेत्र में भी सभी पूँजीवादी तत्त्वों को चुनकर निकाल फेंकमा होगा और शायद उनका विश्वास था कि साहित्य और कला के क्षेत्र में बोर्जुआ तत्त्वों से लड़ने का भी तरीका वही भय, आतंक, आक्रमण और रक्तपात का तरीका होगा।

10 सितम्बर सन् 1918 को अखिल रूसी प्रोलेटेरियट संस्कृति और शिक्षा संस्थाओं के सम्मेलन में ए. बोग्दैनोंव का एक प्रस्ताव रक्खा गया जिसमें उसने बताया कि–"वर्गवादी समाज में समष्टिवादी और वर्गवादी तत्त्वों को संगठित करने और उन्हें युद्ध के लिए तैयार करने में कला सबसे बड़ा हथियार है।" इसी प्रस्ताव के आधार पर 1920 में प्रोलेट्कल्ट की स्थापना हुई, जिसका मुख्य उद्देश्य था वर्गवादी संस्कृति (जो वर्ग-संघर्ष में विश्वास करती हो) का प्रचार !

लेकिन लेनिन यथार्थ द्रष्टा था। वह साहित्य के सच्चे मूल्य से अवगत था, वह वर्ग-संघर्ष की संकीर्णता को कभी अपने निर्माण कार्य में बाधा नहीं पहुँचाने देता था। वह जानता था कि साहित्यिक क्षेत्र में कलाकार की वैज्ञानिक स्वतन्त्रता सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण होती है। उसके ऊपर कोई भी सिद्धान्त लादना ठीक नहीं होता। वह रूस के नव-निर्माण काल में साहित्य को पुनर्जीवित करना चाहता था अतः उसने साहित्य पर किसी प्रकार की भी तानाशाही करने का विरोध किया। उसी की प्रेरणा से 1924 के वसन्त के सम्मेलन में कम्यूनिस्ट पार्टी की सेण्ट्रल कमेटी ने साहित्य के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया जिसमें कहा गया–"पार्टी को संक्रान्ति में से गुजरते हुए साहित्यिक आदर्शों के प्रति उदारता और सहनशीलता का दृष्टिकोण रखना चाहिए। साहित्यिक विद्वानों और प्राचीन सांस्कृतिक वैभव के प्रति एक प्रकार की अरुचिपूर्ण और बुद्धिहीन प्रवृत्ति लोगों में जाग गयी है, उसके खिलाफ पार्टी को जंग करना चाहिए। कम्यूनिस्ट आलोचना में तानाशाही का स्वर नहीं आना चाहिए। प्रोलेटेरियट वर्ग के साथ जो साहित्यिक दल चल रहे हैं, या चलना चाहें उनके प्रति पार्टी को बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण, सहानुभूतिपूर्ण और उदार दृष्टिकोण रखना चाहिए।"

इस प्रस्ताव के अनुसार कम्यूनिस्ट लेखकों के अलावा अन्य लेखकों को सहयात्री (Populitchiki) कहा जाने लगा और उन्हें भी रूसी पत्रिकाओं में पूरे आदर का स्थान दिया जाने लगा। इन सहयात्रियों में, उन लेखकों में जो कम्यूनिस्ट नहीं थे और वर्ग-संघर्ष में विश्वास नहीं करते थे, दो दल मुख्य थे, ओप्यज और सेरेपियन ब्रादर्स।

इनमें से सेरेपियन बन्धु का दल बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, विशेषतया इसलिए

रचनावली

उनके पीछे तत्कालीन महानूतम लेखक गोर्की का हाथ था। यद्यपि गोर्की स्वयं जीवन भर मजदूरों के लिए लड़ा था, लेकिन वह अच्छी तरह जानता था कि साहित्य का अपना स्वाभिमान होता है और कोई भी वर्ग उस पर शासन नहीं कर सकता। वह लेखक की स्वतन्त्रता का हामी था और वह चाहता था कि हरेक लेखक अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करें। इस दल ने अपनी स्थापना का वर्णन करते हुए लिखा है–"1921 के फरवरी मास में, एक ऐसे जमाने में जो कड़े कानूनों और फौजी अनुशासनों का जमाना है, जब सभी चीजों को एक ही गज से नापने की कोशिश की जा रही है, ऐसे जमाने में हमने एक संघ बनाने का निश्चय किया है, जिसमें न कोई कानून होंगे न कोई तानाशाह, न चुनाव होगा न वोट !

"चूँकि यह क्रान्ति और राजनीतिक अव्यवस्था के दिन हैं अतः हरेक का यही नारा है कि जो हमारे साथ नहीं है वह हमारे खिलाफ है। अतः हर तरफ हमसे यही पूछा गया कि हम किसकी तरफ हैं ? कम्यूनिज्म या पूँजीवाद, क्रान्ति या प्रतिक्रिया ? हम सेरेपियन बन्धु किसकी तरफ हैं ? हम सन्त सेरेपियन की तरफ हैं !"

यह सन्त सेरेपियन हाफमैन के एक उपन्यास का नायक था जो व्यक्तिगत प्रेरणा और कला तथा संस्कृति के क्षेत्र में स्वतन्त्रता का हामी था। अगस्त सन् 1922 में उन्होंने अपना घोषणापत्र प्रकाशित किया–

"हम कोई दल नहीं हैं, किसी निर्धारित दिशा के अनुयायी नहीं हैं, न हाफ़मैन के शिष्य हैं।

"हम अपने को सेरेपियन बन्धु इसलिए कहते हैं क्योंकि हम यह नहीं चाहते कि कलाकार को किसी तरह विवश किया जाय। हम वैयक्तिक विशेषताओं के हामी हैं और यह भी जानते हैं कि अगर सभी लेखकों की कला एक-सी रहेगी तो उसका सारा जादू खत्म हो जायगा।

"सेरेपियन बन्धु न कोई दल हैं, न कोई वर्ग। हम लोग एक दूसरे से सदा मतभेद प्रकट करते रहते हैं, इसीलिए हम अपने को सेरेपियन बन्धु कहते हैं।

"हम केवल यह चाहते हैं कि कलाकृति सजीव और अनुभूति पर आधारित होनी चाहिए और उसमें वह सजीवता रहनी चाहिए जो महान् कलाकृतियों की विशेषता होती है।"

सेरेपियन बन्धुओं के द्वारा प्रचारित की जानेवाली इस कलाकार की स्वाधीनता का ही परिणाम था कि इस काल में (22-29) रूसी कथा साहित्य का पुनर्भव हुआ और साहित्य की उन्नति हुई। प्रमुख सेरेपियन जमैटिन जो लेखन-कला का आचार्य था, उसने कलाकृति के बाह्य रूप को भी खूब अच्छी तरह सँवारने की सलाह दी और स्वयं बहुत ही कलात्मक कहानियाँ लिखीं। आइवानोव, कावेरिन, टिरवानोव, फेडिन आदि सभी उसी के शिष्य थे। जोशेन्को और रोमानोव ने हास्यमय उपन्यास लिखे; ल्योनोव, फेडिन, ओलेशा और कावेरिन ने मनोवैज्ञानिक रोमांटिक उपन्यास

लिखे; शोलोखव ने टाल्स्टाय की परम्परा के महाकाव्य की तरह बड़े-बड़े उपन्यास (Epic novels) लिखे।

लेकिन ओप्यज (Opyaz) एक सर्वथा विभिन्न मतवाद था। वह साहित्य की भाषा और शैली को एक सर्वथा नवीन ढंग से संगठित करना चाहता था। उसके सामने विषय या कवि के व्यक्तित्व का कोई महत्त्व नहीं था। 1923 में अपने घोषणापत्र में ओप्यज ने कहा—"ओप्यज (काव्य-भाषा के अध्ययन का विद्यापीठ) का विश्वास है कि कवि होते हैं न लेखक ! केवल कविता और साहित्य का अस्तित्व ही सत्य है। कवि केवल एक चतुर कारीगर होता है और कुछ नहीं। लेकिन भाषा का बादशाह बनने के लिए यह बहुत आवश्यक है कवि उन लोगों की आवश्यकताओं को समझे जिनके लिए वह कविता लिखने जा रहा है, और जहाँ तक हो सके उनके जीवन में भाग ले, अन्यथा रचना में कभी भी शक्ति न आयेगी।

"कविता का अध्ययन करना मुख्यतया इस साहित्यिक 'रीति' का अध्ययन करना है। कविता का इतिहास उन साधनों का इतिहास है जिनके सहारे कवियों ने अपनी भाषा और शैली का शृंगार किया है।"

समाजवादी रूस में, वर्ग-संघर्ष में विश्वास करनेवाले लोगों में इस प्रकार का शुद्ध शैली पर आधारित साहित्यिक मत देखकर आश्चर्य होता है। 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त को समाजवादियों ने हमेशा एक पतनोन्मुख सिद्धान्त माना और शैली को कभी ज्यादा महत्त्व नहीं दिया, लेकिन ओप्यज ने कविता की भाषा और शैली को ही सब से प्रमुख माना। 'हिन्दी के रीतिकाल' का विरोध जिस आधार पर किया जाता है यही बात ओप्यज में थी।

लेकिन उसका आधार तत्कालीन परिस्थितियों में था। रीतिकाल में आचार्यों ने कविता के विषय, भावनाएँ, भाव, विभाव, रस, नायक-नायिका, ऋतुएँ सभी कुछ निर्धारित कर दी थीं, कवि निर्धारित विषयों पर ही लिख सकता था अतः उसके सामने प्रयोग के लिए केवल एक ही क्षेत्र रह गया था, भाषा और शैली का क्षेत्र। इस समय रूस में भी कम्यूनिस्ट पार्टी के संकीर्ण पक्ष का आग्रह था कि कवि केवल प्रोलेटेरियट विषयों पर लिखे अतः ओप्यज अपने नवीन प्रयोगों के लिए केवल भाषा का क्षेत्र ढूँढ़ सकता। भाषा के सम्बन्ध में भी कम्यूनिस्ट पार्टी की सेण्ट्रल कमेटी ने 1925 के वसन्तवाले प्रस्ताव में कहा भी था—"कविता की एक ऐसी शैली ढूँढ़ निकालनी चाहिए जो करोड़ों जनता के समझ में आ सके !" इसी उद्देश्य से ओप्यज ने कहा था कि कवि को अपने पाठक के जीवन में भी भाग लेना चाहिए और उन्हीं के योग्य भाषा लिखनी चाहिए।

लेकिन कविता की नयी शैली का प्रयोग पहले भी मायकावस्की अपनी भविष्यवादी कविता में कर चुका था। वे प्रयोग अब भी जारी थे। उसके दल को अब लोग L. E. F. या नवीन वाम पक्ष कहकर पुकारते थे। उसी के भविष्यवाद की एक

रचनावली

शाखा (Constructivism) कंस्ट्रक्टिविज्म थी जिसका प्रमुख कवि रोबिन्स्की था।

ये सभी प्रयोग स्वतन्त्रता से साथ-साथ चल रहे थे। कम्यूनिस्ट लेखक और सहयात्री (Fellow Travellers) दोनों ही का सम्मान था और लेनिन की अध्यक्षता में पार्टी और शासक दोनों ही के विचार बहुत उदार और स्वातन्त्र्यपूर्ण थे। फिर से रूसी साहित्य में एक पुनर्जागरण आरम्भ हो गया था।

लेकिन उस समय भी ऐसे विचार की कमी नहीं थी जो वर्ग-संघर्ष की संकीर्णता के जाल में साहित्य को पूरी तरह फँसा लेना चाहते थे। प्रोलेट्कल्ट का उल्लेख पहले हो चुका है। किस तरह वे केवल प्रोलेटेरियट वर्ग के साहित्यिकों को ही बढ़ावा देना चाहते थे और जो लेखक कम्यूनिस्ट नहीं थे उन्हें गिराना चाहते थे यह भी पहले बताया जा चुका है। पी. कोगन इस प्रकार के विचारकों में प्रमुख था। वह तो मायकावस्की तक का विरोध करता था और 'आजकल का साहित्य' नामक लेख में 1924 में उसने लिखा–"मुझे इसमें कोई दिचस्पी नहीं कि मायकावस्की भाषा और साहित्य के क्षेत्र में क्या नये प्रयोग कर रहा है। उपमा, चित्र, छन्द, वाक्य, में क्या नवीनताएँ आ रही हैं इससे मुझे क्या मतलब ! यह प्रश्न जनता में उठाये ही क्यों जाते हैं ?"

उस समय के संकीर्ण मार्क्सवादी बहुत ही जोश में थे और अपने अलावा अन्य सभी लेखकों को हटाकर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित.करना चाहते थे। उनके स्वर में प्रजातान्त्रिक, उदार और सहानुभूतिपूर्ण भावना न होकर एक ललकार भरी फैसिस्ट भावना थी। उन्होंने अपना एक दल स्थापित किया था–ऑन गार्ड (सावधान !)। लेनिन ने अपनी नव-आर्थिक-नीति में जिस उदारता की नीति बरती थी उसके ये सर्वथा विरुद्ध थे। 1923 में ही इन्होंने अपने घोषणापत्र में कहा था–"यह लिबलिबी नीति अब समाप्त होनी चाहिए। हमको साहित्य में प्रोलेटेरियट दिशा के लिए एक मजबूत आवाज बुलन्द करनी होगी। ढुलमुल-यकीनवाले सहयात्री लेखक (Fellow Travellers) और बोर्जुआ अवशेषों के खिलाफ अपने पुराने युद्ध के झण्डे फिर ऊँचे उठाने चाहिए, एक घमण्ड और अजेय भावना के साथ !

"हम लोग प्रोलेटेरियट साहित्य में एक स्पष्ट और दृढ़ कम्यूनिस्ट-नीति के पक्ष में हैं।

"हम लोग उन आलोचकों के विरुद्ध लड़ेंगे जो सहयात्री लेखकों का पक्ष लेकर हमारी क्रान्ति का रूप बिगाड़ना चाहते हैं और अतीत और वर्तमान के बीच एक कसरती पुल बनाना चाहते हैं !"

रूसी साहित्य का भाग्य तराजू के पलड़े पर काँप रहा था। एक ओर लेनिन और उसके अनुयायी थे जो मार्क्सवाद को व्यापक बना रहे थे, जो वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की संकीर्णताओं में साहित्य और संस्कृति को जकड़ नहीं देना चाहते थे, जो चाहते थे कि मार्क्सवाद वर्तमान परिस्थितियों से सन्तुलन करे, जो रूढ़िवादी

मार्क्सवाद के खिलाफ थे, जो सचमुच विद्रोही थे और सच्चे विद्रोही होने के नाते जो निर्माण का स्वरूप भी पहचानते थे और एक व्यापक और उदार समन्वय के पक्ष में थे। दूसरी ओर वे संकीर्ण मार्क्सवादी थे जिनके सामने केवल एक मृत सिद्धान्त मुख्य था, जो रूढ़िगत सिद्धान्त को सजीव मानव और नवीन निर्माण से अधिक महत्त्व देते थे और जो, यद्यपि अपने को प्रोलेटेरियट विद्रोही कहते थे लेकिन जिनमें जारशाही रूस के नौकरशाहों की सी संकीर्णता भरी हुई थी।

लेकिन रूसी साहित्य की बदनसीबी से कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आयीं कि इन्हीं संकीर्ण मार्क्सवादियों की तानाशाही कायम हो गई। 1925 के प्रस्ताव में कम्यूनिस्ट पार्टी ने कहा था "कम्यूनिस्ट आलोचना में तानाशाही का स्वर नहीं आना चाहिए !" लेकिन 4 वर्ष बाद ही रूसी साहित्य का वह युग शुरू हुआ जिसे प्रोलेटेरियट तानाशाही का युग कहते हैं।

21 जनवरी सन् 1924 को लेनिन की मृत्यु हो गयी थी। उसके बाद ही ट्राट्स्की और स्टालिन का संघर्ष उठ पड़ा। 3 वर्ष तक रूस में बड़ी अव्यवस्था सी रही। ट्राट्स्की, जो एक भावनात्मक आदर्शवादी था और रूस की यथार्थ समस्याओं को व्यावहारिकता की दृष्टि से नहीं देख पाता था, उसने कई जगह अपने त्रिकोण बना लिए थे। सन् 1927 में अन्त में ट्राट्स्की को कम्यूनिस्ट पार्टी से निकाल दिया गया। लेकिन दूसरी समस्या उन रूसी किसानों की थी जिन्हें कुलक कहते थे। 'नव-आर्थिक-नीति' में इन कुलकों का उनकी भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार रहने दिया गया था लेकिन साम्यवाद के प्रसार के लिए आवश्यक था कि उनके खेतों को समष्टि रूप से सम्मिलित कर लिया जाय। बुखारिन व्यक्तिगत सम्पत्ति का पक्ष लेकर साम्यवाद के प्रसार के विरुद्ध लड़ रहा था। कुलकों के विरुद्ध युद्ध छेड़ा गया और अन्त में वे हार गये। लेकिन विरोधियों के षड्यन्त्र जारी थे। डोनेज के कोयला क्षेत्र में एक बहुत बड़ा दल पकड़ा गया जो बोर्जुआ इंजीनियरों द्वारा संचालित था और खानों को नष्ट कर देना चाहता था। इन सब चीजों ने स्टालिन को सशंकित कर दिया था। वह बागडोर कस लेना चाहता था वरना उसे डर था, और शायद सही डर था, कि कहीं प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ संसार के इतिहास में सर्वप्रथम समाजवादी प्रयोग को नष्ट न कर दें।

स्टालिन की इस सशंकित मनोवृत्ति का पूरा लाभ संकीर्ण मार्क्सवादियों ने उठाया। सन् 1928 में ट्राट्स्की, कुलक और बोर्जुआ षड्यन्त्रों से अवकाश पाकर स्टालिन ने रूस के निर्माण के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना बनाई और उसने घोषणा की कि देश की सारी शक्तियाँ इस योजना की सफलता में लग जानी चाहिए। बिल्ली के भागों छींका टूटा। बहुत दिन बाद उन संकीर्ण मार्क्सवादियों की सिंहासन पर बैठने की लालसा पूरी हुई।

1929 में R. A. P. P.–'प्रोलेटेरियट लेखकों का रूसी संघ' कायम हुआ।

रचनावली

आवरबाख नामक आलोचक उसका अध्यक्ष और तानाशाह बनाया गया। उसने घोषित किया—"सोवियत-संघ एक निश्चित योजना के अनुसार निर्माणात्मक साम्यवाद के युग में प्रवेश कर रहा है और तूफान भी तेजी से बढ़ रहा है। लेकिन साहित्य उतनी तेजी से नहीं बढ़ रहा है जितनी तेजी से उद्योग-धन्धे बढ़ रहे हैं। अब साहित्य को अपने कदम तेजी से बढ़ाने चाहिए और समय के साथ आना चाहिए।" 1930 में आर. ए. पी. पी. की पत्रिका में लिखा गया—"सोवियत साहित्य के सामने आज केवल एक समस्या है—पंचवर्षीय योजना और उसके ढाँचे के अन्दर वर्ग-संघर्ष का विकास। साहित्यिक वृत्तियों में यथार्थ का चित्रण होना चाहिए। कुलकों का दमन, लाल सेना की बहादुरी, औद्योगीकरण, गाँवों का समष्टीकरण, यही साहित्य के विषय हैं!"

संसार के किसी साहित्य में इतना हास्यास्पद प्रयोग न हुआ होगा जितना प्रथम पंचवर्षीय योजना में साहित्य का यह संकीर्ण मार्क्सवादी प्रयोग! धीरे-धीरे इसमें अखाड़ेबाजी शुरू हो गयी। कभी-कभी ऐसा होता कि कुछ कम्यूनिस्ट मिलकर किसी कवि को अखबारों में चुनौती देते कि वह मिट्टी के तेल के कुओं पर उत्साह-वर्धक कविता लिखे! एक बार एक गद्य लेखक को चुनौती दी गयी कि वह वोल्गा फार्म पर एक उपन्यास महीने भर के अन्दर लिखे। आर. ए. पी. पी. के अन्तर्गत विचित्र प्रकार के संघ बने। एक एल. ओ. के. ए. एफ. था जो लाल सेना और जहाजी बेड़े के लेखकों का संगठन था और ये लोग अपने को शोलोखव से भी ज्यादा बड़ा लेखक मानते थे क्योंकि ये शोलोखव से ज्यादा बड़े प्रोलेटेरियट थे। कारखानों में और खलिहानों में 'शाकब्रिगेड' नामक संघों का संगठन हुआ जिनमें श्रमिकों को शामिल किया गया और उन्हें लिखने के लिए प्रोत्साहित किया गया। उम्मीद की जाती थी कि चूँकि वे स्वयं प्रोलेटेरियट हैं अतः वे बहुत उत्कृष्ट प्रोलेटेरियट साहित्य देंगे।

जो आवरबाख का हुक्म नहीं मानते थे उनको कहीं से कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता था। एक लेखक ने एक उपन्यास लिखा लेकिन एक रूसी प्रकाशन गृह ने उसे छापने से इन्कार कर दिया क्योंकि उसका कथानक सन् 1925 का था और प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत नहीं आता था। वर्ग-संघर्षवाद एक हास्यास्पद सीमा तक पहुँच चुका था। भिश्ती के हाथ में साहित्यिक हुकूमत थी और वह चमड़े के सिक्के चला रहा था।

लेकिन यह संकीर्णता साहित्यिकों को बहुत महँगी पड़ी। मायकावस्की जैसे वामपक्षी और जनप्रिय कवि को सन् 30 में आत्महत्या कर लेनी पड़ी। येसेनिन 5 वर्ष पहले ही आत्महत्या कर चुका था। जमैटिन जो सेरेपियन बन्धु का संस्थापक था उसे पेरिस भाग जाना पड़ा। मायकावस्की की मौत एक बहुत बड़ी चेतावनी थी। पाठकों में इस संकीर्ण साहित्य के प्रति एक अरुचि और घृणा पैदा हो गयी थी।—एक जार्जियन उपन्यासकार ज्हावाकिशिविली ने एक पत्र का उद्धरण दिया है जो रोस्टोव-ऑन-डान के एक पुस्तकालय के प्रोलेटेरियट पाठकों ने उसे लिखा था—"आप लोग प्रेम और विवाह

के बारे में क्यों नहीं लिखते ? जो कुछ लिखते हैं उसमें इतनी कृत्रिमता और अत्युक्ति क्यों होती है ? आप कुछ हमारे मन की चीज क्यों नहीं लिखते । इस यान्त्रिक साहित्य से हम ऊब गये हैं। हम हँसना चाहते हैं। आप कम से कम हमें ऐसा साहित्य तो दें जो कि पढ़ा जाने लायक हो।"

पाठकों के अलावा लेखकों में तो इस यान्त्रिक व्यवस्था का कड़ा विरोध हो रहा था। यूरी ओलेशा ने लिखा था–"लेखक वही लिख सकता है जो उसकी अनुभूति में हो। उसके बाहर लिखना बेईमानी है। मैं जो अनुभव नहीं करता, वह किसी के आदेश से क्यों लिखूँ ?" वोरोन्स्की ने अपने 'लिटरेरी टाइप' नामक निबन्ध में लिखा था–"हम यह चाहते हैं कि हमको घुड़कियाँ न दी जायँ, हम नौकरशाही नहीं बर्दाश्त करेंगे। हमें वैयक्तिक विकास चाहिए। हम अतीत के महान् कवियों की परम्परा को समझकर वर्तमान को खुद अपनी आँखों से देखना चाहते हैं, उधार लिए हुए चश्मे से नहीं।" सबसे ज्यादा तीखी आलोचना लियोनोव की थी। R. A. P. P. के लेखकों की किताबों के लिए वह कहता है–"ये किताबों के ढेर हैं जिनका कोई महत्त्व नहीं। न इनमें पकी हुई शैली है, न कोई ऊँचाई है और न वह जीवनी शक्ति है जो इन्हें 20, 25 वर्ष भी जिन्दा रक्खे ?" (अपील टु करेज 1932)

बनी बनाई व्यवस्था बिगड़ गयी थी। मैक्सिम गोर्की अभी जीवित था और जब वह सारेण्टो से लौटकर आया तो सोवियत साहित्यिकों की दशा देखकर उसे बहुत दुःख हुआ। यह वह रूस नहीं था, वह संस्कृति नहीं थी, जिसके लिए उसने अपनी साहित्यिक साधना की थी, जिसके लिए उसने (100 हार्स पावर का साहित्य) लिखा था। वह सदा से साहित्य में वैयक्तिक स्वाधीनता का हामी रहा। उसी ने 1918-22 में सेरेपियन बन्धुओं को प्रोत्साहन दिया था। इस समय उसने आकर परिस्थिति में हस्तक्षेप किया। स्टालिन में यद्यपि लेनिन और गोर्की की तरह साहित्यिक सुरुचि नहीं थी लेकिन भिश्ती की ढाई दिन की हुकूमत के दिन खत्म हो गये थे। आर. ए. पी. पी. भंग कर दिया गया और तानाशाह आवरबाख साहब को बाइज्जत साइबेरिया में भेज दिया गया जहाँ उजाड़ सुनसान में वे आराम से नवयुग का प्रोलेटेरियट साहित्य सृजन कर सकें।

23 अप्रैल सन् 1932 को कम्यूनिस्ट पार्टी की सेण्ट्रल कमेटी ने एक प्रस्ताव पास किया और उसके अनुसार इन संस्थाओं को भंग कर एक व्यापक संघ–'सोवियत लेखक संघ' कायम किया गया और उसके लिए एक व्यापक जीवन-दर्शन सामने रक्खा गया। सोशलिस्ट रीयलिज्म–सामाजिक यथार्थवाद।

सोश़लिस्ट रीयलिज्म

23 अप्रैल सन् 1932 के ऐतिहासिक प्रस्ताव में स्पष्ट कहा गया था कि "वर्तमान प्रोलेटेरियट साहित्यिक और कलात्मक संघों की सीमा बहुत संकुचित हो गयी है और वह सोवियत

रचनावली

रूस के कलात्मक सृजन के गम्भीर विकास में बहुत बाधा पहुँचा रही है !" इन शब्दों से स्पष्ट था कि नये रूस के निर्माता इस बात को महसूस कर रहे थे कि प्लेखनाव के विचारों पर आधारित आवरबाख की संकीर्ण रूढ़िवादी प्रगतिशीलता मानव-संस्कृति के विकास में सहायक नहीं सिद्ध हो रही है, साहित्य को अपने पंख फैलाकर ऊँची उड़ानें भरने के लिए ज्यादा विस्तृत आकाश और खुली सुनहली धूप की अपेक्षा है। साहित्य वर्ग-संघर्ष की प्रतिछाया है, उत्पादन के साधनों के विकास का शब्दात्मक, कलात्मक रेकार्ड है, यह संकीर्ण मार्क्सवाद एक आगे बढ़नेवाली जनता, स्वतन्त्र राष्ट्र और एक नवीन संस्कृति के निर्माताओं के लिए बहुत छोटी, बहुत संकुचित, बहुत नाकाफी था।

जो नया आधार पार्टी की ओर से पेश किया गया, वह था सामाजिक यथार्थवाद। सोवियत लेखक-संघ के विधान के एक नियम में सामाजिक यथार्थवाद की इन शब्दों में व्याख्या की गयी है–"सोवियत कलात्मक साहित्य और साहित्यिक आलोचना का आधार सामाजिक यथार्थवाद है। सोवियत यथार्थवाद की माँग है कि लेखक यथार्थ के क्रान्तिकारी पहलू का ठोस इतिहास पर आधारित, वास्तविकतापूर्ण चित्रण करें।"

क्रान्तिकारी पहलू

हमें इस व्यवस्था को बहुत ध्यान से समझना चाहिए। यह यथार्थ, केवल वह नीरस यथार्थ, वह यथातथ्यवाद, या वह प्राकृतवाद नहीं है जिसका प्रयोग फ्रांसीसी साहित्य में हो चुका है। यह एक विशिष्ट यथार्थवाद है, कई महत्त्वपूर्ण विशेषणों से युक्त। सबसे पहले ध्यान देनेवाली चीज है–"यथार्थ का क्रान्तिकारी पहलू !" कलाकार का यह कर्तव्य नहीं है कि वह चीजों को जैसा देखे, एक कैमरे की तरह उसका ज्यों का त्यों चित्रण कर दे। उसको चाहिए कि वह जिस पात्र या जिस परिस्थिति को उठावे उसमें अन्तर्निहित उन क्रान्तिकारी तत्त्वों को ढूँढ़ निकाले जो हमेशा से मानवता के इतिहास को बढ़ाने में समर्थ हुए हैं। उसमें वह गहरी पैठ होनी चाहिए कि वह प्रत्येक पात्र और प्रत्येक परिस्थिति को इस विशाल पृष्ठभूमि में देख सके, जहाँ मानवता की करोड़ों साल पुरानी सभ्यता अपने नये कदम उठाया करती है, अपनी नयी पगडण्डियाँ बनाया करती है, और उसका हर कदम और उसका हर प्रयोग उसे निरन्तर सत्य, पूर्ण और चरम सत्य की ओर ले जाया करता है।

वह चरम सत्य जिसकी ओर हर युग में मानव बढ़ता आया है, वह केवल संकीर्ण मार्क्सवादियों का वर्गहीन आर्थिक समाज ही नहीं है। करोड़ों साल से सितारों और बादलों से टकराती हुई यह दुनिया, अंगारों पर कदम रख कर बढ़ती हुई यह दुनिया, केवल समान आर्थिक विभाजन की ओर नहीं बढ़ रही है। आज तक दुनिया में महान् राज्य क्रान्तियाँ, बड़े-बड़े दार्शनिक प्रयोग, मृणाल तन्तुओं से भी सुकुमार कला, और सितारों से भी ज्यादा पुरानी भावनाओं का उद्भव सिर्फ इसलिए नहीं हुआ था कि

रचनावली

समाज का आर्थिक ढाँचा बदले। सत्य का इतना सस्ता, इतना साधारण और इतना छिछला विवेचन अब रूसी साहित्य में नहीं होता। अब रूसी साहित्य का मुख्य विषय, वह चरम जिसकी ओर अब रूसी साहित्य ने अपनी प्रगति पहचानी है, वह है महान् मानव का पूर्णतम विकास। सामाजिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, कलात्मक, दार्शनिक और आध्यात्मिक विकास। यह अवश्य है कि वे रूढ़िगत आध्यात्म में विश्वास नहीं करते, रूढ़िगत नैतिकता में विश्वास नहीं करते, रूढ़िगत मनोविज्ञान में भी विश्वास नहीं करते, लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने केवल वर्ग-संघर्ष के संकीर्ण पन्थ से ऊपर इन व्यापक और स्थायी चीजों का महत्त्व पहचाना है। इसलिए कि उस व्यापक सत्य की प्रतिष्ठा समाज में हो, उसके लिए वे सतत प्रयत्नशील हैं। साथ ही साथ किस प्रकार बदलती हुई परिस्थितियों में उस सत्य की स्थापना होती चल रही है इसको पहचानना और उसी के दृष्टिकोण से परिस्थितियों, पात्रों और परिवर्तनों की व्याख्या करना, यह 'क्रान्तिकारी पहलू' के अर्थ हैं।

दूसरा विशेषण है 'ऐतिहासिक'। मायकावस्की के युद्ध-प्रिय भविष्यवाद और प्लेखनाव के संकीर्ण वर्गवाद ने प्राचीन इतिहास से सर्वथा अपना नाता तोड़ लेने के लिए आन्दोलन किया था। लेकिन कोई भी देश, कोई भी जाति, कोई भी सभ्यता या कोई भी साहित्य अपने अतीत से अपने को अलग करने से निर्बल पड़ जाता है। अतीत की गहराइयों में अपनी प्रेरणाओं की जड़ जमा लेने से विद्रोह में करोड़ों गुना शक्ति बढ़ जाती है। जिस सत्य की स्थापना के लिए मानव आज क्रान्ति कर रहा है, उस प्रयास में अपरिपक्वता नहीं क्योंकि उस प्रयास के पीछे मानवजाति का पूरा इतिहास है, करोड़ों साल पुराना इतिहास। अपने नये विद्रोह की सीमा में करोड़ों साल पुराने इतिहास को शामिल कर लेने से कलाकार को बहुत बड़ा सम्बल मिलता है। सोवियत साहित्य अब सोवियत इतिहास की उपेक्षा नहीं करता, वरन् वह अपने वर्तमान और भविष्य की प्रेरणा और जड़ें अतीत में भी खोज निकालता है। वह पूरे इतिहास की गति को समझता है, यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहता है कि अतीत के किन प्रयोगों ने, किन प्रेरणाओं ने, किन विचारधाराओं ने इस भविष्य के सपने को जन्म दिया है जो हम वर्तमान में देखते हैं। सोवियत उपन्यासों में प्राचीन ऐतिहासिक नायक फिर वापस आ गये हैं। प्राचीन साहित्यकारों को फिर उठाया जा रहा है और मानव और साहित्य दोनों को अतीत और वर्तमान में खण्डित नहीं कर दिया गया है वरन् एक परम्परागत अखण्ड पूर्णता स्वीकार कर ली गयी।

तीसरा विशेषण है ठोस! हम पहले देख चुके हैं कि लियोनोव ने पार्टी द्वारा निर्देशित और प्रोत्साहित उस संकीर्ण प्रोलेटेरियट साहित्य के विरुद्ध आवाज उठाई थी, "जिसमें इतना खोखलापन था कि वे 25 वर्ष भी जीवित नहीं रह सकती है।" युद्ध के बाद इस आवाज में और भी तेजी आ गयी है और निरन्तर सभी आलोचकों की यह माँग है कि सोवियत साहित्य में केवल नारेबाजी न हों, ठोस साहित्य हो जो

रचनावली

जिन्दा रह सके और हमेशा अपना उचित स्थान जीत सके।

और यह तभी हो सकता है जब हम साहित्य की प्राचीन परम्पॅरा का आदर करें और प्राचीन परम्परा का पूरा बल लेकर नवीन परिस्थितियों के क्रान्तिकारी पहलू को पहचान सकें। लेकिन इनके अलावा एक चौथा तत्त्व भी है जिसका उल्लेख सामाजिक यथार्थवाद के सिद्धान्त में है। वह है वास्तविकता। अभी तक प्रोलेटेरियट साहित्य को क्रान्तिकारी साहित्य कहा जाता था लेकिन था वह बिल्कुल अवास्तविक। उसमें परिस्थितियाँ प्रमुख होती थीं और मनुष्य उनके हाथ का खिलौना। उत्पादन के साधनों के आधार पर चरित्रों का निर्माण होता था और पात्रों के अन्तर्जगत से साहित्यकार का कोई परिचय ही नहीं होता था। इसके अलावा संकीर्ण वर्गों में पात्रों को बाँट दिया गया था और यह असम्भव था कि किसी भी सामन्तवादी पात्र में कोई भी मानवीय भावना हो और वह भी असम्भव था कि किसी कम्यूनिस्ट पात्र में कोई भी दुर्गुण हो। सारा प्रोलेटेरियट साहित्य एक कठपुतलियों का तमाशा सा लगता था जिसमें अपने-अपने वर्ग का लेबिल लगाये हुए भावनाहीन कठपुतलियाँ परिस्थितियों के सूत्र-संचालन पर हिलती-डोलती और नाचती-बोलती थीं। उन पात्रों में कहीं भी उस गहरे अन्तर्जगत का चित्रण नहीं था जिसमें अच्छाई और बुराई, अँधेरा और उजाला, पाप और पुण्य कुल साथ मिला हुआ हो। जहाँ आदमी सोचता है, उठता है, आगे बढ़ता है, फिसलता है, फिर सीखता है, परिस्थितियों को बदलते-बदलते खुद भी बदलता जाता है—मन की इन गहराइयों से आवरबाख के शिष्य प्रोलेटेरियट लेखक, अपरिचित थे। उनके पात्रों में पर्तें और गहराइयाँ नहीं थीं, केवल ऊपरी धरातल था। अनुभूति नहीं थी, केवल उधार के लिये हुए नारे थे और खोखले व्यवहार और कार्य जिनमें उनका व्यक्तित्व नहीं झलकता था, केवल लेखक या तानाशाह आवरबाख के सिद्धान्त और मान्यता झलकती थी। इस खोखलेपन के खिलाफ आवाज उठाई गयी और कहा गया कि अन्तर्जगत का भी महत्त्व है और यही चीज है जो साहित्य को वास्तविकता प्रदान करती है।

लेकिन हमें यह अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए कि वर्तमान सोवियत साहित्य की धाराएँ इससे कहीं ज्यादा बहुमुखी हैं और वास्तविक प्रयोगों की दृष्टि से आज का सोवियत साहित्य संसार के किसी भी देश से पीछे नहीं है। इस समय साहित्य पर बहुत कम बन्धन हैं। हर लेखक को उतनी ही सुविधाएँ दी जाती हैं और येसेनिन या मायकावस्की जैसी दुर्घटनाएँ अब कभी नहीं होतीं। संक्रान्ति काल में कुछ न कुछ अव्यवस्था हो ही जाती है लेकिन सौभाग्य से रूस को ऐसे शासक मिले हैं जो अपने देश की परिस्थितियों को सम्हालने की ओर ज्यादा ध्यान देते हैं, सिद्धान्तों की रूढ़िवादिता पर कम। इसलिए वे अपने साहित्य को इतने प्रयोगों के बाद भी बचा ले गये।

युद्धकाल में सोवियत साहित्यिक को जितनी सुविधाएँ थीं और सोवियत रूस

रचनावली

में जितना ज्यादा और जितना अच्छा साहित्य लिखा गया उतना शायद किसी भी देश में नहीं। संकीर्ण वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्तों को पहले ही अस्वीकृत कर दिया गया, था जनता या राष्ट्र (narodny) की भावना अधिक प्रमुख हो गयी थी। युद्धकाल में देशभक्ति, रूसी जाति की महत्ता; परिस्थितियों की अपेक्षा मानव का ज्यादा महत्त्व और प्रणय भावना का फिर से निखार : ये सब युद्ध की देन है।

सामाजिक यथार्थवाद काल की स्वाधीनता, और युद्ध के अनुभवों के बाद अब रूसी साहित्य के मुख्य तत्त्व ये हैं–

संकीर्ण मार्क्सवाद और यान्त्रिक वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्तों को छोड़कर जीवन के एक अधिक पूर्ण और यथार्थ दृष्टिकोण का निर्माण।

प्राचीन ऐतिहासिक परम्पराएँ, और राष्ट्रीयता का पुनर्विकास।

प्राचीन साहित्यिक परम्पराओं की ओर से झुकाव।

भावनात्मक रोमांटिक गीत-काव्य का पुनरोदय।

मनोविज्ञान का पुनर्प्रवेश, लेकिन एक व्यापक मनोवैज्ञानिक भूमि; फ्रायड या अन्य किसी संकीर्ण मतवाद का अन्धानुकरण नहीं।

शैली के निखार और बाह्य रूप की कलात्मकता पर फिर ध्यान देना।

सामाजिक व्यवस्था को जीवन की अधीश्वरी न मानकर मानव को परिस्थितियों का स्वामी मानना और समाज या वर्ग-चेतना की अभिव्यक्ति मात्र न मानकर इतिहास का निर्माता मानना; और इसी के आधार पर संकीर्ण समाजवाद के बजाय एक नवीन मानववाद का विकास !

इन सभी पहलुओं का विस्तार में अध्ययन करने की जरूरत है, और आगे के अध्यायों में हम इन सभी पहलुओं को एक-एक कर देखेंगे। हम यह नहीं कह सकते कि आज रूसी साहित्य जिस व्यापक और उदार मनोभूमि पर खड़ा है, कल भी यहीं रह पायेगा या नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ बुरी तरह उलझती जा रही हैं, और सारे पूँजीवादी देश अमेरिका के नेतृत्व में रूस को चकनाचूर कर डालने पर तुल गये हैं। भय, भार और आशंकाएँ मनुष्य को व्यापक और उदार नहीं रहने देतीं। सम्भव है कि अमेरिका की आक्रमणात्मक नीति रूस को फिर एक बार उतना ही संकीर्ण बना दे, उस हालत में सम्भव है कि स्टालिन एक बार फिर साहित्य को फौलादी शिकंजे में जकड़ ले और फिर साहित्य उसी संकीर्ण मनोभूमि में सीमित हो जाय जिसमें वह प्रोलेटेरियट तानाशाही के जमाने में उलझ गया था।

वैसे रूसी आलोचक अब आशा करता है कि इस स्वतन्त्र और उदार स्तर पर आ जाने के बाद साहित्य में फिर टाल्स्टाय और पुश्किन, गोर्की और चेखव, डास्टावस्की और ब्लाक पैदा होंगे। लेकिन अगर पूँजीवादियों ने कोई भी युद्ध छेड़ा तो इस बार सोवियत साहित्य की इस नयी जाग्रत चेतना की भ्रूण-हत्या के जिम्मेवार पूँजीवादी राष्ट्र होंगे, स्टालिन या संकीर्ण मार्क्सवादी नहीं।

रचनावली

प्राचीन, स्थायी और शाश्वत साहित्य तथा प्रगतिवादी प्रयोग

दिसम्बर सन् 1941 के 'हंस' में एक कविता प्रकाशित हुई थी जिसमें शाश्वत साहित्य का पक्ष लेकर सामयिक साहित्य का विरोध करनेवालों की खबर ली गयी थी। कवि ने लिखा था–

> तुम कहते हो शाश्वत संस्कृति, शाश्वत हैं कवि के मनोभाव;
> पर भूल न जाना परिवर्तन ही एक नियम है बस शाश्वत,
> स्थायी रह सकता नहीं नीर हाँ, स्थायी है उसका बहाव !

खैर, हिन्दी में तो कम, रूसी साहित्य में प्रगतिशील धारा के कवियों में एक बहुत बड़ा विरोध, बल्कि अरुचि प्राचीन साहित्य के लिए आ गयी थी। मायकावस्की ने लिखा था–

> जो कुछ बीत गया है मैं उस सब को शून्य मानता हूँ
> मैं कभी, कहीं कोई भी (पुरानी) चीज नहीं पढ़ता हूँ

(पाजामा-पोश बादल)

लेकिन आज बीस-तीस वर्ष के प्रयोग के बाद रूस फिर पुराने शाश्वत साहित्य की ओर लौट आया है, और फिर एक बार इस बात का प्रयास हो रहा है कि साहित्य का विषय आज का रूस हो, आज का मानव हो, लेकिन दृष्टि और विषय को उठाने और उसे परिपक्वता तक पहुँचाने का ढंग केवल अस्थायी और सामयिक न हो, शाश्वत और चिरन्तन हो। क्रान्ति के दिनों में और उसके बाद प्राचीन साहित्य और साहित्य के शाश्वत मूल्यांकन के विरुद्ध जो भयंकर आन्दोलन उठा था वह धीरे-धीरे शान्त हो गया है।

प्राचीन साहित्य के प्रति यह अनास्था और अरुचि मायकावस्की के भविष्यवादी स्कूल में सब से ज्यादा प्रमुख थी। गोर्की में यह बात बिल्कुल नहीं थी। गोर्की अपने दरिद्र और अभावग्रस्त बचपन के बावजूद पढ़ने का बेहद शौकीन था। वह अपनी टीन की छत पर बैठ जाता और चारों ओर घुटते हुए कडुये धुएँ में भी एकाग्रचित्त से पढ़ता रहता था। सन् 1928 में लिखे हुए "मैं कैसे लिखने लगा ?"

नामक निबन्ध में उसने दिखाया है कि उसने कितनी छोटी उम्र में ही कितना पढ़ डाला था। स्टेण्डहल, बालजक और फ्लाबर्ट का ऋण तो उसने स्पष्टतः स्वीकार किया है। उसमें मायकावस्की की यह भावना नहीं थी कि–"मैं कभी कहीं कोई भी चीज नहीं पढ़ता हूँ !" गोर्की ने लिखा था–"लेखक जितना पढ़ सके उसे पढ़ना चाहिए, जानना चाहिए, वह जितनी अच्छी तरह प्राचीन से परिचित होगा, उतनी ही अच्छी तरह वह वर्तमान को पहचान सकता है, उतनी ही स्पष्टता और गम्भीरता से वह आधुनिक युग के क्रान्तिकारी तत्त्वों को समझ सकता है।" एक दूसरे लेख में (1914, प्रोलेटेरियट-साहित्य-संग्रह की भूमिका) में भी उसने लिखा था, "एक लेखक को सभी चीजें जाननी चाहिए··· तरह-तरह की भावनाओं की उलझी हुई रेखाओं में से उसे वही चीजें चुन लेनी चाहिए जो व्यापक महत्त्व की हों–लेखक को संकीर्ण, वैयक्तिक और अस्थायी चीजों की उपेक्षा करनी चाहिए क्योंकि ये चीजें निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं और कभी अपना कोई अवशेष प्रभाव नहीं छोड़ जाती हैं।" इससे स्पष्ट है कि वह ऐसा साहित्य, चाहता था जो स्थायी हो, संकीर्ण न हो, निरन्तर परिवर्तित न हो और अपना प्रभाव अपने बाद भी बनाये रक्खे।

मायकावस्की ने प्राचीन साहित्य का जो विरोध किया था उसके मूल में एक संकीर्ण वैयक्तिक 'हीन-मनोभावना' थी। प्राचीन साहित्य का विरोध करने के पीछे यह उद्देश्य कम था कि वह एक महान् नवीन साहित्य का सृजन करे, वरन् उसके पीछे एक चिढ़ और असन्तोष की भावना थी, असन्तोष अपनी कविता से और चिढ़ इस बात से कि लेनिन अब भी पुश्किन और टाल्स्टाय का भक्त था, मायकावस्की का नहीं ! यह मैं अपने विश्लेषण के आधार पर नहीं कह रहा हूँ। स्वयं उसने अपनी आत्मकथा में लिखा है–"बचपन में मैं प्राचीन साहित्य की एक परीक्षा में फेल होते-होते बचा। मेरे मन में सभी प्राचीन वस्तुओं के प्रति घृणा हो गयी। सम्भवतः इसी घटना से मेरे मन में भविष्यवाद और नास्तिकता का उदय हुआ।" इसलिए कि वह प्राचीन साहित्य की परीक्षा में असफल हुआ, उसे असन्तोष अपनी असमर्थता के प्रति नहीं हुआ, वरन् प्राचीन साहित्य के प्रति हो गया। कितनी बड़ी अहम्‌वादी मनोवृत्ति का परिणाम था यह स्पष्ट है। प्राचीन के प्रति मायकावस्की की यह घृणा उन 'संकीर्ण, वैयक्तिक और अस्थायी चीजों' में से थी जिनसे गोर्की ने लेखकों को अलग रहने की सलाह दी थी।

लेकिन उस समय मायकावस्की की इस आवाज का समर्थन एक दूसरे क्षेत्र से हुआ; वह उन आलोचकों का क्षेत्र था जिन्होंने मार्क्स के सिद्धान्तों को कुछ गलत समझा था। उनकी ईमानदारी में हमें कोई सन्देह नहीं लेकिन उनके विश्लेषण में एक व्यापक दृष्टिकोण का अभाव था। यह था पेरेवर्जव का आलोचना वर्ग जो पोक्रोवस्की का सिद्धान्त मानता था और प्रथम पंचवर्षीय योजना के जमाने में आवरबाख जिसका मुख्य प्रतिनिधि था। इसके अनुसार साहित्य सर्वथा सामयिक

रचनावली

माँगों की पूर्ति का साधन होता है। समाज की तत्कालीन समस्याएँ ही साहित्य का निर्माण करती हैं। उसमें साहित्यकार की व्यक्तिगत देन कुछ नहीं होती। वह केवल अपने समय की समस्याओं का छायाचित्र मात्र हमें देता है। और समय बीतने के साथ ही वह छायाचित्र भी बेकाम और उपयोगहीन हो जाता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के समय इन आलोचकों का और इस आलोचना शैली का बहुत जोर था। आवरबाख के अधीन 'सोशल कमाण्ड' था और वह सामाजिक समस्याओं का जो विश्लेषण करता था, उसी के आधार पर रूस के साहित्यिकों को सामयिक साहित्य लिखना पड़ता था। लेकिन सन् 1930 के बाद रूस ने अनुभव किया कि यह संकीर्णता साहित्य के लिए बहुत नुकसान देह है और अन्त में आवरबाख की तानाशाही समाप्त कर दी गयी। आवरबाख की विचारधारा को 'वल्गर सोशियालाजी' कहकर पुकारा गया। ('वल्गर सोशियालाजी' का ठीक-ठीक हिन्दी रूपान्तर तो गुण्डा-समाजशास्त्र होगा, लेकिन शिष्टतावश हम उसे संकीर्ण समाजवाद ही कहकर पुकारेंगे, विशेषतया इसलिए कि हिन्दी की तथाकथित प्रगतिशील आलोचना में अभी गुण्डाशास्त्र के बहुत से तत्त्व बाकी हैं।)

इस संकीर्ण समाजवादी दृष्टिकोण का मुख्य आधार प्लेखनाव की विचारधारा थी। प्लेखनाव यह नहीं मानता था कि लेखक में भविष्यदर्शिता अथवा आगे आनेवाले सत्यों को पहचान सकने की शक्ति हो सकती है। उसके अनुसार साहित्य का मूल्य सर्वथा सामयिक और वर्गवादी दृष्टि से मापा जा सकता है। उसने अपने 'इतिहास में व्यक्ति का स्थान' में बताया है कि व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता कुछ भी नहीं है। वह केवल इतिहास की लहरों पर बहता हुआ फूल है। जिधर लहरें ले जाती हैं उधर ही वह चला जाता है। इतिहास के व्यक्तियों की महानता केवल इस बात पर आधारित है कि उनके युग में इतिहास एक नया मोड़ ले रहा था और उस मोड़ में वे आगे पड़ गये, लेकिन उनका यह दावा कि उन्होंने इतिहास को मोड़ दिया है यह उतना ही गलत है जितना कि नदी की तेज धार में बहते हुए तिनके का यह दावा कि उसकी तेज रफ्तार उसकी अपनी है। इसलिए कलाकारों के विषय में भी उसका मत था कि कलाकार की चेतना का निर्माण सर्वथा सामयिक परिस्थिति और उस वर्ग के आधार पर होता है जिस वर्ग में वह पैदा हुआ है। चूँकि अधिकांश कलाकार उच्चवर्ग के थे, या उस वर्ग के आधार पर पले थे, या उच्चवर्ग का चित्रण करते थे और पूँजीवादी या सामन्तवादी युग में पले थे अतः उनका साहित्य इतिहास के इस नये दौर, इस सामन्तवादी युग के लिए सर्वथा अनुपयुक्त सा है। उसने कलाकार की स्वतन्त्र व्यक्तिगत चेतना को तो सर्वथा अस्वीकार ही किया है—उसके अनुसार 'हरेक कलाकार अपनी रचनाओं में केवल उन मनोवृत्तियों और अनुभूतियों को गूँथ देता है जो उसे अपनी परिस्थिति, अपने पालन-पोषण और अपने वर्ग से मिली हैं। ये अनुभूतियाँ किसी भी स्वतन्त्र वैयक्तिक चेतना पर आधारित न होकर उतनी ही

पराधीन और यान्त्रिक ढंग से आनेवाली होती हैं जैसे अंगुली कट जाने पर उठनेवाला दर्द। कलाकार केवल अपने वर्ग की अनुभूतियों को उस खजाने में हमेशा के लिए सुरक्षित रखता जाता है जिसे कलाकृति कहते हैं।' यह सामूहिक निश्चयवाद इस सीमा तक पहुँच चुका था कि प्लेखनाव ने लिखा–"कलाकार का कोई व्यक्तिगत दायित्व नहीं। आप उसे न प्रोत्साहित कर सकते हैं न निरुत्साहित। उसकी प्रशंसा या निन्दा करना भी व्यर्थ है। वह वही लिखता है जो उसे लिखना पड़ता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन साहित्य और साहित्य के स्थायित्व के विरुद्ध तर्क-शृंखला इस प्रकार है–लेखक अपनी परिस्थितियों से ऊपर नहीं उठ सकता, अपने समय से ऊपर नहीं उठ सकता, अपने वर्ग के ऊपर नहीं उठ सकता। अतः वह कोई ऐसा साहित्य नहीं लिख सकता जो स्थायी हो क्योंकि वह अपने समय से बँधा रहता है, और वह कोई ऐसा साहित्य नहीं लिख सकता जिसकी अपील व्यापक हो, क्योंकि वह अपने वर्ग से बँधा रहता है। यह था सूत्र। इसकी व्याख्या पोक्रोवस्की, आवरबाख और पेरेवर्जव ने यह की कि सभी प्राचीन साहित्य अब व्यर्थ हैं, क्योंकि वह आधुनिक युग के उपयुक्त नहीं, और सभी लेखकों को सर्वथा सामयिक साहित्य लिखना चाहिए क्योंकि साहित्य के स्थायित्व का स्वप्न नष्ट हो जाने पर वही एक रास्ता बच रहता है, सामयिक साहित्य लिखना। उस सामयिक आवश्यकता और उसके हल का निर्णय भी पार्टी ही कर सकती है, क्योंकि पार्टी ही प्रोलेटेरियट वर्ग की एकमात्र प्रतिनिधि है। अतः प्रगतिशील साहित्यकार को पार्टी के आदेशों पर लिखना चाहिए।

जब रूस में आर. ए. पी. पी. क़ायम हुई और वह सभी लेखकों पर अपना शासन चलाने लगी, उस समय लेखकों की दिशा बतलाने के लिए। आवरबाख नियुक्त हुआ साहित्य पर सामयिकता का अभिशाप इस बुरी तरह से छा गया, लेकिन फिर भी इस कारखाने में एक भी पुश्किन, टाल्स्टाय, चेखव या गोर्की नहीं पैदा हो सका।

स्वयं लेनिन इस नये प्रोलेटेरियट साहित्यकार से बहुत सन्तुष्ट नहीं था। एक बहुत प्रसिद्ध घटना है जिसका हिन्दी में कई बार उल्लेख हो चुका है। लेनिन ने एक नयी सोवियत पाठशाला के विद्यार्थियों से पूछा–"तुम्हारा सर्वश्रेष्ठ कवि कौन है ?" वे बोले, "मायकावस्की !" पुराने कवियों के लिए उन्होंने कहा कि वे उन्हें अब नहीं छूते–वे बोर्जुआ थे। लेनिन ने घर पर आकर मादाम क्रुप्सकाया से कहा–"आश्चर्य है ! पर मुझे तो अब भी पुश्किन सर्वश्रेष्ठ लगता है।" लेनिन को पुराने रोमांटिक साहित्य से बहुत प्यार था। बारबूजे का लाफ़ू, गेटे का फाउस्ट और प्रसिद्ध सौन्दर्योपासक कवि हाइना के गीत उसे बेहद प्यारे थे। एक बार जब वह बीमार पड़ा तो जंगलों की जिन्दगी पर लिखनेवाले जैक लण्डन की पुस्तकें मादाम क्रुप्सकाया से पढ़वा कर सुना करता था। जितने दिनों वह साइबेरिया में रहा, पुश्किन के ग्रन्थ बराबर उसकी चारपाई पर पड़े रहते थे। एक बार क्लारा जेटकिन से उसने

रचनावली

कहा था–"नवीन चूँकि केवल नवीन है इसीलिए उसकी पूजा करनी चाहिए, यह बिल्कुल बेमानी बात है !" जहाँ रूस की नयी पीढ़ी इस संक्रान्ति काल में आवेश और संकीर्णता में पड़कर प्राचीन स्थायी साहित्य पर भी कीचड़ उछाल रही थी, वहाँ वह पीढ़ी जिसने अपने रक्त और स्वेद से नये रूस का निर्माण किया था–लेनिन और गोर्की जैसे लोग, अपने प्राणपण से प्राचीन साहित्य को बचाने की चेष्टा कर रहे थे।

किन्तु लेनिन की मृत्यु के पश्चात् ट्राट्स्की और स्टालिन की प्रतिद्वन्द्विता से रूस में एक विचित्र-सी अव्यवस्था आ गयी थी। उसी अव्यवस्था में साहित्य के क्षेत्र में उन लोगों को अपनी तानाशाही कायम करने का मौका मिल गया जो प्लेखनाव के अनुयायी थी ! 1929 में आर. ए. पी. पी. नामक एक संस्था कायम की गयी जिसका अध्यक्ष आवरबाख था। उसने प्राचीन साहित्य का महत्त्व मिटाकर नये सामयिक साहित्य को प्रोत्साहन दिया। आवरबाख ने साहित्यिकों की स्वाधीनता को बिल्कुल जकड़ लिया और साहित्यिकों को बाध्य किया कि वे केवल सामयिक घटनाओं पर लिखें और उसी व्याख्या के अनुसार लिखें जो आवरबाख की व्याख्या हो।

साहित्यकार के स्वाभिमान के लिए यह शिकंजा इतना महँगा पड़ा कि स्वयं मायकावस्की ने इससे ऊबकर आत्महत्या कर ली। बहुत-से रूसी लेखक भागकर पेरिस चले आये। रूसी साहित्य का दम घुटने लगा। जब स्टालिन ने देखा कि यह व्याख्या रूसी संस्कृति के लिए कितनी हानिकर है तो उसने इस संस्था को भंग कर दिया और आवरबाख को साइबेरिया भेज दिया।

जब रूसी साहित्यकारों और विचारकों को खुलकर साँस लेने का मौका मिला तो उन्होंने फिर से प्राचीन साहित्य के महत्त्व को माना और स्थायी साहित्य के सृजन की ओर उनका ध्यान गया। इस सिलसिले में सबसे महत्त्वपूर्ण विचारक लिफशित्ज है जिसने अपनी एक लेख-शृंखला में प्लेखनाव की संकीर्ण विचारधारा का विरोध किया और उसके पक्ष में उसने मार्क्स का ही सबूत पेश किया।

मार्क्स ने अपनी 'क्रिटीक ऑफ पोलिटिकल इकनामी' में एक स्थान में लिखा था–"इस बात को समझना बहुत मुश्किल नहीं कि ग्रीक तथा अन्य शाश्वत साहित्य सामाजिक प्रगति के डोरों से बँधा हुआ था, लेकिन उलझन इस बात को समझने में पैदा होती है कि इतने दिनों बाद आज भी उनसे उतनी ही रसानुभूति होती है, उतना ही आनन्द मिलता है और अब भी वे कला के इतने ऊँचे आदर्श बने हुए हैं कि उनकी तरह पूर्णता पाना कठिन मालूम देता है।"

दूसरे रूसी आलोचक फ्योडोर लेविन का कहना है कि स्वयं मार्क्स जब प्राचीन साहित्य का आदर करता था और शाश्वत ग्रीक साहित्य को आदर्श मानता था, तो आधुनिक समाजवादियों में शाश्वत साहित्य के प्रति अरुचि आने का मुख्य कारण

यह था कि प्लेखनाव के विश्लेषण ने उनके मन में भ्रम पैदा कर दिया था। "प्लेखनाव तथा अन्य संकीर्ण वर्गवादी केवल इसमें व्यस्त थे कि एक वर्ग को दूसरे वर्ग से अलग करते रहें और किसी लेखक को इसकी और किसी को उसकी आवाज साबित करने का प्रयास करते रहें। वह इस बात को सर्वथा अस्वीकार करते थे कि एक लेखक अपने वर्ग के अलावा दूसरे वर्ग को भी जान सकता है, समझ सकता है, उसके बारे में लिख सकता है और उस पर अपना प्रभाव डाल सकता है। सोवियत यूनियन की बीसवीं शताब्दी के छोटे से गज से वह भूतकाल के महान् प्रतिभाशाली लेखकों को नापना चाहता है। यह संकीर्ण वर्गवादी प्राचीन स्थायी साहित्य के साहित्यिक और कलात्मक महत्त्व को बिल्कुल नहीं समझ पाता। स्थायी प्राचीन साहित्य की निन्दा करने में वे उसके सौन्दर्य को समझना सर्वथा भूल ही जाते हैं!" यह शब्द मेरे नहीं हैं। यह रूस के वर्तमान साहित्य के प्रमुख आलोचक फ्योडोर लेनिन के हैं। मार्क रोजेन्थाल ने तो यहाँ तक कहा है कि प्राचीन साहित्य की निन्दा करनेवाले ये "संकीर्ण वर्गवादी वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को समझते ही नहीं हैं।" और लिफशित्ज लिखता है कि "संकीर्ण वर्गवाद की प्राचीन साहित्य की इस अरुचि के पीछे लेनिनवादी नहीं वरन् बोर्जुआ मेनशेविक विचारधारा है।"

लिफशित्ज के लेखों का सारांश ही दे देना मैं उचित समझता हूँ। वह लिखता है कि "महान् रूसी उपन्यासकार टाल्स्टाय, दुनिया जिसका लोहा मानती है, वह प्लेखनाव के लिए केवल 'उच्चवर्ग के घोसलों का इतिहास लेखक है।' और उसने उस महान् कलाकार को केवल 'धनी कलाकार के मनोविज्ञान' तक उतार दिया है।

"लेकिन लेनिन का दृष्टिकोण सर्वथा दूसरा था। 'भौतिक परिस्थितियाँ और वर्ग-संघर्ष ही मनुष्य की चेतना का निर्माण करते हैं' इस सिद्धान्त का ज्यादा गम्भीर अर्थ उसने ढूँढ़ा था। लेनिन ने टाल्स्टाय को केवल इस निगाह से नहीं देखा था कि वह वैभवशाली वर्ग में पैदा हुआ था, या उसने वैभवशाली वर्ग का चित्रण किया था। लेनिन की निगाह में व्यापक सामाजिक पृष्ठभूमि थी। स्वयं लेनिन ने लिखा है कि 'टाल्स्टाय का महत्त्व इस बात में था कि उसकी कलम से वह करोड़ों बेजबान जनता बोल उठी थी जिसमें असन्तोष तो था पर अभी विद्रोह कर पाने की आग नहीं धधकी थी।' प्रश्न यह उठता है कि क्या एक धनीवर्ग का, उच्चवर्ग का कलाकार निम्नवर्ग की भावनाओं का चित्रण कर सकता है। क्या वह आगे आनेवाली दुनिया का सन्देशवाहक बन सकता है ? क्या वह अपने वर्ग और अपने युग के परे अपने साहित्य का सन्देश विस्तारित कर सकता है।

"प्लेखनाव इसको नहीं स्वीकार करता है। उसके सिद्धान्त में तो केवल एक यान्त्रिक विभाजन है। यदि कलाकार धनी वर्ग में पैदा हुआ है तो वह धनीवर्ग की ही भावनाएँ चित्रित कर सकता है बस !

"अगर शेक्सपीयर ने कहीं पर यह दिखलाया है कि उसके प्रसिद्ध पात्र रोमियो

रचनावली

ने कहा है–'टूट जा ओ हृदय ! तेरा दिवाला निकल गया है !' इसी दिवाला निकलने के सूत्र पर संकीर्ण वर्गवादी अपना विश्लेषण शुरू कर देंगे और इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि शेक्सपीयर धनी वर्ग का प्रतिनिधि था और निश्चित तौर से इस शब्द के प्रयोग में वह लन्दन के सौदागरों से प्रभावित था।

"वास्तविकता यह है कि साहित्य का प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी होना लेखक के किसी भी जन्मजात संस्कार पर निर्भर नहीं होता। कोई भी लेखक जन्म से ही प्रगतिशील या प्रक्रियावादी नहीं होता। वह धीरे-धीरे अपनी अनुभूतियों के आधार पर प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी बन जाता है। हर लेखक जो महान् होता है, अपने युग के प्रगतिशील तत्त्वों को पहचानता है और उन्हें लेकर आगे बढ़ता है। स्वयं लेनिन ने इसे स्वीकार किया है कि हर महान् लेखक में क्रान्ति के कुछ न कुछ तत्त्व अवश्य रहे हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि लिफशित्ज ने एक बार फिर बजाय वर्ग के लेखक की प्रतिभा और लेखक के व्यक्तित्व की महानता को स्वीकार किया है लेखक केवल अपने वर्ग और परिस्थितियों से निर्मित नहीं होता। उसका विकास अधिक गहरा और एक ज्यादा ऊँचाई के स्तर पर होता है, और उसे वर्गात्मक निश्चयवाद (Class&determinism) के सीमित मापदण्ड से हम नहीं माप सकते। यह स्वयं लिफशित्ज का विचार है। लेखक अपने वर्ग से ऊपर उठा हुआ होता है, उसका दृष्टिकोण अधिक व्यापक, अनुभूतियाँ अधिक गहरी, और कल्पना अधिक ऊँची होती है। लिफशित्ज एक स्थान पर पुश्किन के लिए लिखता है–"निश्चय ही पुश्किन बोर्जुआ वर्ग का था, लेकिन पुश्किन महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति था जब कि बोर्जुआ केवल एक खोखला निष्क्रियवर्ग मात्र था।" अतः लिफशित्ज ने फिर यह स्वीकार कर लिया कि कुछ लेखक होते हैं जिनमें महान् असाधारण प्रतिभा होती है और वे धीरे-धीरे युग की अनुभूतियों को समेटकर, उनका समन्वय कर, उन्हें क्रान्तिकारी दिशा में मोड़कर युग को अपनी प्रतिभा की महान् देन दे जाते हैं। केवल किसी पार्टी के मेम्बर या संघ के सदस्य बनने से ही कोई क्रान्तिकारी लेखक नहीं होता और न किसी विशेष वर्ग में पैदा होने से।

अब दूसरा प्रश्न आता है कि क्या हम संकीर्ण वर्ग-संघर्ष की ही कसौटी पर समस्त प्राचीन साहित्य का उचित मूल्यांकन कर सकते हैं ? लिफशित्ज इसका भी उत्तर 'नहीं' में देता है। वह कहता है–"वर्ग-संवर्ष की ही व्याख्या बदलनी पड़ेगी, यदि हम साहित्य को वर्ग-संघर्ष की कसौटी पर कसना चाहते हैं।" अभी तक रूस में संकीर्ण वर्गवादियों ने जिस तरह वर्ग-संघर्ष की कसौटी पर प्राचीन साहित्य को कसा है, उसका मजाक बनाते हुए वह लिखता है–"स्पष्ट है कि इन संकीर्ण वर्गवादियों की मनोवृत्ति उतनी उदार और व्यापक नहीं है जितनी लेनिन की थी। रूस की पाठ्य पुस्तकों में अनातोले फ्रांस को मध्यम बोर्जुआ मनोवृत्ति का और रोम्याँ रोलाँ

को 'क्षुद्र बोर्जुआ' आदर्शों का लेखक बताया गया है। इन संकीर्ण वर्गवादियों की आलोचनाओं में इस महान् प्राचीन साहित्य का बड़ी निर्ममता से विश्लेषण किया गया है। ये लोग केवल अपनी संकीर्ण मनोवृत्तियों में ही सन्तुष्ट हैं और व्यापक दृष्टिकोण से साहित्य का आकलन नहीं करना चाहते। अगर हम उनकी बात का विश्वास करें तो हम इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि दुनिया की सारी कला का इतिहास महज किसी हड्डी के टुकड़े के लिए लड़ते हुए विभिन्न बुद्धिहीन लोगों का इतिहास है।"

अतः लिफशित्ज केवल वर्ग-संघर्ष के संकीर्ण दृष्टिकोण से समस्त महान् कला का विश्लेषण करने का विरोधी है। वह लिखता है-"अक्सर हमारे साहित्य का इतिहास लिखनेवाले बहुत भ्रम में पड़ जाते हैं क्योंकि उसी लेखक के लिए कम-से-कम पच्चीस या तीस वर्गवादी परिभाषाएँ हैं। अजब सी स्थिति है यह ! यह स्पष्ट है जिसके पास जरा सी भी बुद्धि है वह प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में वर्गवाद के सिद्धान्त को मक्षिका स्थाने मक्षिका बिठा सकने में असमर्थ है। यह एक असम्भव काम है। स्वयं मार्क्स ने महान् जर्मन कवि गेटे और शिलर के विषय में लिखते हुए कहा था-यहाँ (कविता के देश में) हम राजों और वर्गों की बात ही नहीं कर सकते। यहाँ तो हम केवल उन राज्यों की बात कर सकते हैं जो भविष्य में कभी होंगे !"

अतः लिफशित्ज न केवल कवि या लेखक की व्यक्तिगत व्यापक और महान् समन्वयकारी प्रतिभा का अस्तित्व स्वीकार करता है वरन् वह संकीर्ण वर्गवादी विश्लेषण का भी कला के क्षेत्र में निषेध करता है। उसका कहना है कि वर्ग-संघर्ष की अपेक्षा कला-क्षेत्र में वर्ग सम्मिश्रण अधिक महत्त्वपूर्ण है। कई वर्ग आपस में उलझे होते हैं। कलाकार उनमें से सभी के वह तत्त्व ढूँढ़ निकालता है जो ज्वलन्त, प्रकाशमान और स्थायी होते हैं और इसलिए किसी भी प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करते वक्त हमें केवल इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इसमें कौन चीज जीवित और स्थायी है और कौन चीज मरणशील और स्थायित्वहीन ! कौन-सी वस्तु आगे आनेवाले भविष्य में जीवित रहेगी और कौन-सी चीज जीवित न रह सकेगी।

स्पष्ट है कि इस प्रकार लिफशित्ज ने न केवल वर्ग-संघर्ष की संकीर्ण पृष्ठभूमि में साहित्य को तौलने का निषेध किया है वरन् वह साहित्य को सामयिक भी नहीं बनाना चाहता। वह कुछ ऐसे तत्त्व साहित्य में चाहता है जो सूर्य बनकर जगमगाते रहें, जो तूफान के झोंकों में बुझ न जायँ। इसका पूरक सिद्धान्त निश्चय ही यह होगा कि आधुनिक साहित्य चाहे वह सामयिक समस्याओं को लेकर ही क्यों न हो, लेकिन वह केवल 'सामयिक' न हो उसमें जिन्दा रहने की ताकत हो।

रूस के आधुनिक आलोचकों में आधुनिक प्रगतिवादी साहित्य के खिलाफ कुछ इस तरह की शिकायतें सुनाई पड़ने लग गयी हैं। युद्ध के बाद सन् 1945

रचनावली

में प्रथम मई को प्रकाशित 'डरो मत' शीर्षक एक लेख में ट्रेवलीन नामक नाटककार ने लिखा है–"युद्ध के दौरान में लिखे गये रूसी साहित्य में कई जगह जीवन के ज्वलन्त चित्रण हैं। आग, गुस्सा और प्यार अक्सर छलक आया है, लेकिन अधिकतर इन चार वर्षों में बहुत कुछ ऐसा मसाला इकट्ठा हो गया है जिसमें कोई मौलिकता नहीं। कविता, गद्य और नाटक सभी में बहुत गम्भीर समस्याओं को बहुत छिछले स्तर से समझने का प्रयास किया है। 1943 की थियेट्रिकल कान्फ्रेंस में यह कहा गया था कि स्टालिनग्राड के मोर्चे के विषय में कम से कम 10 नाटक लिखे गये थे, लेकिन हमें यह अफसोस है कि उनमें से एक भी नहीं बचा। क्या इसका कारण बतलाने की जरूरत है ? स्पष्ट है कि वह साहित्य नहीं था वे कलात्मक या काव्यात्मक कृतियाँ नहीं थीं··· यह इतना स्पष्ट है कि अपनी कमजोरियाँ हमें छिपानी नहीं चाहिए। इससे हमारा रास्ता और भी स्पष्ट होने में मदद मिलेगी।"

ट्रेवलीन का यह वक्तव्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि रूस के साहित्यिक और कलाकार अब स्पष्ट समझ रहे हैं कि किसी भी कलाकृति के महान् होने के लिए केवल प्रगतिशीलता का ट्रेडमार्क काफी नहीं है। केवल इसलिए कि कोई भी कलाकृति किसी राजनीतिक विषय पर है, इसलिए वह महान् होगी, यह गलत है। सबसे बड़ी बात यह है कि कला को स्थायी होना चाहिए।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामयिक रचनाओं का महत्त्व होता है। प्रसिद्ध रूसी लेखक इलिया एहलेनबर्ग ने लिखा है कि अगर एक क्षण में किसी राष्ट्र का भाग्य निर्णय होने जा रहा है तो लेखक को यह जानना चाहिए कि वह उस क्षण के लिए क्या लिखे। ठीक है, लेकिन मानवता का भाग्य निर्णय क्षणों में नहीं युगों में होता है। हमें स्पष्ट विभाजन कर देना चाहिए। पत्रकार क्षणों के लिए लिखे, साहित्यकार युगों के लिए। आज का रूसी साहित्यकार भी इसी नतीजे प्रर पहुँचा है। समस्या चाहे कुछ हो, लेकिन रचना में नारेबाजी ही केवल न हो, स्थायित्व हो, व्यापकता हो। वह हर वर्ग के लोगों का हृदय छू सके। हर युग के लोगों का हृदय छू सके।

साहित्य की अपील वर्ग की सीमाओं से ऊपर होती है यह बहुत सीमा तक रूसी साहित्यकारों ने भी पहचान लिया है। लिफशित्ज और केमेनाव ने तो 'वर्ग साहित्य' की अपेक्षा राष्ट्रीय साहित्य की आवाज बुलन्द की। वर्ग के स्थान पर राष्ट्र–(Narodny) ही प्रमुख हो गया। केमनाव ने शेक्सपीयर को बजाय किसी एक वर्ग के सभी वर्ग का कवि, राष्ट्र का कवि बताया है। ए. गस्टीन ने यद्यपि लिफशित्ज की प्रत्यालोचना अपने 'समाजवादी यथार्थवाद की समस्याएँ' शीर्षक लेख में की है, उसने भी अधिक से अधिक राष्ट्रीय साहित्य की अपेक्षा जन-साहित्य को प्रमुख बतलाया है, किन्तु वर्ग साहित्य की संकीर्ण धारणा के वह भी विरुद्ध है।

इस समय रूस में सभी प्राचीन साहित्यकारों का आदर हो रहा है। सभी राष्ट्रीय

रचनावली

परम्पराओं और प्राचीन कलाओं का उद्धार किया जा रहा है। प्राचीन वस्तुओं को राष्ट्रीय सम्पत्ति समझा जाता है और उनका सम्मान किया जाता है। वह केवल साहित्य में ही सीमित नहीं है, चित्रकला में प्राचीन रूसी चित्रकार रेपिन और सुरिकाव को फिर से उठाया गया है और उन्हें चित्रकला का आदर्श माना जा रहा है। युद्ध-कला में प्राचीन योद्धा सुवराव और कुटूजाव को आदर्श माना जाता है। प्राचीनता के प्रति कितना प्रेम रूसियों में बढ़ गया है यह 1945 में ज्नाम्या के 9 वें अंक में प्रकाशित ए. बुसेव के 'युद्ध और स्थापत्य कला' शीर्षक लेख में कहा गया है–"कान्स्ट्रक्टिविज्म भद्दी और बुरी शैली है। कान्स्ट्रक्टिविज्म यानी नयी इमारतों की शैली···हम लोगों को अब पुरानी सुन्दर शैलियों की ओर लौट चलना चाहिए।"

अब तो ऐसा लगता है जैसे जार के रूस और स्टालिन के रूस का ऐतिहासिक और परम्परात्मक भेद समाप्त हो गया। रूसी जनता अपनी और अपने इतिहास की मूल एकता पहचान गयी है। यही नहीं वरन् अब पुश्किन को राष्ट्रीय कवि मान लिया गया है और उसकी जयन्ती मनाई जाती है और जिस मायकावस्की ने लिखा था कि वह कुछ भी प्राचीन पढ़ना नहीं चाहता, उसने उसी पुश्किन की जयन्ती पर लम्बी-चौड़ी कविता लिखी थी, जिस पुश्किन की संकीर्ण वर्गवादियों ने बोर्जुआ कहकर निन्दा की थी।

विदेशों के उच्च और स्थायी साहित्य का भी रूसी जनता आदर करती है, और शायद अंग्रेजी को छोड़कर किसी भी राष्ट्र की भाषा में उच्च विदेशी साहित्य के इतने अनुवाद न मिलेंगे जितने रूसी भाषा में। सौमुएल मारशाक ने लगभग समस्त अंग्रेजी गीत-साहित्य का अनुवाद कर डाला होगा। महान् रूसी कवि पेस्टरनाक ने शेक्सपीयर का अनुवाद कर डाला है। लिवक ने कोलरिज जैसा रहस्यवादी कवि उठाया है। प्रसिद्ध ग्रामीण स्काटिश प्रेम-कवि राबर्ट बर्न्स तो रूसियों को बहुत प्यारा है। आज रूसी लोग बहुत ही स्पष्ट स्वरों में यह स्वीकार करते हैं कि प्राचीन महान् लेखक ही उनके आदर्श हैं। 1946 में लेखक-संघ के सभापति की हैसियत से टिखानाव जो स्वयं किपलिंग का भक्त है लोगों को सलाह देता है कि वे शेक्सपीयर की कला को अपना आदर्श मानें।

यही कारण है कि आज रूस में यद्यपि गोर्की और टाल्स्टाय जैसे महान् लेखक नहीं हैं, पर वे लोग निराश नहीं हैं। उन्होंने सभी संकीर्णताओं की जंजीरों को तोड़ डाला है। अपनी प्राचीन परम्परा की विशृंखल कड़ियों को फिर से सँवार लिया है और सभी तरह के वर्गवाद से ऊपर उठकर अब वे व्यापक सत्य के उस स्तर पर पहुँच गये हैं जहाँ युग-युग का साहित्य लिखा जा सकता है। इसीलिए उनके साहित्य में वह निराशा नहीं जो पश्चिम के साहित्य में है। वे जानते हैं कि इस युद्ध ने रूस की आत्मा को निखार दिया है, रूस को नया बल और नयी दिशा दी है। नयी व्यापक दृष्टि और उदार चेतना दी है। उनका पूरा विश्वास है कि "युद्ध के

रचनावली

बाद का रूसी साहित्य कुछ और ही होगा। नेपोलियन के युद्ध के बाद टाल्स्टाय और डास्टावस्की आये थे, युद्ध के बाद फिर कोई नयी प्रतिभा आयेगी" (श्कोलोवास्की)। अभी रूसी साहित्य में वह महान् कलाकार नहीं आया है, लेकिन भविष्य का वह महान् कलाकार आयेगा, और अवश्य आयेगा यह रूसी जनता का विश्वास है और मेरा भी लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि रूस इस भविष्य की महान् कला का सपना तभी देख सका जब वह प्राचीन और स्थायी के महत्त्व को समझ गया, और जब वह देश और काल की सीमा में बँधकर ही नहीं रह गया–जब रूस एक व्यापक और स्थायी साहित्यिक स्तर पर उठ गया और उसने वृत्त पूरा कर लिया और घूम-फिरकर फिर इसी सिद्धान्त पर आ गया कि कला युग-युगों की एक स्थायी चीज है; एक चिरन्तन निर्माण है जो न कभीं बूढ़ा होगा, न कभी मैला पड़ेगा।

रचनावली

क्या प्राचीन राष्ट्रीय इतिहास पर लिखा गया साहित्य पलायनवादी है ?

किसी भी देश का इतिहास उसकी स्थायी सम्पत्ति होता है। किसी जाति की संस्कृति उन विगत ऐतिहासिक प्रयोगों का समन्वय है जो अतीत काल में होते रहे हैं। संस्कृति 'संस्कार' शब्द से ही बनी है। जिस दिन से मानव ने दो पैरों पर चलना सीखा तभी से उसने परिस्थितियों से लड़ना और युगों का निर्माण करना शुरू कर दिया। हर युग में असत्य के किसी न किसी अंश से वह लड़ता रहा और सत्य के किसी न किसी अंश को प्रतिष्ठित करता गया। युगों की धूपछाँह से गुजरती इस लम्बी यात्रा की हर मंजिल, उस जाति को नये सत्यं शिवं और सुन्दरं के संस्कारों को देती गयी और उन्हीं संस्कारों से समन्वित जातीय जीवन को हम किसी देश की संस्कृति कहकर पुकारते हैं। जिस देश का इतिहास सत्य के प्रयोगों में सब से ज्यादा सम्पन्न होता है, उस देश की संस्कृति उतनी ही महान् होती है। जिस देश की संस्कृति जितनी ही महान् और प्राचीन होती है वह देश अपने को उतना ही गौरवान्वित और सशक्त समझता है; और बदलती हुई परिस्थितियों में, बदलते हुए युगों में, वह अपने को उतना ही शान्त और शक्तिशाली बनाये रखने का प्रयास करता है क्योंकि उसका इतिहास इतना पुराना है। उसकी चेतना और संस्कृति में जाने कितने युग आये और मिटे, उस देश के महान् ऐतिहासिक व्यक्तियों ने कितने युग बनाये और मिटाये, और अपने प्राचीन इतिहास के महान् प्रयोगों की समृतियों को पुनर्जीवित कर वह देश फिर अपने में ताकत बटोरता है और अपने को किसी बहुत बड़े और नये प्रयोग के लिए तैयार करता है।

हिन्दी साहित्य के छायावादी युग के महानतम कलाकार प्रसाद ने भी अपने नाटकों में इसी उद्देश्य से इतिहास की पृष्ठभूमि उठाई थी, और उन्होंने हमारे सामने भारतीय इतिहास के वे युग रक्खे जिनमें हमारे प्राचीन युगपुरुषों ने नये युग बनाये थे और पुराने युग मिटाये थे, उन्होंने हमारे सामने वे महान् प्रयोग रक्खे जिनमें भारतीय राष्ट्र की संस्कृति के छिन्न-भिन्न होते हुए तारों को फिर से गूँथने का प्रयास किया गया था, जिनमें राष्ट्र ने अपने आपसी भेदभाव भुलाकर विदेशी शोषकों

के विरुद्ध लड़ाई ठानी थी और मानवता के खिलाफ अत्याचार करनेवाले कदीमी फैसिस्टों के ज़हरीले दाँत तोड़े थे।

लेकिन इसके बावजूद भारतीय प्रगतिवादी आलोचकों ने प्रसादजी को पलायनवादी माना है और अपने सिद्धान्त की व्याख्या यों की है कि प्रसादजी ने वर्तमान परिस्थितियों का समुचित समाधान न खोज पाकर प्राचीन इतिहास के स्वर्ग में अपनी चेतना को डुबो दिया। पहले तो ऐसा लगता था कि शायद हिन्दी के प्रगतिवादी लेखक केवल वर्तमान की ही समस्याओं को साहित्य के लिए उपयुक्त समझते हैं और अतीत का उनके लिए कोई महत्त्व नहीं है। वे प्राचीन इतिहास से अपना सारा सम्बन्ध ही तोड़ लेना चाहते हैं।

किन्तु बाद में हमने देखा कि स्वयं राहुलजी ने भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। उस समय प्रगतिवादी आलोचना में यह स्वर सुनाई पड़े कि प्राचीन इतिहास के चित्रण में हमें केवल बड़े-बड़े राजाओं के वैभवशाली महलों का, रोमांटिक प्रेम-कथाओं का साम्राज्य के लिए युद्धों का ही चित्रण नहीं करना चाहिए। हम इतिहास के जिस युग को भी उठावें तो उसके वर्ग-संघर्ष की परिस्थितियों का चित्रण करें। उच्चवर्ग के शासकों या राजकुमारों के बजाय, उस समय के निम्न वर्ग का और उनमें सुलगती हुई वर्ग-संघर्ष की चिनग़ारी का चित्रण करें। राहुल ने कुछ और उपन्यास लिखे और यशपाल ने दिव्या लिखी। वे उपन्यास कितने सफल हैं, इसकी जाँच हमारे क्षेत्र के बाहर है। मैं आपको केवल यह बताना चाहता हूँ कि रूसी सोवियत साहित्य इन दोनों संकीर्ण मान्यताओं को अस्वीकृत कर चुका है। न वह प्राचीन इतिहास को त्याज्य मानता है और न इसी सिद्धान्त में विश्वास करता है कि प्राचीन इतिहास को राष्ट्रीयता की दृष्टि से न देखा जाकर केवल वर्ग-संघर्ष की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। रूस ने प्राचीन इतिहास के राष्ट्रीय प्रयोगों के आधार पर वर्तमान संस्कृति का विश्लेषण और भावी संस्कृति के निर्माण का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है।

सन् 1912 के लगभग रूसी साहित्य में जो फ्यूचरिस्ट आन्दोलन चल पड़ा था, उसका यह आग्रह था कि प्राचीन को—अतीत को बिल्कुल भूल जाना चाहिए। मायकावस्की ने सभी प्राचीन इतिहास और साहित्य के विरुद्ध एक निर्मम युद्ध घोषित किया था। उसकी तथा उस समय के प्रमुख मार्क्सवादी विचारकों की दृष्टि में, वर्तमान युग के लिए प्राचीन इतिहास का कोई महत्त्व नहीं था, नये युग के लिए एक सर्वथा नवीन कला, नवीन इतिहास और नवीन व्यवस्था की आवश्यकता थी। सामयिक समस्याओं पर लिखने की माँग इतनी अधिक बढ़ गयी थी कि इतिहास के पन्ने उलटने में किसी भी लेखक को प्रोत्साहन नहीं मिलता था। फिर भी सन् 1920 के लगभग कुछ ऐतिहासिक उपन्यास छपे थे। ओल्गाफार्श ने अपना 'ब्लड इन स्टोन' नामक उपन्यास 19वीं शती के कुछ क्रान्तिकारियों के विषय में लिखा था। इसी प्रकार डिसम्बरिस्ट क्रान्तिकारियों के विषय में 'खुखल्या' और लेखक ग्रिबोयेडोव

रचनावली

के जीवन पर 'डेथ ऑफ वजीर मुख्तार' नामक उपन्यास निकाला था।

लेकिन राष्ट्रीय इतिहास पर उपन्यास न लिखे जाने का मुख्य कारण यह था कि उस समय भी उन संकीर्ण मार्क्सवादियों की प्रधानता थी जो इतिहास में राष्ट्रीय संस्कृति के विकास को महत्त्व न देकर केवल उत्पादन के साधन, वर्ग-संघर्ष और राज्य-व्यवस्था को महत्त्व देते थे। उनका नेता था पोक्रोवस्की (1868-1932)। वह जी. यू. एस. (सोवियत विद्वत्परिषद्) और नारकाम्प्रास (जन-शिक्षा-विभाग) का अध्यक्ष था। वह दुनिया का महानतम मार्क्सवादी इतिहासज्ञ कहा जाता था और सोवियत शिक्षा और सोवियत साहित्य में इतिहास के प्रयोग के विषय में उसकी आवाज सबसे ऊँची थी। उसका 'रूस का संक्षिप्त इतिहास' सर्वोत्तम ग्रन्थ माना जाता था। वह इतिहास को केवल आर्थिक उत्पादन के परिवर्तनों की छाया मात्र मानता था और हर घटना की व्याख्या वर्ग-संघर्ष के आधार पर करता था। न वह इतिहास के राष्ट्रीय पक्ष को स्वीकार करता था और न किसी भी देश के इतिहास में व्यक्तियों का महत्त्व स्वीकार करता था। वह प्लेखनाव का अनुयायी था और प्लेखनाव के सिद्धान्त को वह अपनी व्याख्याओं में बहुत यान्त्रिक सीमाओं तक खींच ले गया था।

लेकिन जैसा पहले बताया जा चुका है, 1932 के लगभग आवरबाख की साहित्यिक तानाशाही को स्टालिन ने खत्म किया। लगभग उन्हीं दिनों पोक्रोवस्की के यान्त्रिक इतिहास-विज्ञान का मरसिया भी पढ़ा गया। 1931 में सेण्ट्रल कमेटी के एक प्रस्ताव के अनुसार इतिहास को स्कूलों में राजनीति से अलग एक स्वतन्त्र विषय बनाया गया। 1934 में दूसरे प्रस्ताव के द्वारा इतिहास के आर्थिक पक्ष के अलावा व्यापक सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टिकोण पर भी ध्यान देने की आवश्यकता बताई गयी है। उसी वर्ष स्टालिन, ज्डैनाव और किराव ने मिलकर रूसी इतिहास पढ़ाने की शैली की व्याख्या करते हुए एक पुस्तक लिखी। 1936 में सेण्ट्रल कमेटी ने एक प्रस्ताव में स्पष्ट कहा कि पोक्रोवस्की का ऐतिहासिक दृष्टिकोण, इतिहास का बहुत गलत रूप हमारे सामने रखता है। 1938 में जब बोल्शेविक पार्टी का अधिकारिक इतिहास लिखा गया तो उसके साथवाले प्रस्ताव में स्पष्ट कहा गया—"इतिहास के अध्ययन में अभी तक पोक्रोवस्की के समूह ने बहुत गलत और मार्क्स विरोधी व्याख्या प्रस्तुत की थी। पोक्रोवस्की को ऐतिहासिक भौतिकवाद का जरा भी ज्ञान नहीं था। उसने प्राचीन इतिहास की व्याख्या वर्तमान परिस्थिति के आधार पर की है, जो बिल्कुल गलत है!" और जब इससे भी सन्तोष न हुआ तो बहुत से लेखकों के, पोक्रोवस्की के सिद्धान्तों के विरुद्ध लिखे गये लेखों का पूरा संग्रह ही छपवाया गया।

पोक्रोवस्की के विरुद्ध किया जानेवाला यह आन्दोलन इसलिए आवश्यक था कि सोवियत रूस इतिहास को एक नये रूप में समझना चाहता था और आर्थिक

उत्पादन और वर्ग-संघर्ष के अलावा इतिहास का राष्ट्रीय और यथार्थ दृष्टिकोण अपनाना चाहता था जिसमें समाज और व्यक्ति, वर्ग और राष्ट्र दोनों का सापेक्ष और सन्तुलित महत्त्व हो।

साहित्य में यह चेतना सबसे पहले सन् 1930 में आयी। अलेक्सी टाल्स्टाय ने 'पीटर महान्' नामक उपन्यास का पहला भाग लिखा। 'पीटर महान्' में इतिहास की व्याख्या वर्गवादी और आर्थिक आधार पर न कर, उदार और व्यापक राष्ट्रीय आधार पर की गयी थी। उस समय तक आबरवाख की प्रोलेटेरियट तानाशाही बरकरार थी। संकीर्ण मार्क्सवादी व्याख्या की सीमाएँ इस उपन्यास के द्वारा टूटते हुए देखकर आवरबाखं ने अपने फौलादी पंजे फैलाये। स्वयं अलेक्सी टाल्स्टाय ने अपनी आत्मकथा में लिखा है–" 'पीटर महान्' जब रंगमंच पर खेला गया तभी आर. ए. पी. पी. ने उसका विरोध किया। उसके बाद स्वयं कामरेड स्टालिन ने हस्तक्षेप किया और पीटर के युग की सही-सही व्याख्या पेश की।··· जब दो साल बाद आर. ए. पी. पी. भंग कर दिया गया तब अपने आप मेरी विरोधी आलोचना खत्म हो गयी और तब शान्ति से मैं अपनी सारी शक्ति साहित्यिक कार्यों में लगा सका।" उन्हीं दिनों शैपीजिन ने स्टेंकारेजिन नामक उपन्यास लिखा जिसमें 17वीं सदी की पृष्ठभूमि थी। कोस्त्येलेव ने भी 'मिनिन एण्ड पजरस्की' नामक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। उपन्यास के अलावा पीटर महान् अलैक्जेण्डर नेव्स्को और सुवरोव पर ऐतिहासिक सिनेमा चित्र भी बने।

ऐतिहासिक उपन्यासों और सिनेमा चित्रों के अलावा राष्ट्रीयता का समावेश दूसरे क्षेत्र में हुआ। आलोचना के क्षेत्र में भी राष्ट्रीय कवियों का महत्त्व स्थापित हुआ और कवि को बजाय अपने वर्ग के, अपने राष्ट्र का प्रतिनिधि माना गया। सन् 1937 में पुश्किन की शताब्दी मनाई गयी और दो उपन्यास भी उसके जीवन पर लिखे गये। एक तो था ग्रासमैन का 'डेथ आफ पोएट' और दूसरा था यूजिन का 'पुश्किन इन साउथ !'

युद्ध ने राष्ट्रीयता के आन्दोलन को पूर्णतया परिपक्व बना दिया। रूस और जर्मनी में युद्ध छिड़ने के समय तो अवश्य स्टालिन ने उसे लोक-युद्ध बताया, लेकिन ज्यों-ज्यों जर्मन लोग मास्को के समीप पहुँचते गये त्यों-त्यों वह युद्ध 'राष्ट्रीय अस्तित्व' का युद्ध बनता गया। उस समय बिना एक राष्ट्रीयता का आधार लिए रूस की जीत होना असम्भव था। ऐसे संकट के समय में आदमी को तर्क या सिद्धान्त बल नहीं देता, उस समय उसे भावना ही बल देती है। एक व्यापक समझौता और राष्ट्रीयता की धधकती हुई भावना ही उस समय रूसी सेना का बल कायम रख सकती थी। अनुदार मार्क्सवाद के पंजे ढीले किये गये, जुखोब जैसे अ-मार्क्सवादी को जेनरल बनाया गया। ज्यों-ज्यों युद्ध की भयंकरता बढ़ती गयी त्यों-त्यों यह स्पष्ट हो गया कि यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रोलेटेरियट का नहीं, रूसी राष्ट्र का युद्ध था।

रचनावली

इसके लिए मार्क्सवाद नहीं वरन् देशभक्ति ही ढाल बन सकती थी। 7 नवम्बर सन् 41 में जब मास्को जर्मनी से घिर रहा था उस समय महान् नेता स्टालिन ने अवसर की उपयुक्तता समझकर अपने ऐतिहासिक भाषण में कहा था–"अलैक्जेण्डर, नेव्स्की, डिमिट्री डान्स्की, मिनिन और पोजार्स्की, सुबारोव और कुटुजोव–हमारे इन महान् पूर्वजों की आत्माएँ इस महायुद्ध में हमें प्रेरणा देंगी।"

किस प्रकार 'प्राचीन पूर्वजों की आत्माओं' ने महान् रूस राष्ट्र को बल दिया यह इससे स्पष्ट है कि रूस के इतिहास के बहुत बदनाम मगर शक्तिशाली पात्र 'इवान भयंकर' को नये रूप में साहित्य और चित्रों में पेश किया गया। अभी तक इवान को एक भयंकर अत्याचारी शासक माना जाता था, लेकिन 'इवान भयंकर' के चित्र के निर्माता आइसेन्स्टीन ने कहा–"उसका महान् चरित्र जर्मनों द्वारा गलत ढंग से चित्रित किया गया था। जर्मन हमारे स्थायी दुश्मन हैं, और जो कुछ हमें प्रिय है उसे विकृत करने के लिए हमेशा उत्सुक रहते हैं!" अलेक्सी टाल्स्टाय ने 'इवान भयंकर' पर जो नाटक लिखा उसकी भूमिका में लिखा–"जर्मनों ने हमारे महान् देश का जो अपमान किया है उसके विरोध में मैं यह नाटक लिख रहा हूँ। अपने क्रुद्ध अन्तःकरण को युद्ध के लिए सन्नद्ध करने के लिए मैं इवान भयंकर की महान् आवेशमयी रूसी आत्मा का आह्वान करता हूँ।"

भारत के प्रगतिवादी आलोचक जो शायद स्टालिन से ज्यादा बड़े मार्क्सवादी हैं और अलेक्सी टाल्स्टाय से ज्यादा प्रगतिशील हैं, उन्हें प्रसादजी के प्राचीन ऐतिहासिक नाटकों में पलायनवाद दिखलाई दिया था, हालाँकि उनके पितृदेश के लेखकों ने अपने देश की आजादी की लड़ाई में अपने राष्ट्रीय इतिहास का पूरा उपयोग किया। अगर रूस 'इवान भयंकर' की आत्मा का आह्वान करता है तो यह 'लोकयुद्ध' हुआ और यदि भारत 'चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, अजातशत्रु' का आह्वान करता है तो यह पलायनवाद हुआ। आँखों पर चढ़ा हुआ मानसिक गुलामी का चश्मा कभी-कभी ऐसे ही करिश्मे दिखलाता है।

राष्ट्रीयता की भावना की इस पुनःस्थापना में आर्थिक पहलू की प्रधानता नहीं थी। वैसे हम खींच-तान कर चाहे राष्ट्रीय भावना की वर्गवादी व्याख्या कर लें, लेकिन वास्तविकता यह है कि राष्ट्रीय भावना किसी भी देश की सम्पूर्ण जनता में होती है। इस दृष्टि से जनता अविभाज्य है, जहाँ पर राष्ट्र का प्रश्न आता है जनता अपने को वर्ग में न बाँटकर, अपने को एक समझती है और दृढ़ बनती है। इसीलिए इधर सोवियत आलोचना में वर्ग के स्थान पर जन, राष्ट्र या 'नैरोद्नी' शब्द इस्तेमाल होने लगा है। गर्स्टीन और लिफशित्ज ने भी जन-साहित्य, राष्ट्रीय साहित्य या 'नैरोद्निक' साहित्य लिखने का आग्रह किया है। हमें याद रखना चाहिए कि 'नैरोद्निक' शब्द टाल्स्टाय का प्रिय शब्द था। यद्यपि कालान्तर में रूस के कुछ जमींदारों ने मिलकर 'नैरोद्निक' पार्टी बनाई थी जो एक प्रतिक्रियावादी दल था,

और बोल्शेविकों को क्रान्ति करने के लिए उनसे काफी कड़ा मोर्चा लेना पड़ा था। तब से 'नैरोद्‌निक' शब्द जरा बदनाम सा हो गया था, क्योंकि इस चरम प्रगतिशील नाम के पीछे चरम प्रतिक्रियावादी दल था, (जैसे जनता पार्टी के भेष में मुस्लिम लीग) लेकिन धीरे-धीरे रूसी आलोचकों ने इस शब्द का महत्त्व पहचान लिया और अब वे लोग प्रोलेटेरिय़ट वर्ग का साहित्य न लिखकर अपने 'जनगण' का साहित्य लिखते हैं।

इस राष्ट्रीय साहित्य और विशेषतया इन ऐतिहासिक उपन्यासों का मुख्य लक्ष्य है अपनी उस प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा का पुनरुद्धार, जिसके बल पर आज के सोवियत राष्ट्र की शक्ति और प्रतिभा आधारित है। यान जो स्वयं ऐतिहासिक राष्ट्रीय उपन्यासों का लेखक है, लिखंता है—"हमारे देश के लोगों का अतीत, विशेषतया महान् रूसी लोगों का अतीत, ऐतिहासिक उपन्यासों के महान् कथानकों का अमूल्य खजाना है। अपने अतीत के ही द्वारा आज की रूसी जनता का मनोविज्ञान और चरित्र समझ सकते हैं। इसीलिए आज के युग में लिखा जानेवाला राष्ट्रीय ऐतिहासिक उपन्यास वर्तमान से भागना नहीं है। वर्तमान और यथार्थ को अधिक गहराई से समझने का प्रयास है।"

मैं यह जानना चाहूँगा कि जिन भारतीय प्रगतिवादियों ने ऐतिहासिक कथानक अपनाने के कारण प्रसादजी को पलायनवादी बतलाया है उनके पास उपरोक्त उद्धरण का क्या जवाब है ? क्या रूस के साहित्यिक भी पलायनवादी हो रहे हैं ? क्या प्रगतिवाद केवल प्रगतिशील लेखक-संघ और जनप्रकाशन गृह की सीमाओं तक ही बँधकर रह गया ? मेरी राय में भारत के प्रगतिवादियों को ठण्डे दिल से यह सोचना चाहिए कि यह संकीर्णता दिखलाकर उन्होंने किसका नुकसान किया। भारतीय जनता की महान् प्राचीन राष्ट्रीय परम्पराओं को पलायनवाद बतलाकर उन्होंने जनता का कितना बड़ा अपमान किया है। और तिस पर तुर्रा यह कि आप अपने को जनता का कलाकार साबित करने के लिए गला फाड़-फाड़कर जमीन-आसमान एक कर रहे हैं।

अब तो यह भी आरोप व्यर्थ है कि प्रगतिवादी ऐतिहासिक कथाओं में केवल जनता का चित्रण होना चाहिए। महान् सामन्तवादी राजाओं या नेताओं का नहीं। 'इवान भयंकर', 'पीटर महान्', 'जनता' नहीं थे। हाँ, यह अवश्य है कि रूसी साहित्य में प्राचीन राष्ट्रीय नेताओं को वर्गनायक नहीं, जननायक दिखलाया गया है। वे जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, अपने वर्ग की भावनाओं का नहीं।

प्रसादजी ने भी तो यही किया था। उनका 'स्कन्दगुप्त' जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता था। सामन्त वर्ग का प्रतिनिधित्व करनेवाले तो महाराज कुमारगुप्त और पुरगुप्त तथा अनन्तदेवी थीं। प्रसादजी ने स्कन्दगुप्त को ही विजयी दिखाया है। जनता प्रतिक्रियावादी भटार्क और पुरगुप्त से भी लड़ी और विदेशी

हूणों से भी। मालवानरेश ने भी अपने राज्य को महान् भारत संघ में विलीन कर दिया था। इन सबके पीछे कितना बड़ा राष्ट्रीय महत्त्व था ! बौद्धों और ब्राह्मणों के झगड़ों में उन्होंने साम्प्रदायिक समस्या का उल्लेख किया था, लेकिन फिर भी प्रसादजी पलायनवादी थे, क्योंकि उनकी बदकिस्मती से और समूचे राष्ट्र की बदकिस्मती से ऐसे प्रगतिवादी आलोचकों ने इस पुण्यभूमि में अवतार लिया जिन्हें भगवान् ने भाषा का वरदान दिया मगर समझदारी से उनका परिचय कराना भूल गये थे।

सोवियत आलोचक, सोवियत विचारक, सोवियत लेखक और सोवियत शासक यथार्थदर्शी हैं और स्वतन्त्र जाति के गौरव के अनुरूप अपने देश को प्यार करते हैं। उन्होंने केवल सिद्धान्त के पीछे न पड़कर वास्तविक समस्याएँ सुलझाईं। सोवियत संघ में एक देश नहीं वरन् बहुत से देश शामिल हैं। उनकी भाषाएँ, संस्कृतियाँ, जातीय परम्पराओं में भारत की जातियों और प्रान्तों से भी अधिक विषमताएँ थीं। एक केन्द्रीय राज्य का सशक्त संगठन करना उस समय बहुत आवश्यक था। इसलिए उस समय के ऐतिहासिक चित्र निर्माताओं और ऐतिहासिक उपन्यास लेखकों ने रूस के इतिहास का वह पहलू उठाया जिसमें युगों के दौरान में रूसी केन्द्रीय राज्य सत्ता का निर्माण, दृढ़ीकरण और स्थापना दिखलाई गयी थी। कैसे केन्द्रीय रूसी राज्य बना, कैसे उसे अखण्ड और अविभाज्य रक्खा गया। 'इवान भंयकर' चित्र के निर्माता आइसेन्स्टाइन ने तो स्पष्ट लिखा—"प्राचीन रूस जंगली लोगों का देश नहीं था। इवान के नेतृत्व में वह जाग्रत पश्चिमी राष्ट्रों की तरह एक आधुनिक देश बन रहा था। इस चित्र के बनाने के समय मेरे मन में बराबर यह था कि मैं रूसी राज्य की वह शक्ति दिखलाऊँ जो आज नहीं वरन् कई युग पहले से चली आ रही है। अपने चित्र के अन्तिम दृश्य में मैंने इवान का शानदार दरबार इसी उद्देश्य से दिखलाया है··· चित्र का लक्ष्य है रूस की महान् शक्ति का प्रदर्शन। इस तथ्य का प्रदर्शन कि इस शक्ति की जड़ इतिहास में गहरी जमी हुई हैं।"

प्रसादजी ने अपने चन्द्रगुप्त में चाणक्य को इसी रूप में चित्रित किया है। चाणक्य वह महान् राष्ट्रनायक है जो भारत की केन्द्रीय सत्ता को दृढ़ करना चाहता है, इसीलिए मगध में विद्रोह कराकर, कहीं कूटनीति से, कहीं किसी प्रकार से वह जनता को प्रतिक्रियावादी कायर शासकों से मुक्ति दिलाकर चन्द्रगुप्त की अध्यक्षता में एक सशक्त राज्य कायम करता है। लेकिन बकौल हमारे प्रगतिवादी दोस्तों के यह पलायनवाद है, चूँकि यह एक रूसी लेखक ने नहीं, भारतीय लेखक ने लिखा है।

अपने राष्ट्रीय ऐतिहासिक उपन्यासों में रूस ने युद्ध के विषय भी उठाये हैं। चूँकि यह साहित्य अधिकतर युद्धकाल में लिखा गया था, अतः प्राचीन राष्ट्रीय युद्धों में रूसी सैनिकों की वीरता दिखलाना आवश्यक था। जार के पुराने योद्धा सेनापतियों

की वीरता इन उपन्यासों में चित्रित की जाने लगी। सन् 1916 में प्रथम महायुद्ध में लड़नेवाले जनरल ब्रुसिलोव पर स्लेस्किन ने एक उपन्यास लिखा है और स्लेविन्स्की ने एक नाटक। इसी काल को लेकर गोलुबव ने 'आग की दीवार' तथा ओल्गाफार्श ने 'अजेय नगर' लिखा है। क्रान्ति के समय इस युद्ध को साम्राज्यवादी, प्रतिक्रियावादी, पूँजीवादी युद्ध बताया गया था, लेकिन अब इसी को राष्ट्रीय युद्ध स्वीकार किया गया है।

यहाँ तक कि प्रथम रूसी-जापानी महायुद्ध जिसे सारी दुनिया ने जार का साम्राज्यवादी युद्ध स्वीकार किया है और जिसमें छोटे से एशियायी राष्ट्र जापान ने महान् रूस के दाँत खट्टे कर दिये थे, उसी युद्ध को लेकर स्टेपानाव ने 'पोर्ट आर्थर' नामक उपन्यास 1944 में लिखा, महज इसलिए कि उन दिनों फिर जापान और रूस में दुश्मनी थी।

लेकिन यह सचमुच ही राष्ट्रीयता को एक गलत ओर ले जाना है। जहाँ तक राष्ट्रीयता और प्राचीन इतिहास के द्वारा हम अपने देश की संस्कृति की परम्परा और सौन्दर्य को समझ सकते हैं वहाँ तक राष्ट्रीयता बहुत मूल्यवान है, लेकिन जहाँ उदार राष्ट्रीयता की भावना संकीर्ण जातीयता में परिणत होने लगती है और एक जाति अपने को श्रेष्ठ समझकर दूसरी जाति को नीची निगाह से देखने लगती है वही एक खतरनाक वस्तु बन जाती है। रूस के बहुत से लेखक इस गलत दिशा की ओर बढ़ते जा रहे हैं। वे जर्मनी और जापानियों पर अपना जातीय प्रभुत्व सिद्ध करना चाहते हैं। आइसेन्स्टाइन ने लिखा था कि "जर्मन हमारे स्थायी दुश्मन हैं और जो कुछ हमें प्रिय है उसे विकृत करने का सदा प्रयास करते रहते हैं !" यह दृष्टिकोण, यह द्वेष गलत है। युद्धकाल का सर्वप्रिय लेखक इल्या एहरेनबुर्ग तो और भी अधिक तेज है–6 मार्च सन् 1943 के लेख में वह लिखता है–

"हम लोग अधिक गम्भीर, अधिक दृढ़ हो गये हैं। हर रूसी सिपाही आज एक निर्णायक है जो अपने फैसले को सुफेद बर्फ पर काले जर्मन खून से लिख रहा है। हम लोगों ने अपनी फौजी बोतलों से नफरत का जहर पी लिया है जिसमें शराब से ज्यादा तेज नशा है।

"चाँद अपनी हरी जहरीली रोशनी बर्फ पर बिखेर रहा है। जर्मनों की लाशों पर चाँदनी नाच रही है। जर्मन कुचल दिये गये हैं, पीस दिये गये हैं !"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस तीखी भावनात्मक प्रेरणा के बगैर लाल सेना इतनी बहादुरी नहीं दिखला पाती, जर्मनों के नृशंस अत्याचार के बाद इतना तीखा गुस्सा सहज और स्वाभाविक ही था, लेकिन बाद में एक सन्तुलनशील दृष्टिकोण की भी आवश्यकता थी।

स्टालिन ने इसे महसूस किया। युद्ध समाप्त होने के बाद, बर्लिन पर कब्जा होने के बाद, जर्मनी का पुनर्निर्माण प्रारम्भ करते समय स्टालिन ने एहरेनबुर्ग को

रचनावली

अपना स्वर बदलने की सलाह दी और एहरेनबुर्ग ने महसूस किया कि किसी भी देश की जनता से घृणा करना गलत है। घृणा उस शासक वर्ग से करनी चाहिए जो उस जाति को बहका रहे हैं। एहरेनबुर्ग 1945 के वसन्त तक इसी प्रकार के जर्मन विरोधी लेख लिखता रहा। सहसा 'प्रवदा' में प्रचार-विभाग के अध्यक्ष जी. ए. एलैक्जेन्ड्राव का एक लेख प्रकाशित हुआ, 'साथी एहरेनबुर्ग की अतिशयोक्तियाँ !' उसके बाद इल्या एहरेनबुर्ग का स्वर बहुत बदल गया।

अभी हाल में मास्को के 'न्यू टाइम्स' में एहरेनबुर्ग ने एक लेख लिखा है–'शान्ति का सितारा'। उस लेख में उसने अमेरिका और इंगलैण्ड के प्रतिक्रियावादी नेताओं की बुराइयाँ की हैं लेकिन जनता के लिए लिखा है–"मुझे पूरा विश्वास है कि जिस जनता के पीछे इतनी शानदार राष्ट्रीय परम्परा हो, वह जनता कभी भी सत्य से ज्यादा दिन दूर नहीं रह सकती !"

यह उदार राष्ट्रीयता जो अपने गर्व के साथ-साथ दूसरों का सम्मान भी पहचानती है, हर जाति के लिए एक गौरव की चीज होती है और महान् रूसी जाति के लिए भी यह राष्ट्रीयता दृढ़ता और गौरव की चीज है। यह रूस की संस्कृति और प्रतिष्ठा को बल और प्रेरणा देगी। अन्त में मैं केवल इतना निवेदन कर देना चाहता हूँ कि जिस व्यापक और उदार सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का महत्त्व रूस ने युद्ध के बाद पहचाना है वह महान् सन्देश प्रसादजी ने अपने नाटकों में युद्ध के वर्षों पहले ही दुनिया के सामने रख दिया था। उनकी राष्ट्रीयता और देशभक्ति तो इतनी विशाल और व्यापक थी कि उन्होंने स्कन्दगुप्त में कहा है–

"भारत समग्र विश्व का है, और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेमपाश में आबद्ध है। अनादिकाल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है।"

रचनावली

प्रगतिवाद और रोमाण्टिक प्रेम

कहते हैं आदमी की जिन्दगी की सब से बड़ी ट्रैजेडी यह होती है कि वह अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों में एक स्वस्थ सन्तुलन नहीं कर पाता। किसी की कल्पना इतनी प्रमुख हो जाती है कि वह उसके यथार्थ की तीलियों को झकझोर कर तोड़ डालना चाहती है, और किसी का यथार्थ इतना संकीर्ण हो जाता है कि कल्पना को अपने फौलादी पंजे में मसल देना चाहता है। आदमी के व्यक्तित्व के अंश हमेशा एक दूसरे के विरुद्ध तलवार लेकर खड़े रहते हैं और एक दिन ऐसा आता है कि आदमी का असन्तुलित व्यक्तित्व ही आदमी के सीने में तलवार भोंक देता है।

जो बात एक व्यक्ति के लिए सत्य है, वही बात एक साहित्य, एक संस्कृति, एक सभ्यता के लिए सत्य है। एक अवसर ऐसा होता है कि एक सभ्यता की विभिन्न प्रवृत्तियाँ आपस में असन्तुलित हो उठती हैं, एक दूसरे के विरुद्ध हो उठती हैं और उनके अन्तर्द्वन्द्व से युग की चिन्तना के रेशे आपस में उलझ जाते हैं। विशेषतया जब किसी भी सांस्कृतिक परम्परा के अन्तराल में कोई क्रान्ति भावना धीरे-धीरे पकती रहती है, उस समय अक्सर देखा गया है कि क्रान्ति के आकस्मिक विस्फोट के कारण विचार-धाराओं का सन्तुलन टूट जाता है और उसकी दिशाएँ बहुत ही अस्पष्ट हो जाती हैं। उस समय अक्सर देखा जाता है कि यथार्थ और संघर्ष की माँग होती है कि केवल एक युद्ध-प्रवृत्ति (मिलिटैण्टिज्म) ही रहे और संस्कृति, साहित्य और कला के सभी सुकुमार अंगों को कुचल दिया जाय। इतिहास में जब कभी अव्यवस्था और अराजकता का युग आया है तो किसी न किसी रूप में एक नैतिकतावाद (प्योरिनिज्म) की प्रवृत्ति उभर आयी है और उसने प्रेम तथा सुकुमार अनुभूतियों पर आधारित कला का घोर विरोध किया है। इंगलैण्ड में क्रामवेल के युग में भी एक प्योरिटन वातावरण छा गया था जिसमें एलिजाबेथ काल के रंगीन रोमाण्टिक साहित्य का विरोध हुआ था। उसके स्थान पर चर्च की नीरस नैतिकता की स्थापना ही कला का उच्चतम लक्ष्य मान लिया गया था। भारतीय पुनर्जागरण के आरम्भिक दिनों में भी आर्यसमाज ने प्योरिटन दृष्टिकोण से कृष्णकाव्य की निन्दा

की थी, केवल इस आधार पर कि कृष्ण के जीवन में हास-विलास और प्रणय की प्रधानता है।

इस प्योरिटनिज्म का सब से ताजा और दिलचस्प उदाहरण हमारे देश के प्रगतिवादियों की रोमाण्टिक प्रेम-भावना के खिलाफ उठाया गया जिहाद है। आज प्रगतिवादी दल की यह माँग है कि नारी को हम प्रोलेटेरियट क्रान्ति की संगिनी के रूप में स्वीकार करें, लेकिन उसके प्रति रोमाण्टिक भावना से लिखी गयी सारी कविता और साहित्य महज पलायनवाद और प्रतिक्रियावाद है। प्रेम की कविता कहाँ तक उचित है, मार्क्सीय क्रान्ति के ऊषाकाल में, इस विषय को लेकर प्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचक डा. रामविलास शर्मा और डा. नगेन्द्र के बीच पत्रिकाओं में अच्छी प्रतिद्वन्द्विता चल चुकी है। यह बात दूसरी है कि लगभग प्रत्येक तथाकथित प्रगतिशील कवि ने अपनी अनुभूति से लाचार होकर विशुद्ध रोमाण्टिक प्रेम-गीत लिखे हैं। अंचल का तो कहना ही क्या ? वे तो प्रेम-गीतों ही में मुखर हो पाते हैं, शिवमंगल सिंह 'सुमन' वगैरह ने भी अपनी लाचारी के क्षणों में प्रेम-गीत लिखे ही हैं, लेकिन यह बात दूसरी है कि अपने बीच में चाहे जो हो किन्तु अपने दल के बाहर दिखाने का जो चेहरा है उसमें प्रेम-गीतों का स्थान नहीं ही है।

लेकिन सच बात यह है कि प्रेम-भावना, और उसका हल्का, सूक्ष्म और रोमानी स्वरूप, न आज तक मर पाये हैं, न मर पाएँगे। यह एक शाश्वत भूख है। एक ऐसी भूख है जो न कभी बुझ पायी है, न कभी बुझ पायेगी। वह एक ऐसा फूल है जो लहरों के थपेड़े खाकर भी लहरों के सर पर मुकुट की तरह चढ़ा रहता है।

सोवियत साहित्य भी अपनी क्रान्ति के बावजूद, अपनी प्योरिटनिज्म के बावजूद रोमाण्टिक प्रेम-भावना की हत्या नहीं ही कर सका। यह बात दूसरी है कि वहाँ क्रान्ति के बाद के दिनों में रोमाण्टिक प्रेम-काव्य का बहुत तीखा विरोध हुआ और उसकी वजह से वहाँ के सब से मधुर और रोमाण्टिक कवि येसेनिन को आत्महत्या कर लेनी पड़ी, किन्तु अन्त में फिर आज रोमाण्टिक प्रेम रूसी कविता को जीत बैठा है। किस तरह सोवियत रूसी साहित्य में संकीर्ण मार्क्सवादियों ने रोमाण्टिक प्रेम को देश-निर्वासन दिया और फिर किस तरह अन्त में उन्हें उसी भावना के सामने आत्मसमर्पण करना पड़ा, यह एक बड़ी अनोखी कहानी है।

हम पहले देख चुके हैं रूसी क्रान्ति के पहले रूसी साहित्य पर फ्रांस के पतनोन्मुख साहित्य का पूरा प्रभाव था। रूसी कवि फ्रांसीसी कवियों की नकल करते थे। वे जीवन से दूर एक निराशावाद की दुनिया में रहते थे। 1905 की क्रान्ति साहित्य में भी एक नया जागरण ले आयी और एक तरुण प्रतीकवादियों का समूह आया जिसने पतनोन्मुखता के बजाय एक आवेशमयी रहस्यवादिता अपनाई। लेकिन लेनिनग्राड के कवियों ने रहस्यमयी शैली का विरोध किया और उन्होंने सरल और स्पष्ट शैली में शब्द-चित्रों के सहारे अपने को अभिव्यक्त करने का मार्ग अपनाया।

रचनावली

जैसा हम बता चुके हैं कि गुमिलाव के नेतृत्व में एक मीस्ट वर्ग आया और उसी की एक शाखा इमेजिस्ट कहलाई जिसका मुख्य कवि येसेनिन था।

येसेनिन उस समय का सब से जनप्रिय कवि था। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, उसकी कविता प्रतिक्रियावादी नहीं थी, उसमें मधुराई छलकी पड़ती थी और उसकी भाषा क्वार के बादलों की तरह हल्की-फुल्की उजली और मासूम थी। लेकिन उस अभागे का कसूर सिर्फ इतना था कि वह राजनीति की दासता नहीं स्वीकार करना चाहता था। उसका कसूर यह भी था कि वह केवल पार्टी का हुक्म छन्दबद्ध नहीं करता था, वरन् अपनी स्वतन्त्र अनुभूतियों पर आधारित मधुरतम रोमाण्टिक गीत भी लिखता था।

उसके खिलाफ उन लेखकों का एक दल उठ खड़ा हुआ जो उस समय एक सैनिक शुद्धतावाद (मिलिटैण्ट प्योरिटनिज्म) का पक्षपाती था। उसके विरोध में सब से प्रमुख हाथ था फ्यूचरिस्ट दल का जिसका प्रमुख कवि था मायकावस्की।

मायकावस्की एक नये मशीनयुग का कवि था। जैसा हम देख चुके हैं कि वह प्राचीन साहित्य, मधुर साहित्य, प्रेमकाव्य सभी के विरुद्ध था। सौन्दर्योपासना, रूप की खुमारी, गीतकाव्य तथा इस तरह की सभी 'बोर्जुआ मनोवृत्तियों' को वह हथौड़े के एक प्रहार में चूर-चूर कर देना चाहता था। गुलाब, मलयज, तितलियाँ, चमकती धूप, शबनम और इन्द्रधनुष ये सब बेकार की चीजें थीं जिन्हें वह नयी प्रोलेटेरियट जनता के जीवन से निकालकर मास्को के कूड़ेखाने में फेंक देने का हामी था। वह खानों के अँधेरे, मशीनों के फौलाद और शहरों की भीड़ का कवि बनना चाहता था–उसने एक स्थान पर लिखा है–"मैं उसको कवि नहीं मानता जो बड़े-बड़े बाल रखकर चायघरों में प्रणय की कविताएँ मिमियाता फिरता है। कवि वह है जो श्रेणी-संघर्ष के इस विप्लवी युग में सर्वहारा वर्ग के शस्त्रागार में अपनी कलम भी सौंप देता है और हर नीरस काम में लगने के लिए तैयार रहता है, वह किसी से भी नहीं डरता चाहे वह आर्थिक प्रस्ताव बनाता हो, या कोई घोषणापत्र !" सन् 1915 में ही लिखी गयी अपनी एक कविता–'कवि-बंधु' में वह कहता है–

"श्रीमान् कवियो,
क्या तुम नहीं थके ?
इन महलों, राजकुमारियों, प्रेम और नरगिस के गुच्छों से ?
अगर जैसे तुम हो
वैसे ही कलाकार होते हैं,
तो मैं कविता पर थूकता हूँ
इसके बजाय मैं एक दूकान खोलना
या दलाली करना अधिक
पसन्द करता हूँ !"

तीन साल बाद सन् 18 में लिखी गयी अपनी एक कविता–'कला की फौज के नाम एलान' में उसने लिखा–

"साथियो,
चलो मोर्चे पर !
वही सच्चा कम्यूनिस्ट है
जो (प्यार की दुनिया में) वापस जाने का पुल भी तोड़ दे
... ...
अपने गीत को बम की तरह विस्फोटक बनाओं
क्योंकि हमें एक रेलवे गोदाम को उड़ाना है..."

मायकावस्की एक कवि और एक कम्यूनिस्ट सैनिक में कोई अन्तर नहीं समझता था। कविता को वह महज युद्धक्षेत्र का एक नया हथियार मानता था। और इसलिए प्रेम का तो उसकी निगाह में कोई मूल्य नहीं था। 1922 के लगभग मायकावस्की विश्व-भ्रमण के लिए गया और वहाँ से लौटकर तो उसने स्पष्ट लिखा–

"मैं चाहता हूँ कि कलम बन्दूक बन जाय
व्यापारों में कलम का भी शुमार लोहे में हो
और जब पालिट ब्यूरो की सभा हो
तो उसका प्रथम विषय रहे
'कविता के उत्पादन पर मार्शल स्टालिन
की रिपोर्ट !'

मैं नहीं चाहता कि मैं एक एकान्त का फूल बनूँ
जिसे कि काम के बाद थकान के क्षण में कोई तोड़ ले

मैं अनुभव करता हूँ कि मैं (कवि) एक सोवियत कारखाना हूँ
जो आनन्द को लोहे में ढालता है–"

(घर की ओर–जहाज पर–1925)

क्रान्ति के बाद के पुनर्निर्माण के जोश में मायकावस्की एक दूसरी ही सीमा पर चला गया। प्यार के खिलाफ यह प्रतिक्रिया और कविता को यन्त्रों का एक पुर्जा बना देने की बात से बहुत से रूसी लेखक सहमत नहीं थे। उसी समय लियोनाव ने ऊपर दी हुई कविता की अन्तिम पंक्तियों को ध्यान में रखते हुए लिखा था–"आनन्द और कविता किसी भी कारखाने में किसी बने बनाये साँचे में नहीं ढाले जा सकते !" लेकिन उस समय क्रान्ति के नक्कारों में बुद्धि और सन्तुलन की आवाज दब गयी थी, भावना ने अपने मिसरी जैसे सूखे और प्यासे होठों से जिन्दगी को और गहराई से सोचने की सलाह दी थी, लेकिन फौजी बूटों के नीचे वह आवाज कुचल दी गयी।

रचनावली

सोवियत सेना निस्सन्देह मायकावस्की के साथ थी और मायकावस्की पर जान देती थी। कितना जनप्रिय हो गया था वह यह एक घटना से मालूम होता है। वह सिपाहियों की एक परेड में अपनी कविता पढ़ रहा था। उसने कहा–

"आगे बढ़ो
हमारी पलकों में है लेनिन का सपना
हाथों में रूसी बन्दूक···"

और भीड़ में से एक सिपाही चिल्ला उठा–

"और दिल में हमारे है कविता तुम्हारी
ओ कामरेड मायकावस्की···"

लेकिन मायकावस्की की इस जनप्रियता के बावजूद रूसी कविता से प्रेम सर्वथा निर्वासित नहीं हो पाया था। भावना ने अपना दम नहीं तोड़ दिया था। कीट्स ने एक जगह लिखा है–

"जब तेज धूप से चिड़ियाँ बेहोश हो जाती हैं
और पत्तों की ठण्डी छाँह में हाँफती हुई छिपी रहती हैं
उस वक्त चरागाह में झाड़ी से झाड़ी में एक लयभरी आवाज दौड़ जाती है।
धरती की कविता कभी खामोश नहीं रह सकती···"

और नयी मशीनों की गड़गड़ाहट, बन्दूकों की आवाज, गृहयुद्ध और राजनीतिक उथल-पुथल के उस युग में भी प्रेम-गीत रूस के वातावरण में गूँजते ही रहे। इन प्रेम-गीतों का रचयिता था–सर्जी येसेनिन···

वह साधारण जनता के बीच से ऊपर उठा था। एक साधारण किसान के घर में पैदा होकर एक ग्राम-पाठशाला में पढ़ा था। बस, केवल इतनी ही उसकी शिक्षा थी। 19 वर्ष की अवस्था में वह सेण्टपीटर्सबर्ग में आ गया और वहीं 1916 में पहली बार उसकी कविताओं का संग्रह छपा। उसमें अद्वितीय प्रतिभा थी और हृदय को छू लेने की अद्भुत क्षमता। वह गाता था तो जैसे रूस का हृदय, रूस की धरती गा उठती थी। वह रूस के हरे-भरे खेतों पर नीलम के पंख फैलाकर उतरनेवाली पावस सन्ध्या का गायक था, वह जौ की बालियों से ज्यादा दुबली-पतली सुकुमार रूसी कन्याओं के दोशीजा रूप का गायक था, वह खेत, खलिहान, गाँव की डगर और चौपालों की छाँह में पलनेवाली रूसी किसान की मदभरी, सुकुमार और करुण अनुभूतियों का गायक था।

उसने पहले क्रान्ति का स्वागत किया। वह समझता था कि यह क्रान्ति गाँवों के शोषण को नष्ट कर गाँवों में फिर सौन्दर्य और शान्ति बिखेर देगी–उसने रूस के नये भविष्य का कितना उज्ज्वल चित्र खींचा था यह उसके 'ट्रान्सफिगुरेशन थर्ड' नामक कविता से मालूम होता है–

रचनावली

"एक नया किसान,
खेतों में घूम रहा है
नये बीज क्यारियों में डाल रहा है
नये घोड़ों के रथ पर
बादलों के पार से
एक ज्योतिर्मय आगन्तुक आ रहा है
अश्वों की लगाम,
आसमान के फीतों की है।
उन फीतों में घण्टियाँ हैं सितारों की…"

लेकिन जब क्रान्ति के बाद रूसी साहित्य का सन्तुलन नष्ट हो गया, सहसा मजदूर वर्ग, लाल सेना और मायकावस्की के अनुयायी सभी भावनात्मकता को नष्ट करने के लिए कमर कसकर तैयार हो गये तो येसेनिन का सपना टूट गया। वह मशीनों का और फ्यूचरिस्टों के नये फौलादी काव्य का स्वागत नहीं कर पाया। यह तो ठीक है कि अगर येसेनिन चाहता कि मशीनें गाँवों में जायें ही न, तो यह गलत माँग होती, लेकिन उस वक्त का फौलादी जीवन-दर्शन और अव्यवस्था उसे सन्तुष्ट नहीं कर पाई थीं और न नये क्रान्तिकारियों ने अपना सन्तुलित दृष्टिकोण किसी के सामने ही रक्खा था। वास्तविकता यह थी कि वे स्वयं अपना एक सन्तुलित दृष्टिकोण नहीं बना पाये थे। उन्होंने एक नयी दुनिया जीती थी और उस विजय ने उन्हें इतना बेहोश कर दिया था कि वे प्रतिक्रिया-स्वरूप जीवन के दूसरे छोर पर जा खड़े हुए थे और मायकावस्की और येसेनिन के दृष्टिकोणों में दो ध्रुवों का अन्तर आ पड़ा था।

येसेनिन अकेला था–केवल उसके साथ खेतों का हराभरा सपना था, और धरती का आशीर्वाद। लेकिन जब वह अपने युग से बहुत निराश हो गया तो उसने शराब पीनी शुरू की और शराब के प्याले में अपनी भयंकर निराशा डुबो देने की कोशिश की। उसने आइसडोरा डन्कन से विवाह किया और अमेरिका घूमने चला गया, लेकिन रूस की धरती से उसकी साँसों के तार बँधे थे। वह फिर लौट आया। लेकिन वह अच्छी तरह जानता था कि सोवियत विचारधारा में उसका कोई स्थान नहीं था। इसके दो मुख्य कारण थे–

प्रेम की कविताएँ अधिकतर गीतों में लिखी जाती थीं और नये सोवियत विचारकों की निगाह में गीतों का युग बीत चुका था। उन लोगों का कहना था कि जिस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के आधार पर गीतों का निर्माण होता है उसकी परिधि इतनी छोटी है कि उसमें हम नयी समाजवादी दुनिया का चित्रण नहीं कर सकते। आज की नयी व्यवस्था में कवि को अपनी व्यक्तिगत अनुभूति से ऊपर उठकर सामाजिक सत्यों का निरूपण करना चाहिए। यहाँ तक कि सन् 1933 में ज्वेज्दा

रचनावली

में बैगरिट्ज्की को कविताओं की आलोचना करते हुए स्टेपानाव ने लिखा है–"प्रेम-गीत अब समाप्त हो रहे हैं। कवि के व्यक्तिगत जीवन के आधार पर लिखे गये प्रेम-गीत इतने संकीर्ण और इतने भावनात्मक और वैयक्तिक होते हैं कि वे वर्तमान सामाजिक जीवन का चित्र नहीं खींच सकते। यह धीरे-धीरे स्पष्ट हो गया है कि अपने युग के बारे में, पूरी आवाज से बोलने के लिए, और महाकाव्यों के पुनर्निर्माण के लिए हमें गीत-काव्य के नशे से निकलना होगा। इस जादू को तोड़ना ही होगा।"

एक ओर जहाँ प्रेम-काव्य की गीत-शैली के विरुद्ध यह आवाज उठ रही थी, दूसरी ओर उस भावनात्मक प्रेम को ही गलत साबित करने का प्रयास हो रहा था। नारी और पुरुष के आपसी सम्बन्ध को भी सर्वथा आर्थिक रंग देने का प्रयास हो रहा था और उनके सम्बन्ध के भावनात्मक पहलू को उठाकर पीछे फेंक दिया गया था। भावना और उपासना, विस्मृति और नशे में डूबे हुए प्रेम को मार्क्सवादी अनुचित और प्रतिक्रियावादी बतलाते थे। उन्होंने प्रेम को केवल आर्थिक सम्बन्ध का भावनात्मक पहलू मान लिया था। इस विषय में क्रिस्टोफर काडवेल का विश्लेषण सबसे दिलचस्प है–उसका कहना है–हमारे सामाजिक (आर्थिक) सम्बन्धों का भावनात्मक पहलू ही प्रेम है। प्रेम चाहे जितना महत्त्वपूर्ण हो, लेकिन आर्थिक उत्पादन से परे उसका कोई महत्त्व नहीं।

हरेक युग की आर्थिक व्यवस्था ही इस बात का निश्चय करती है कि उस युग में प्रचलित प्रेम-भावना का क्या स्वरूप होगा। ग्रीस के समाज में जहाँ गुलामी प्रचलित थी वहाँ प्रेम का स्वरूप प्लेटानिक था, सामन्तवादी युग में जब आपसी लड़ाई झगड़ों का चलन बहुत ज्यादा था, तब रूमानी प्रेम प्रचलित था। पूँजीवादी युग में बहुत आवेश, तीखी प्यास और व्यक्तिवादी प्रेम का प्राधान्य होता है। चूँकि पूँजीवादी शोषण के बाद विवाह बहुत ही ज्यादा खर्चीला हो जाता है अतः लोग एक विचित्र प्रकार के कल्पनात्मक प्रेम में डूब जाते हैं, जिसमें बहुत अतृप्ति होती है, बहुत तृष्णा होती है, बहुत विरह और दुःख होता है, लेकिन यह सब इसीलिए कि आर्थिक और भावनात्मक जीवन में एक दरार पड़ गयी है, पूँजीवादी युग में। इस नये युग में हमें आर्थिक पहलू को फिर से पहचानना है और प्रेम का मूल्यांकन पुराने बोर्जुआ भावनात्मक दृष्टिकोण से न करके, नये सर्वहारा दृष्टिकोण से करना है। जब मायकावस्की ने प्रेम, गुलाब, इन्द्रधनुष, आँसू और गीत को बोर्जुआ मनोवृत्ति कहा था तो उसका मतलब यही था, जो काडवेल का। वह पक्का मार्क्सवादी बनना चाहता था और इसके लिए वह भावना के संसार को तहस-नहस कर देने में भी नहीं हिचकता था। उसके अनुयायी भी प्रेम का बिल्कुल मार्क्सवादी रूप लेना चाहते थे। उसके एक समकालीन कवि गिडाश ने लिखा–"इसके पहले कि मैं प्रेम की कविताएँ लिखूँ मैं मार्क्स और एंजेल्स के ग्रन्थ तथा सोशलिस्ट नगरों के विषय में कागानोविच के भाषण पढ़ता हूँ..."

इस प्रकार के संकीर्ण मतवादों के फौलादी पंजों में कविता की आत्मा जकड़ ली गयी थी, प्रेम का गला घोंट दिया गया था। जमाना नाजुक था। सारे देश में, एक आतंक का वातावरण था। बोर्जुआ मनोवृत्तियों के प्रति सारी जनता में एक खूनी बदले की भावना थी। कोई भी व्यक्ति उस भावना का दुरुपयोग कर सकता थी। जैसे फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के बाद हजारों निर्दोषों को जनता ने गिलोटिन के घाट उतार दिया था, उसी तरह रूस में भी बड़ी विचित्र दशा थी। रूस के नेता अपने देश के साहित्य को ईमानदारी से ऊँचा उठाना चाहते थे, लेनिन में सच्ची साहित्यिक सुरुचि थी। उन लोगों की ईमानदारी में कोई सन्देह नहीं कर सकता, लेकिन जनता की भावनाएँ उनके काबू के बाहर की चीज थीं और जनता में सैकड़ों अवसरवादी समूह थे जो मौके का भली भाँति उपयोग करना चाहते थे। इसके अलावा मायकावस्की वगैरह कुछ कलाकार थे जो अपने हृदय की सारी ईमानदारी सचाई और ताक़त के बावजूद एक एकांगी रास्ते पर चल रहे थे।

येसेनिन तथा उसी की भाँति के दूसरे कलाकारों में एक भयंकर अन्तर्द्वन्द्व शुरू हो गया था। उनके साहित्य को देखकर एक आलोचक ने लिखा था–"आज के रूसी साहित्य में एक दूसरी तरह का द्वन्द्वात्मकवाद चल पड़ा है। वह है कलाकार और परिस्थितियों की द्वन्द्वात्मकता !" यद्यपि सभी विचारधाराएँ बुद्धिवाद, राजनीति, आर्थिक संगठन और लाल सेना पर कविताएँ लिखने की सलाह दे रही थीं, पर कलाकार का व्यक्तित्व जैसे अपनी पूरी ताकत लगाकर अपने कल्पनाजगत को खून के धब्बों और फौलाद के पंजों से बचाने की चेष्टा कर रहा था। सृष्टि के आरम्भ से बनमानुसों का बाना उतार फेंकने के बाद जब से आदमी ने वाणी का वरदान पाया था, तभी से वह कण-कण कर अपनी पलकों में प्रेम की निधि समेटता आ रहा था, प्रेम-गीतों में अपने हृदय की धड़कनें डुबोता आ रहा था और अब सहसा वह मशीन के चक्कों में अपनी प्रेयसी के कंचन-तन को पीस डालने के लिए तैयार नहीं था। सूक्ष्म विचार, सुकुमार कल्पना, मधुमासी प्यार और आत्मिक स्वतन्त्रता को इस तरह खो देना उसकी आत्मा को स्वीकार नहीं था।

येसेनिन के अलावा गद्य साहित्य में भी यूरी ओलेशा ने फौलादी विचारधारा के विरुद्ध आवाज उठाई। वह साहित्य में गुलाब और सपनों को वापस ले आने के पक्ष में था–अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'एन्वाय' (1926) में उसने नायक के मुँह से रोमांस और कल्पना के पक्ष में एक पूरा संवाद कहलाया है। उसकी नायिका गौंशैरोबा जो एक अभिनेत्री है–एक डायरी में सोवियत शासन के विषय में अपने दैनिक अनुभव लिखती है। उसमें उसने लिखा है कि "सामाजिक उपयोगिता की बलिवेदी पर बोल्शेविकों ने अन्तर्जगत की सुकुमार अनुभूतियों की हत्या कर डाली है !"

लेकिन नदी का बहाव दूसरी ओर था, जनता की मनोवृत्ति एक सैनिक की मनोवृत्ति हो रही थी जिसे तलवार की झंकार और भेरी की घोषणा के सामने माँ

रचनावली

की लोरी और सितारों का संगीत फीका लगने लगता है। चाहे येसेनिन और ओलेशा सत्य ही क्यों न कह रहे हों, मगर जमाने का रुख कुछ और था।

1915 के दिसम्बर में सर्जी येसेनिन ने आत्महत्या कर ली··· वह बहुत दिनों से अपने को अकेला अनुभव कर रहा था। अपनी आत्मा और अनुभूति के प्रति उससे बेईमानी नहीं होती थी। वह जबर्दस्ती पार्टी के लिए, बोल्शेविकों के लिए कविता नहीं लिख सकता था। उसके प्रेम-गीत जनता में व्यापक थे, लेकिन हर समय उसकी जान का खतरा था। उस पर चारों ओर से गालियों की बौछारें पड़ रही थीं। 'प्रतिक्रियावादी है !' 'वह क्रान्ति विरोधी है !' 'वह विदेशी जासूस है !' और जो लोग उसकी कविताओं पर अपने घर में झूम-झूम उठते थे, वही सभाओं में उसे गालियाँ देते थे। येसेनिन अपनी जिन्दगी से अब तंग आ रहा था। शराब की गुलाबी मदहोशी भी अब उसके घावों को नहीं सहला पाती थी, उसकी आत्मा का तूफान अब सपनों में नहीं बँध पाता था, उसकी नसों का दर्द नसों को तोड़ देने के लिए बेचैन हो उठा था—ऐसी मनःस्थिति में उसने एक कविता लिखी—जिसकी पंक्ति-पंक्ति में उस फौलादी व्यवस्था के शिकंजे में दम तोड़ती हुई कला की व्यथा है—

"अपनी जन्म-भूमि से ऊबकर,
इन उजाड़ चरागाहों की
घुलती हुई उदासी से
ऊबकर···
मैं अपनी झोपड़ी छोड़कर चल दूँगा
एक आवारे की तरह
मैं दिन भर पीली घुमावदार पगडण्डियों
पर आश्रय खोजता हुआ चलूँगा;
मेरे प्यारे मित्र मेरा स्वागत करेंगे
और उनके घरों में छुरा तैयार रक्खा होगा
ऐसे मेहमानों के लिए ;
और फिर मैं अपने देहात के झोपड़े में
लौट आऊँगा;
दूसरों को बेहद खुशी होगी,
जब एक हरी-भरी शाम को खिड़की के पास
मैं फाँसी लगाकर लटक जाऊँगा।
पोखरों के पास, लम्बी घास
सर झुका कर रो देगी—
और खिड़की के पास स्वर मिला कर कुत्ते रोयेंगे।

रचनावली

मेरी लाश को बिना नहलाये हुए वे कब्र में झोंक देंगे।
और चाँद इसी तरह तैरता जायेगा,
उसके रेशमी पतवार बादलों में लहरें बनाते रहेंगे
और रूस इसी तरह हँसता रोता रहेगा
मगर उसकी ज़िन्दगी न बदलेगी–"

येसेनिन की सुकुमार अनुभूतियों पर मदान्धता और गलत तौर के मार्क्सवाद का खूनी शिकंजा दिनोंदिन जकड़ता जा रहा था। सन् 14 और 15 में येसेनिन की जिन्दगी का अध्ययन करने पर मालूम होता था कि उसकी जिन्दगी में कितनी बड़ी ट्रैजेडी आ गयी थी। कीट्स जैसे महान् कवि को पूँजीवादी आलोचकों ने मार डाला और येसेनिन जैसे कवि को तथाकथित मार्क्सवादी आलोचकों ने ! उसके अन्तिम दिनों की कविताओं से मालूम होता है कि प्रोलेटेरियट नादिरशाही चाहनेवाले संकीर्णमना विचारकों ने किस तरह येसेनिन को तड़पा-तड़पाकर मार डाला। सन् 1925 का दिसम्बर रूस का मशहूर जाड़ा। आखिरकार सफेद बर्फ को हटाकर उसका सफेद शव दफना दिया गया। आँसू, अपमान, व्यंग, प्रताड़ना, अन्तःसंघर्ष और मानसिक निर्वासन की नरक-यातना से येसेनिन छुट्टी पा गया।

लेकिन यह समझना गलत होगा कि रूसी जनता येसेनिन की भावुक और सुकुमार कला के विरुद्ध थी। जनता हर जगह की एक सी होती है। आदमी हर जगह आदमी होता है। हृदय हर जगह हृदय होता है। कोई भी युग, कोई भी विचारधारा, कोई भी गुटबन्दी, कोई भी प्रचार प्रोपैगेण्डा, आदमी के हृदय में निहित सत्य की हत्या नहीं कर सकता। जनता येसेनिन की कविता के सत्य को पहचानती थी और उसका आदर करती थी। येसेनिन के जनाजे के साथ जितने लोग गये थे, उसे देखकर प्रोलेटेरियट सरकार दंग रह गयी। येसेनिन ने मरकर दिखला दिया था कि वह कितना प्यारा है रूसी जनता का !

लेकिन उसके खिलाफ संकीर्ण मार्क्सवादियों की जो नादिरशाही गुटबन्दी थी उसने उसकी आत्महत्या की निन्दा की, और इसमें सब से ऊँची आवाज थी मायकावस्की की। उसने इस आत्महत्या को चरम सीमा का पलायनवाद और प्रतिक्रियावाद बतलाया। रूसी सरकार ने एक फरमान जारी किया कि येसेनिन के पराजयवाद को जनता के मन से हटाने की पूरी कोशिश की जाय।

लेकिन येसेनिन की मौत सिर्फ एक कवि की वैयक्तिक आत्महत्या नहीं थी, वह युग की दो बहुत सशक्त विचारधाराओं के संघर्ष का दुखद परिणाम था। मायकावस्की और उसके विचारों में बहुत तेजी थी, बहुत तीखापन था, लेकिन वह धूल और पीले पत्तों से भरा हुआ एक अन्धड़ था जिसने प्रेम-गीतों के गुलाबी बादलों का रेशा-रेशा बिखरा दिया। लेकिन अन्धड़ अस्थायी होता है और अन्धड़ों के बावजूद साँझ के बादल हमेशा छाते रहे हैं और दिन भर के संघर्ष के बाद थके हुए आदमी

रचनावली

की आत्मा पर शान्ति की पाखुरियाँ बिखेरते रहे हैं।

येसेनिन की आत्महत्या का एक युगव्यापी कलात्मक महत्त्व था जिसका संकेत प्रसिद्ध रूसी लेखक चेखव ने कई दशाब्दी पहले किया था। येसेनिन की आत्महत्या का वास्तविक अर्थ समझने के लिए हमें चेखव का 'सीगल' नामक नाटक का वास्तविक महत्त्व समझना बहुत आवश्यक है। यह नाटक उस समय लिखा गया था जब येसेनिन के इमेजिस्ट स्कूल की बुनियादें पड़ रही थीं। वह नाटक रूसी क्रान्ति के पहले लिखा गया था, लेकिन उसका नायक एक तरुण लेखक है जिसमें इमेजिस्ट प्रवृत्तियाँ हैं। चेखव के दूरदर्शी मस्तिष्क ने न जाने कैसे यह समझ लिया था कि यद्यपि यही इमेजिस्ट धारा भविष्य की कविता में प्रमुख स्थान पाएगी लेकिन उसका एक सस्ता विरोध होगा जिसकी वजह से उसे आत्महत्या कर लेनी पड़ेगी !

सीगल की कथा इस प्रकार है। एक तरुण कलाकार है ट्रपलेफ जो देहात में रहता है। उसकी माता एक बहुत प्रसिद्ध अभिनेत्री है जिसका एक मित्र आर्केडिना देहात में उसके साथ रहने आता है। वह एक बहुत प्रसिद्ध रूसी लेखक है। लेकिन उसमें कोई भी प्रतिभा नहीं है और वह महज इसलिए प्रसिद्ध है कि उसे प्रसिद्धि मिल गयी है, जैसा कि हिन्दी के भी बहुत से लेखकों के साथ है। वह तरुण कलाकार ट्रेपलेफ बहुत ही प्रतिभाशाली है और एक पात्र के कथनानुसार वह 'चित्रों की भाषा' में सोचता है। वह एक लड़की निना को प्यार करता है जिसे नायिका बनाकर वह एक ड्रामा खेलता है। उसकी माता जिसमें बहुत कृत्रिमता है और विचारों की गम्भीरता का सर्वथा अभाव है, उसके उस नाटक का मजाक उड़ाती है। प्रसिद्ध लेखक आर्केडिना भी उसे समझने में असमर्थ रहता है क्योंकि उसमें समझदारी की बहुत कमी है और वह मछली मारने को साहित्य से कहीं गम्भीर कार्य समझता है। ट्रेपलेफ को हर तरफ से निराशा मिलती है। निना भी प्रसिद्ध लेखक आर्केडिना की ओर आकर्षित हो जाती है। केवल एक पात्र है डा. डार्न जो बहुत कुछ चेखव का प्रतिबिम्ब है–वह कहता है–"जहाँ तक मेरा सवाल है मैं ट्रेपलेफ की कला में विश्वास करता हूँ। वह कुछ करेगा। वह कुछ करके रहेगा। वह चित्रों की भाषा में सोचता है। उसकी कहानियाँ रंग और रोशनी से लबालब भरी रहती हैं। वे दिल में गहरी उतर जाती हैं..." लेकिन जीवन के अन्य सभी क्षेत्र से उसे निराशा मिलती है और अन्त में आत्महत्या कर लेता है।

चेखव मानव के मनोविज्ञान को खूब समझता था। वह यह समझ गया था कि आगे चलकर युग का अन्धा आवेश इस उगती हुई कला के पौधे को कुचल देगा। वह समझता था कि यह इमेजिस्ट स्कूल की कला ही इस समय की सच्ची कला है, लेकिन एक सस्ता विरोध इस पर अधिक हामी हो जायेगा, इसकी हत्या कर देगा लेकिन यह विरोध संकीर्ण मार्क्सवादी विरोध होगा यह चेखव उतने पहले नहीं अनुमान कर पाया था। वह बात चेखव ने नहीं लिखी थी कि उस संकीर्ण

मार्क्सवाद को भी आत्महत्या कर लेनी पड़ेगी। उसके नाटक का अलिखित अंक आगे चलकर युग ने मायकावस्की की लाश से लिखा…।

एक फ्रांसीसी कहावत है कि ईश्वर की चक्की पीसती है मगर धीरे-धीरे पीसती है। कौन जानता था कि बहुत शीघ्र ही मायकावस्की को भी वही रास्ता अपनाना पड़ेगा जो येसेनिन का था। मायकावस्की ने ऊपर से चाहे अपने व्यक्तित्व पर फौलाद की चादर मढ़ ली हो, लेकिन उस फौलाद के नीचे हड्डी और गोश्त, प्यास और आँसुओं का बना हुआ मानव था, वही मासूम धड़कनें उसकी पसलियों के नीचे आँखमिचौनी खेलती थीं। उसने मार्क्सवाद की एक यान्त्रिक व्याख्या कर ली थी, उस यान्त्रिकता में पूर्णतया ढल जाने का निश्चय कर लिया था, लेकिन अपने को धोखा दे लेना आसान है, हमेशा उसी धोखे को क़ायम रखना असम्भव ! उसकी आत्मकथा में यह उल्लेख मिलता है कि बचपन में उसने डौन क्विक्जोट की कहानी पढ़ी और उसके बाद एक लकड़ी की तलवार और टीन की ढाल बनाकर सभी से लड़ने लगा। बड़े होने पर भी उसने एक एकांगी जीवन-दर्शन अपनाया और भावना से, प्रेम से, जीवन के शाश्वत सौन्दर्य से लड़ने चला। मगर वास्तविक लड़ाई में उसकी तलवार लकड़ी की साबित हुई, और ढाल टीन की और अपने को वह सम्हाल नहीं पाया। कहा जाता है कि अपनी मौत के दिनों में वह बहुत थक गया था, मानसिक रूप से। वास्तव में उसने अपने मन की सहज प्यास का इतना कड़ा विरोध किया, इतना अन्तःसंघर्ष मोल ले लिया जिसको उसकी नसें बर्दाश्त न कर सकीं–येसेनिन की मृत्यु के पाँच ही वर्ष बाद उसके हृदय में पूरी तरह उसकी पराजय जाग उठी। उसने अपनी आन्तरिक पीड़ा से काँप कर लिखा–

"मैंने अपनी भावना को जकड़ दिया था,
और अपने गीतों को पैर के नीचे दबाकर
उनका गला घोंट दिया।…"

हत्या चाहे वह भावना की हो, या किसी व्यक्ति की, हत्या हमेशा अपराधी के व्यक्तित्व को अन्दर से चूर-चूर कर देती है। 'जो चुप रहेगी जबाने खंजर लहू पुकारेगा आस्तीं का !' अन्त में मायकावस्की की आस्तीं का लहू शेष के सहस्र मुखों से पुकार उठा और अपने अपराध की चेतना के जहर ने मायकावस्की के व्यक्तित्व की सारी शक्ति चूस ली।

उसी वक्त दो घटनाएँ ऐसी घटीं जो मायकावस्की के लिए अभिशाप बन गयीं। एक तो मायकावस्की, जो बराबर फौलाद बना रहा, अन्त में एक दिन उसकी पसलियों के नीचे प्यार की आग धधक उठी और उसका परिपाक हुआ एक दुखान्त घटना में। दूसरी बात इससे भी ज्यादा भयंकर थी। एक नया आलोचक दल निकल आया था आर. ए. ए. पी. जो साहित्य पर प्रोलेटेरियट तानाशाही में विश्वास करता था। वह और भी संकीर्ण था और मार्क्सवादी व्याख्या में मायकावस्की तक के लिए

रचनावली

स्थान नहीं था। उसके कहने पर स्टालिन ने मायकावस्की की कविताएँ, स्कूलों, कालेजों के पाठ्य-क्रम तक से हटा दीं। समय के चक्र ने घूमकर मायकावस्की को ही जकड़ लिया और येसेनिन की मौत के सिर्फ पाँच वर्ष बाद मायकावस्की को भी उसी आत्महत्या का सहारा लेना पड़ा। अन्त में एक दिन उसका भी जनाजा उसी रास्ते से गुजरा···येसेनिन ने मरकर एक सवाल पूछा था–क्या बिना प्यार के कोई भी साहित्य जीवित रह सकता है ? मायकावस्की ने मरकर उत्तर दिया–"नहीं !"

पाँच वर्ष के अन्दर किसी भी राष्ट्र के दो महानतम कवियों का आत्महत्या कर लेना इतना बड़ा कलंक है कि सभ्य राष्ट्रों के सामने सर उठाना मुश्किल हो जाता है। स्टालिन ने इसको अच्छी तरह अनुभव किया। वह स्वयं अनुभव कर रहा था कि साहित्यकार को जकड़ा नहीं जा सकता। उस पर जो अनावश्यक बन्धन लगा दिये गये हैं उससे रूस के साहित्य को क्षति ही पहुँच रही है। स्टालिन में एक खूबी है। संसार के सभी शासकों में स्टालिन से ज्यादा अपने देश को प्यार करनेवाला कोई नहीं है। वह हमेशा वही करता है जिससे रूस की शक्ति, रूस की संस्कृति, रूस की सभ्यता के महान् निर्माण में ठोस सहायता मिले। उसने महसूस किया कि मार्क्सवाद की यह संकीर्ण व्याख्या साहित्यकार के अन्तर्जगत में समा नहीं पाती, साहित्यकार को प्रेरणा नहीं दे पाती। साहित्यकार को भावना के जगत में बहुत छूट देनी पड़ेगी। यह समझ लेने के बाद उसने आर. ए. पी. पी. को भंग कर दिया और उसके स्थान पर 'सामाजिक यथार्थवाद' का सिद्धान्त रक्खा। उसने कवि के अन्तर्जगत का भी महत्त्व स्वीकार किया। समाजवाद और प्रगतिशीलता के होते हुए भी प्यार उनसे अलग नहीं है।

भावनात्मक गीतों के प्रति नये आलोचकों का क्या रुख है यह ए. गर्स्टीन की पुस्तक–'लिरिक एण्ड सोशलिज्म' से स्पष्ट है। वह लिखता है–"इतिहास के दौरान में अभी तक प्रगतिवाद ने अपने को ऐसे गीतों में अभिव्यक्त किया है जिसमें पुरानी दुनिया के प्रति अस्वीकृति का दृष्टिकोण था। अब चूँकि दुनिया बदल चुकी है अतः गीतों में अब विध्वंस की अपेक्षा निर्माण की चेतना आनी चाहिए। समाजवादी व्यवस्था आ गयी है अतः नवीन समाजवादी मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों का भावनात्मक चित्रण गीतों में आना चाहिए। नयी संस्कृति के गायक को न केवल व्यवस्था के गीत गाने चाहिए वरन् उस मनुष्य की भावना को गीतों में सर्वप्रमुख स्थान मिलना चाहिए जो इस सारी व्यवस्था का केन्द्रबिन्दु है।" इस नवीन दृष्टिकोण के लिए मार्क्स का हवाला दिया जाता है। मार्क्स ने लिखा था कि "पूँजीवादी दुनिया में आदमी खोखला हो गया। वह भावनाओं की सचाई तक नहीं पहुँच पाता। देश, आनन्द, प्रेम, मातृत्व और कल्पना यह सब केवल शब्दों की झंकार है, एक नकाब है जिसे पहनकर आदमी पूँजीवादी व्यवस्था में अपने को धोखा देता है। समाजवादी व्यवस्था में इन शब्दों के अन्तर्निहित सत्य और सौन्दर्य का पूरा विकास होगा !"

इस तरह हम देखते हैं कि प्रेम को निर्वासित कर, उसकी सजा पा जाने के बाद आज फिर घूम-फिरकर रूसी कविता ने प्रेम के सामने सर झुका दिया। रही मार्क्स की यह दलील कि केवल समाजवादी प्रेम ही महत्त्वपूर्ण है, इसका निराकरण तो यहीं हो जाता है, कि लेनिन का परमप्रिय कवि पुश्किन था, आज भी रूसी जनता, कम्यूनिस्ट सरकार, और प्रगतिशील आलोचक पुश्किन को रूस का गौरव मानते हैं। और पुश्किन समाजवादी व्यवस्था में नहीं पैदा हुआ था, वह जारशाही के जमाने का था। उसकी मृत्यु समाजवादी युग के लिए लड़ने में नहीं हुई थी, उसकी मृत्यु अपनी बेहद सुन्दरी, बेहद धनी और बेहद मूर्ख पत्नी से पीछे एक द्वन्द्व-युद्ध में हुई थी। फिर भी आज उसकी प्रेम-कविता सोशलिस्ट रूस के गले का हार बनी हुई है। वास्तव में रूसी कविता एक बार स्पष्ट भावनात्मक स्तर पर उतर रही है। अपनी लाचारी को चाहे जिसका हवाला देकर छिपाया जाय।

और युद्ध ने तो इस भावनात्मक प्रवृत्ति को पूर्णतया उभार कर रख दिया है। जर्मनों के प्रति घृणा और अपनी जाति के प्रति अभिमान तथा व्यक्तिगत जीवन में अपनी प्रेयसी से दूर रहनेवाले सिपाही की व्यथा—यही युद्ध की कविता का मुख्य विषय बन गया है। यह ऐसे विषय हैं जो सृष्टि के आरम्भ से युद्ध काल की कविता के विषय बने रहे हैं, चाहे सामन्तवादी युग हो चाहे समाजवादी !

युद्धकाल में प्रसिद्धि पानेवाले नये कवियों में कौन्टैन्स्टिन सिमानाव सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। उसके काव्य-व्यक्तित्व का निर्माण मायकावस्की की मृत्यु के बाद हुआ था। वह बहुत भावनाप्रधान कवि है। उसकी रचनाएँ—'प्रथम प्रणय', '41-42 की गीतात्मक डायरी' और 'तुम्हारे पास और दूर !' रूसी जनता में बहुत ही जनप्रिय हैं। वह कामसोमाल थियेटर की एक बहुत प्रतिभाशाली अभिनेत्री को प्यार करता है और उसी को उसने अपनी रचनाएँ भेंट की हैं। इतना दर्द, इतनी वेदना है उसकी कविता में कि विश्व-साहित्य के प्रेम-गीतों में शीघ्र ही उसके गीतों को स्थान मिल जायेगा। युद्धकाल में एक सधे देशभक्त की तरह उसने भी अपने देश के दुश्मनों के विरुद्ध बन्दूक उठाई थी और एमोलेनस्क से स्टालिनग्राड तक वह मोर्चे पर लड़ा था। उसी बीच में उसने बहुत जोशीले युद्ध-गीत लिखे। लेकिन वह कहीं भी अपनी प्रेयसी को न भुला सका। युद्ध के आखिरी दिनों में जब वह जर्मनी में था तो उसने—'दूर देशवासिनी से !' शीर्षक से एक कविता लिखी थी—

"मैं यहाँ किसी से अपने दर्द बटाने की उम्मीद नहीं करता
यहाँ तुम कभी मुझे तुम्हारा नाम लेते हुए भी न सुनोगी,
लेकिन मेरा यह मौन तुम्हारी साँसों से बसा हुआ है
और हवा के झोंकों में तुम्हारा ही रूप लहराता है !"

उसका यह प्यार कभी-कभी इतना अपार्थिव हो उठता है कि उसे छायावादी कह देने की तबीयत होती है—

रचनावली

"केवल एक मात्र प्यार की प्रेरणा से
मैं तुम्हारी आत्मा को अपनी आत्मा से बाँध सकता था,
और तुम्हारी आत्मा से कह सकता था–
आओ मेरे साथ रहो :
सूक्ष्म, शरीरहीन–जिसे कोई भी न देख सके !"

इसे पढ़कर पन्तजी की वह नायिका याद आ जाती है जिसके लिए वे लिखते हैं–"सब, रूप, रेख, रंग ओझल !"

केवल सिमानाव ही नहीं, वरन् डालमेटावस्की और मैटुसावस्की में भी इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ आ रही हैं लेकिन सिमानाव तो बहुत प्रख्यात हो चुका है। श्लकोवस्की ने तो कहा है–"वह पहला आधुनिक कवि है जिसने हमारे सामने अपना दिल खोलकर रख दिया है !"

यद्यपि अब भी कुछ लोग ऐसे हैं जो प्रेम की कविता के नाम पर मुँह सिकोड़ते हैं, मगर ये वही बूढ़े अफसर हैं जिनका लालन-पालन संकीर्ण मार्क्सवादी परिस्थितियों में हुआ था। कहा जाता है एक कम्यूनिस्ट पदाधिकारी ने कहा था–"सिमानाव की रचनाओं की केवल दो प्रतियाँ छपनी चाहिए। एक उसके खुद के लिए, दूसरी उसकी वह के लिए !" लेकिन अब इतनी संकीर्णता व्यापक नहीं है। जनता येसेनिन और पुश्किन को खूब अपना रही है। सन् 43 में सरकार की ओर से रूसी कविताओं का एक संग्रह छपा है जिसमें मायकावस्की और येसेनिन दोनों का समान स्थान है, दोनों की 21-21 गीत हैं। येसेनिन का मृत्युपर्व भी अब सरकार की ओर से मनाया जाने लगा है।

कम से कम मुझे तो जरा भी सन्देह नहीं कि जब रूस की नयी पीढ़ी अपनी पूर्णता पर पहुँचेगी उस समय फिर वही कविता का स्वर्णकाल आ जायगा, फिर प्रेम और सौन्दर्य के गीतों से रूसी वातावरण गूँज उठेगा और फिर रूस की धरती से पुश्किन और येसेनिन जागेंगे। रूस के नये युग के स्वरों में फिर से प्रेम और सौन्दर्य के देवता की प्रतिष्ठा होगी।

मुझे तो पूरा विश्वास है कि आनेवाली रूसी कविता में फिर एक बार रूसी मधुमास की सुबह की ताजगी, उड़ते हुए बादलों का हल्कापन, और पलकों के आँसुओं की चमक झलकेगी। प्रेम की दिशा सृष्टि के प्रथम दिवस से कविता की अनिवार्य दिशा रही है और सृष्टि के अन्तिम दिवस तक रहेगी।

राजनीतिक अनुशासन और साहित्य

रचनावली

इसमें कोई सन्देह नहीं कि महान् कलाकार अपने युग की समस्याओं का समाधान अपनी कला में अवश्य देता है, लेकिन केवल इसी आधार पर यह कहना कि केवल राजनीतिक कला ही महान् हो सकती है, या किसी भी युग की कला का राजनीतिक अंश ही महान् है, यह एक बहुत बड़ी भूल है। एक राजनीतिज्ञ और एक कलाकार, दोनों ही किसी विशेष युग में किसी मानवता की समस्याओं का समाधान ढूँढ़ते हैं, लेकिन राजनीतिक के सामने केवल शासन सत्ता को हस्तगत करना या उसे सुरक्षित, दृढ़ करने का मन्तव्य रहता है। कलाकार की समाधान भूमि अधिक विस्तृत होती है। उसकी दृष्टि मानव आत्मा पर रहती है और वह जीवन का एक सम्पूर्ण और स्थायी समाधान खोजना चाहता है जिसमें केवल राजनीति या अर्थशास्त्र ही नहीं वरन् मनोविज्ञान, भावनाएँ, प्राचीन साहित्यिक परम्पराएँ, प्राचीन ऐतिहासिक परम्पराओं का भी आधार रहता है। अधिकतर ऐसा रहा है कि कलाकार अपने युग के राजनीतिज्ञों से अधिक प्रगतिशील रहे हैं, इस अर्थ में कि जहाँ राजनीतिज्ञों के खोजे हुए समाधानों के कारण आगे चलकर समस्याएँ और भी उलझती गयीं वहाँ कलाकारों के समाधानों ने मानवता को आगे बढ़ने का सबल और स्थायी आधार दिया है।

लेकिन आज के युग में जब कि आर्थिक समस्याएँ और राजनीति इतनी प्रमुख हो गयी है, एक गम्भीर प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। राजनीति और साहित्य में सापेक्ष सम्बन्ध क्या है ? साहित्य पर कहाँ तक बाह्य राजनीतिक प्रतिबन्ध रहना चाहिए ? कहाँ तक साहित्य को पार्टी के आदेशों पर चलना चाहिए ? क्या साहित्य बाह्य राजनीतिक बन्धनों में फल-फूल सकता है ? पार्टी-लिटरेचर का नारा कहाँ तक कल्याणकारी है ? इस विषय में सबसे अच्छा यह होगा कि हम देखें कि रूस में इस विषय में क्या प्रयोग हुए हैं। रूस ही एक मात्र देश है जहाँ मार्क्सवादी शासन है। वहाँ साहित्य और पार्टी में क्या सम्बन्ध रहा है और उसकी साहित्य पर क्या प्रतिक्रिया हुई है।

रचनावली

सभी देशों के मार्क्सवादियों की पुकार रही है कि कम्यूनिस्ट लेखक को, प्रगतिशील लेखक को पार्टी लेखक होना चाहिए। प्रसिद्ध अंग्रेजी मार्क्सवादी लेखक रैल्फ फाक्स जो सचमुच ही विश्व-क्रान्ति का एक बहादुर सिपाही था, जो स्पेन में प्रजातन्त्रवाद के लिए लड़ते-लड़ते हुए मरा; उसने अपने 'नावेल एण्ड द पीपुल' में स्पष्टतया लिखा है–"क्रान्तिकारी लेखक सदा पार्टी लेखक होता है। इसका मतलब यह नहीं कि वह दिन-प्रतिदिन की समस्याओं पर पार्टी के नारे लागू किया करता है, वरन् वह पार्टी की चेतना का समर्थन देने के लिए नयी चेतना का साहित्य सृजन किया करता है।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि रैल्फ फाक्स की इस व्याख्या में संकीर्णता नहीं है, लेकिन जब यह पार्टी लिटरेचर का सिद्धान्त व्यवहार में लाया गया तो यह बहुत खतरनाक साबित हुआ और संकीर्ण होते-होते यह पार्टी तानाशाही के सिद्धान्त पर उतर आया।

जहाँ तक रूस का प्रश्न है, वहाँ तो कम्यूनिस्ट पार्टी ही इस समय शासक है। इसलिए वहाँ पार्टी अनुशासन के साथ-साथ राजकीय संरक्षण का प्रश्न भी साहित्य के लिए उठ आता है। रूस में कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना लगभग 1883 के लगभग हुई। कम्यूनिस्ट क्रान्ति और कम्यूनिस्ट पार्टी का शासन अक्टूबर 1917 से हुआ और मायकावस्की की फ्यूचरिस्ट कविता का आरम्भ 1918 से हुआ। 1916 से लेकर 1947, 30 वर्ष तक पार्टी के शासन और साहित्य के सृजन में कभी द्वन्द्व रहा, कभी नियन्त्रण, कभी उदार स्वाधीनता, कभी उदार संरक्षण। सोवियत सरकार प्रयोग करती रही, प्रयोगों से सीखती रही और सीख-सीखकर अपनी दिशाएँ बदलती रही। शुरू में जब सोवियत सरकार कायम हुई उस समय गृहयुद्ध, सैन्य संगठन, आन्तरिक प्रबन्ध, प्रतिक्रियावादी विरोध, विदेशी षड्यन्त्र न जाने कितनी बहुत महत्त्वपूर्ण समस्याएँ पार्टी के सामने थीं और साहित्य पर पार्टी ने अधिक ध्यान नहीं दिया।

मायकावस्की और उसके साथी ओ. ब्रिक भविष्यवादी कविता का प्रचार कर रहे थे। भविष्यवाद सभी प्राचीन कविता और कला से नाता तोड़ लेना चाहता था, नयी शैली और नयी सरकार की नयी नीति यही भविष्यवादी कविता थी। कम्यूनिस्ट पत्रिका इस्कुस्त्वो कम्यूनी के प्रथम अंक में ही ब्रिक ने घोषित किया कि भविष्यवाद ही नवीन युग की कला है। वही सच्चा प्रोलेटेरियट साहित्य है। उसने उसी लेख में यहाँ तक कहा कि अब अगर लिखा जायगा तो प्रोलेटेरियट साहित्य, अन्यथा साहित्य का लिखना ही बन्द कर दिया जायगा।

लेकिन नयी कम्यूनिस्ट सरकार भविष्यवादी कला को संरक्षण देने के लिए तैयार नहीं थी। लेनिन भी मायकावस्की को बहुत बड़ा कवि नहीं समझता था, उसमें अपने प्राचीन साहित्य के लिए मोह था। लेनिन का सहकारी, सोवियत् रूस का शिक्षा मन्त्री लुचारन्स्की भी संकीर्ण विचारों का नहीं था। उसे प्राचीन साहित्य के प्रति काफी श्रद्धा थी और प्रोलेटेरियट साहित्य के विषय में उसका कहना था कि

रचनावली

"प्रोलेटेरियट शासन कायम होते ही प्रोलेटेरियट साहित्य की माँग करना एक असम्भव चमत्कार की माँग करना है।" लुचारन्स्की के विचार बहुत ही सन्तुलित थे। दिसम्बर, सन् 1918 के इस्कुस्त्वो कम्यूनी में उसने स्पष्ट लिखा था–"यह तो बड़ी ही भद्दी बात है कि हम महान् लेखकों को इस बात के लिए मजबूर कर दें कि वे अपने को स्वतन्त्र लेखक न समझकर सरकारी लेखक समझें और उनकी कलम अपनी अनुभूति पर संचालित न होकर किसी बाहरी आदेश पर संचालित हो, चाहे वह आदेश किसी क्रान्तिकारी दल का ही क्यों न हो !"

लेकिन सन् 20 के ही बाद से कम्यूनिस्ट लेखक और विचारक अपनी तानाशाही कायम करने के लिए व्यग्र थे। जैसा हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि 'आन गार्ड' आदि कई गिरोह कायम हो गये थे जो सिवा पार्टी लेखकों को, अन्य लेखकों को किसी तरह का भी प्रोत्साहन देने के सर्वथा विरुद्ध थे। प्रथम अखिल सोवियत लेखक सम्मेलन में कामरेड वाराडिन ने एक रिपोर्ट इस विषय पर पेश की थी कि किस प्रकार वे लेखक, जो कम्यूनिस्ट नहीं हैं, (फेलो ट्रेवलर या सहयात्री) धीरे-धीरे महत्त्व पाते जा रहे हैं। यह बात कम्यूनिस्ट लेखकों को सह्य नहीं थी। इस सूचना पर उस सम्मेलन में एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें कहा गया–

"वर्ग-संघर्ष वाले समाज में साहित्य को तटस्थ रहने का अधिकार नहीं है। उसको शासक वर्ग का साथ देना ही होगा। शान्तिमय सहयोग और विभिन्न साहित्यिक धाराओं के निर्बाध अस्तित्व की बातें महज हवाई किले हैं। साहित्य को भी वर्ग-संघर्ष का रक्षा क्षेत्र बनना ही होगा।"

लेकिन बुखारिन ने आन गार्ड वालों से स्पष्ट कहा कि "पहले तुम कुछ निर्माण करो। कुछ सफलता प्राप्त करो, तब तुम राजकीय संरक्षण का दावा कर सकते हो।"

साहित्य पर पार्टी की तानाशाही लाद देने का यह खतरा इतना भीषण और इतना खतरनाक होता जा रहा था कि रूस का भला चाहनेवाले इस नारे की भयंकरता को भली भाँति महसूस करने लगे और इसके जहर के निराकरण के उपाय सोचने लगे। हम इस नारे की मूल शक्ति तब पहचान सकते हैं जब हम यह पहचान लें कि इस नारे को बुलन्द करनेवालों की क्या मनोवृत्ति थी।

ये लोग जो ऑन गार्ड जैसे दलों के सदस्य थे, और प्रोलेटेरियट साहित्य की तानाशाही की माँग पेश कर रहे थे; ये लोग अधिकतर मध्यम या निम्न श्रेणी के कलाकार थे, 'कवियशः प्रार्थी' थे लेकिन इनमें इतनी प्रतिभा नहीं थी कि वे स्वयं अपनी कलम के बल पर जनता के हृदय में अपना स्थान बना सकें। अपनी कला के अभाव को यह पार्टी और राज्य के संरक्षण के बाने से पूरा करना चाहते थे। जब साहित्य के माध्यम से यह दूसरे कलाकारों को नहीं हरा सके तो इन्होंने

राजनीतिक नारों का आश्रय लेकर उन्हें हराना चाहा।

लेकिन उस समय कम्यूनिस्ट पार्टी का नेतृत्व और रूस का शासन जिन लोगों के हाथ में था वे सोवियत साहित्य का हित चाहते थे और इन यशलोलुप लेखकों के चक्कर में फँसकर अपने देश के साहित्य को नष्ट नहीं करना चाहते थे। 19 मई सन् 1924 को, कम्यूनिस्ट पार्टी की सेण्ट्रल कमेटी का घोषणापत्र इस सम्बन्ध में बहुत दूरदर्शितापूर्ण और उदार था।

"यह संक्रान्ति-काल है, पार्टी को किसी भी संक्रान्ति-कालीन साहित्यिक विचारधारा के प्रति अधैर्य नहीं दिखाना चाहिए।···प्राचीन साहित्य और साहित्यिक विद्वानों के प्रति जो विचारहीन आन्दोलन चल पड़ा है उसका हमें विरोध करना चाहिए··· इसी प्रकार शुद्ध प्रोलेटेरियट साहित्य का निर्माण करनेवाली सभी अविचारपूर्ण प्रवृत्तियों के खिलाफ पार्टी को लड़ना चाहिए।···कम्यूनिस्ट आलोचना में किसी में किसी प्रकार की तानाशाही का आभास न रहना चाहिए।···जो भी लेखक या जो भी साहित्यिक संघ कम्यूनिस्ट न होते हुए भी कम्यूनिस्ट निर्माण के साथ चलने के लिए तैयार हैं, उनके प्रति बहुत ही नीतिपूर्ण और उदारतापूर्ण व्यवहार होना चाहिए।···प्राचीन महान् साहित्यकारों की रचनाएँ पढ़नी चाहिए और उन्हें अपने सामने आदर्श रूप में रखना चाहिए···इस नये युग के अनुरूप साहित्य तैयार होगा लेकिन उस साहित्य को इस तरह धमकी देकर या आदेश देकर नहीं तैयार किया जा सकेगा।···किसी भी साहित्यिक संघ को पार्टी के नाम पर प्रचारित करना बहुत बड़ा अपराध है।···किसी भी साहित्य पर किसी भी पार्टी का आधिपत्य रखना एक नौकरशाही मनोवृत्ति है। मजदूरों और किसानों के लिए रखे गये साहित्य के प्रति पूरी नैतिक सहानुभूति होते हुए भी पार्टी किसी विशेष लेखकों के गिरोह को संरक्षण नहीं दे सकती, चाहे वह कितना ही प्रोलेटेरियट क्यों न हो। किसी विशेष समूह को संरक्षण देने के अर्थ हैं संघ-जनवादी-साहित्य की हत्या कर देना।"

कुछ दिनों तक सोवियत सरकार और कम्यूनिस्ट पार्टी की यह प्रशंसनीय तटस्थता चलती रही लेकिन कभी-कभी परिस्थितियाँ फिर आदमी को ऐसे समाधान की शरण लेने को मजबूर कर देती हैं जिसे वह पहले ठुकरा चुका है। स्टालिन अकेला था, लेनिन की मौत के बाद ! ट्राटस्की के समर्थक हर तरह से सोवियत सरकार को उलटने का प्रयास कर रहे थे। उन्हें पाश्चात्य पूँजीवादी सरकारों का भी पूरा सहयोग प्राप्त था। चारों ओर से रूस दुश्मनों से घिर गया था और प्रतिक्रियावादी दलों के भेष में दुश्मन घर में भी घुस गया था। ऐसी अनिश्चित परिस्थितियों में जब एक शासक फँस जाता है तब उसे अपने से भी डर लगने लग जाता है। उस डाँवाडोल परिस्थिति में कभी-कभी वह ऐसे काम कर जाता है जिसका परिणाम उसे पहले से नहीं मालूम होता, बाद में उसे उस गलती का बहुत बड़ा प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

रचनावली

कुछ ऐसी ही गलती हुई स्टालिन से जब उसने 1929 में **सभी** साहित्यिक संघों को मिटाकर केवल आर. ए. पी. पी. (रूसी प्रोलेटेरियट लेखक संघ) की तानाशाही कायम कर दी। उनका अध्यक्ष आवरबाख था और उसने कैसे हास्यास्पद रीति से साहित्य के साम्राज्य में नादिरशाही बरती और अन्त में साइबेरिया भेज दिया ग़या यह सब हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं।

धीरे-धीरे स्टालिन ने अपनी गलती महसूस की और वह साहित्य को इस शिकंजे से मुक्त करने का प्रयास करने लगा। उसने अच्छी तरह देख लिया कि साहित्यकार के ऊपर सिवा सत्य और अनुभूति के अन्य किसी प्रकार का राजनीतिक बन्धन सच्चे साहित्य को मार डालता है। अतः उसके संकेत पर 23 अप्रैल सन् 1932 को कम्यूनिस्ट पार्टी की सेण्ट्रल कमेटी ने यह प्रस्ताव पास किया–"चूँकि अब प्रालेटेरियट साहित्य अपने को स्थापित कर चुका, मिलों, फैक्टरियों और समुद्री मजदूर भी साहित्य के क्षेत्र में आ चुके। अतः अब आर. ए. पी. पी. तथा उसी प्रकार की अन्य संस्थाओं की आवश्यकता नहीं रही। उनका दायरा अब नये साहित्य के विकास के लिए संकुचित मालूम पड़ता है। अतः सेण्ट्रल कमेटी निश्चित करती है कि–

1. आर. ए. पी. पी. तथा इस प्रकार की अन्य संस्थाएँ भंग कर दी जायें।

2. जो भी लेखक सोवियत राष्ट्र की सत्ता स्वीकार करते हैं और समाजवादी निर्माण के साथ हैं उन सबको एक मंच पर संगठित कर एक व्यापक सोवियत लेखक संघ कायम करना। इस संघ में कम्यूनिस्ट अंश रहेगा।

3. इसी प्रकार का परिवर्तन कला के अन्य क्षेत्रों में करना।

4. एक ब्यूरो संगठित करना जो इस निश्चय को कार्यान्वित करे।

यह निश्चय कार्यान्वित हुआ और आज फिर सोवियत साहित्य को इतनी स्वाधीनता है कि वह खुलकर साँस ले सके। स्वयं सोवियत सरकार की नीति भी आज बजाय संकीर्ण मार्क्सवाद के, एक व्यापक जनवाद (narodnism) को अपना रही है और सोवियत साहित्य में भी वर्ग-संघर्ष के बजाय एक नवीन सोवियत मानववाद का जन्म हो रहा है।"

लेकिन फिर भी यह सोचना गलत होगा कि पार्टी से साहित्य सर्वथा मुक्त है या निरपेक्ष है। हम देख चुके हैं कि प्रस्ताव में स्पष्ट शब्दों में यह था–"इस संघ में कम्यूनिस्ट अंश रहेगा।"

वह कम्यूनिस्ट अंश है, और सोवियत लेखक और कम्यूनिस्ट पार्टी के सापेक्ष सम्बन्धों को समझने के लिए उस कम्यूनिस्ट अंश के स्थान को समझ लेना बहुत आवश्यक है। कहाँ तक उसका महत्त्व है ? क्या वह प्रभावशाली अंश है ? यदि है तो कहाँ तक ?

यह तो स्पष्ट है कि बाहरी तौर से कम्यूनिस्ट अंश को कोई विशेष सुविधाएँ नहीं हैं, लेकिन यह स्वाभाविक है कि जब देश में कम्यूनिस्ट सरकार है तो कम्यूनिस्टों

को राजनीतिक सुविधाएँ और प्रतिष्ठा मिलेगी लेकिन अब कम्यूनिस्टों की आलोचना में वह साहित्यिक तानाशाही का स्वर नहीं रह गया है। संघ का सभापति साधारणतया पार्टी का सदस्य होता है और उसके माध्यम से पार्टी और संघ में सम्बन्ध बना रहता है। लेकिन यह सम्बन्ध नीति पर कम असर डालता है। इसका मुख्य काम होता है लेखक-संघ के बाह्य संगठन का प्रबन्ध करना। लेखकों की पाण्डुलिपियाँ छपवाना, उसकी जीविका, उनका रहन-सहन, उनके पुस्तकालयों और उनके अध्ययन की सुविधाएँ आदि प्रस्तुत करना, यह सभी सभापति के हाथ में होता है। लेकिन यह अवश्य है कि यह सभापति पार्टी का नियमित सदस्य होता है और अक्सर वह मार्क्सिस्ट दर्शन और मार्क्सिस्ट आलोचना का विद्वान् होता है, लेखक या कवि नहीं। सोवियत लेखक संघ का वर्तमान सभापति जी. एम. अलैक्जेन्ड्राव है जो बहुत कम लिखता है लेकिन जो बहुत गहरा राजनीतिक विचारक है और राजनीति की दिशाओं को बहुत सूक्ष्मता से समझता है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से स्टालिन इन लेखकों को राजनीतिक निर्देशन में रखता है। कभी-कभी लेखक-संघ के सभापति या मन्त्री इस पद के सहारे राजनीति में भी प्रमुख स्थान बना लेते हैं। इस संघ का सर्वप्रथम मन्त्री शरवैकोव था जो बाद में राजनीति में बहुत प्रभुत्व पा गया। युद्ध के जमाने में वह रेडआर्मी के सूचना विभाग का प्रमुख सचिव था और 1945 में, अपनी मृत्यु के समय वह लेफ्टीनेण्ट ज़नरल बन चुका था। लेखकों पर कम्यूनिस्ट पार्टी में सम्मिलित होने के लिए कोई विवश नहीं करता। अधिकांश लेखक कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य नहीं हैं। लेकिन उनमें से अधिकांश उस आदर्श में पूर्णतया विश्वास करते हैं। आये दिन स्वयं पार्टी की सदस्यता के लिए प्रार्थना-पत्र दिया करते हैं। यह सदस्यता वे इसलिए नहीं स्वीकार करते कि उन पर कोई बाहरी राजनीतिक दबाव है, वरन् इसलिए कि वे अपनी निर्माण-चेतना को क्रियात्मक रूप देना चाहते हैं, वे जिन आदर्शों को कलम़ पर उतारते हैं उन्हें जीवन में भी प्रतिपालित करना चाहते हैं। उनका पार्टी सदस्य होना अब किसी राजनीतिक गुलामी का चिह्न नहीं है वरन् उनकी देशभक्ति का ज्वलन्त प्रमाण है। हमें रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी को भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी का प्रतिरूप न समझना चाहिए। रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी और उसका अध्यक्ष स्टालिन बहुत ही यथार्थदर्शी हैं और रूस को सचमुच प्यार करते हैं। वे अपने आदर्शों को इतनी यथार्थ और सहजभूमि पर ले आये हैं कि रूस के लेखकों के लिए पार्टी सचमुच एक कार्यक्षेत्र है जो उनकी कला को बल देता है। जिस तरह कल तक हर ईमानदार भारतीय साहित्यिक कांग्रेस के साथ था, कांग्रेस के आन्दोलनों के साथ सहानुभूति रखता था, क्योंकि वही एक राजनीतिक संस्था थी जो सचमुच भारत की जनता की प्रतिनिधि थी, उसी तरह रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी भी आज सचमुच रूसी जनता की प्रतिनिधि है और उसने रूस की परिस्थितियों से अपने आदर्शों को इतनी अच्छी तरह सन्तुलित कर लिया है कि अपने युग-निर्माण

रचनावली

में सहायता देनेवाला कोई रूसी साहित्यिक, पार्टी का विरोधी नहीं हो सकता। रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी रूस के लिए है, भारत के लिए नहीं, जब कि भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी भारत के लिए नहीं है और चाहे जिसके लिए हो। एक भारतीय कम्यूनिस्ट लेखक नाजियों के ख़िलाफ लड़नेवाले छापामारों की प्रशंसा में महाग्रन्थ लिख सकता है लेकिन अंग्रेजों के खिलाफ लड़नेवाले सन् 42 के बहादुर हिन्दोस्तानी युवकों को वह जापान का एजेण्ट कह सकता है। उसके सामने अपना देश नहीं है।

रूसी लेखकों में यह बात नहीं है। जब वे पार्टी में शामिल होते हैं तो सबसे पहले उनके सामने अपना देश होता है। इसका सबसे दिलचस्प उदाहरण लेनिनग्राड की प्रसिद्ध कवयित्री वेरा इन्बर की डायरी है। वह पहले पार्टी की सदस्या नहीं थी किन्तु बाद में उसने पार्टी की सदस्यता के लिए प्रार्थना-पत्र दिया। जब पार्टी में इण्टरव्यू के बाद वह लौट रही थी तो उसने जो कुछ सोचा वह यह था–"पहले मैं जब कभी कुछ भी अच्छा लिखती थी तो मुझे बेहद खुशी होती थी, असफल रहती थी तो दुःख होता था। लेकिन यह केवल व्यक्तिगत दुःख-सुख था। लेकिन अब जब मैं लिखती हूँ तो सोचती हूँ कि यह सोवियत साहित्य को बढ़ाने में कितना सहायक होगा। सोवियत साहित्य भी तो उस महान् विकास का एक भाग है, मेरे प्यारे देश का विकास–मेरा प्यारा देश जो संसार का सर्वप्रथम समाजवादी देश है!"

अपने देश, अपने प्यारे देश के लिए कितनी सुलगती हुई भावनाएँ आज सोवियत लेखकों के मन में हैं यह 16 सितम्बर सन् 44 के 'सोवियत लिटरेचर एण्ड आर्ट' में छपी हुई यूरी क्रामोव पर ए. क्रान की श्रद्धांजलि से मालूम होता है–

"हमारी सबसे बड़ी प्रसन्नता इस बात में है कि हम मानवता के विकास में अपने को मिटा सकें। यह मानव के अस्तित्व का महानतम अर्थ और आदर्श है और इस महान् बलिदान की तैयारी में अगर हम पूरा एक जीवन बिता देते हैं तो भी कोई बड़ी बात नहीं! जिस जीवन में संघर्ष न हो, निर्माण की टीस न हो, एक ऐय्याश की जिन्दगी जिसके अपने पंख न हों और जो केवल स्वार्थ के उद्देश्यों से संचालित होती हो, वह आदमी को पतित बना देती है और उसकी आत्मा को कमजोर बना देती है। उसे वह आनन्द, वह निश्छल और स्वर्गिक आनन्द कभी नहीं मिल पाता जो उन लोगों को मिलता है जो इतिहास के चक्के को आगे बढ़ाया करते हैं।"

और सचमूच इतिहास के चक्के को आगे बढ़ाने में सोवियत लेखक कितने सशक्त हैं, यह पिछले युद्ध में साबित हो चुका है। किसी भी अमेरिकन लेखक ने अमेरिका के लिए वह नहीं लिखा, किसी भी इंगलिश लेखक ने इंगलैण्ड के लिए वह नहीं लिखा, जो इल्या एहरेनबुर्ग ने रूस के लिए लिखा। बिना किसी बाहरी दबाव के हर लेखक ने उस युद्ध की भीषणता को अनुभव किया और संग्राम में

लगी हुई अपनी महान् रूसी जाति के पसीने में कलम डुबोकर अपना साहित्य लिखा।

उसी समय हिन्दोस्तान की अभागी धरती पर भी एक आजादी की खूनी लड़ाई लड़ी जा रही थी। एक ओर हैलेट, नेदरसोल और लिनलिथगो थे जिनका खून नाजियों के शुद्ध आर्य रत्न से भी ज्यादा जहरीला था और दूसरी ओर हिन्दोस्तानी थे, रूसियों से कहीं ज्यादा कमजोर और निहत्थे, लेकिन उस वक्त हिन्दोस्तान की कम्यूनिस्ट पार्टी के लेखकों की जुबान चुप थी। वे रूसी जाति के दुःख से दुखी थे। उस समय नरेन्द्र लिख रहे थे, "उजड़ रहीं अनगिनत बस्तियाँ मन तेरी ही बस्ती क्या ?" लेकिन उन्हें इस विशाल देश का ध्यान नहीं आया जो सन् 42 में श्मशान से भी ज्यादा भयंकर बन गया था। स्टालिनग्राड पर आल्हा बन गया था, लेकिन अष्टीचिमूर पर किसी से एक अक्षर भी न बोला गया था। सुमन ने लिखा था–"दस हफ्ते दस साल बन गये, मास्को अब भी दूर है !" लेकिन हिन्दोस्तान की जनता का दुःखदर्द भी उनके माइक्रोफोन से बहुत दूर था।

इसलिए हमें रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी और हिन्दोस्तान की कम्यूनिस्ट पार्टी का अन्तर भली भाँति समझ लेना चाहिए। रूसी लेखकों का कम्यूनिस्ट पार्टी के प्रति झुकाव और श्रद्धा होना स्वाभाविक है। वहाँ की कम्यूनिस्ट पार्टी ने अपने कामों और उदार सिद्धान्तों के आधार पर वहाँ के लेखकों को जीता है, प्रचार या तानाशाही के बल पर नहीं। तानाशाही का नतीजा बुरा ही भोगना पड़ा।

वैसे अब भी कुछ अमेरिकन पत्र इस बात का प्रचार कर रहे हैं कि साहित्य पर कम्यूनिस्ट तानाशाही है, लेकिन वह पूँजीवादियों का प्रतिक्रियावादी प्रचार मात्र है। 'कोलियर्स' में एक लेख छपा है जिसमें यह है कि एक आपेरा के गीत की इसलिए कम्यूनिस्ट पार्टी ने निन्दा की है कि स्टालिन उसकी लय पर सीटी नहीं बजा सका। लेकिन इस प्रकार के अमेरिकन प्रचार की असलियत को अब एक पढ़ा-लिखा व्यक्ति अच्छी तरह पहचानता है।

मोलोटोव को रूस का सबसे संकीर्ण अनुदार और शक्की कम्यूनिस्ट कहा जाता है। उसने स्वयं 6 नवम्बर सन् 45 को कहा था–"अब सोवियत कलाकार और सोवियत जनता में एकात्म स्थापित हो गया है।" यही बात अप्रैल सन् 46 में होनेवाले अखिल सोवियत-गद्य-लेखक-सम्मेलन से जाहिर हुई थी।–13 अप्रैल के गजट में उसके बारे में निकला था–"पहले ही दिन से यह स्पष्ट हो गया था कि रूस की अमर साहित्यिक परम्परा के प्रति एक अन्धश्रद्धा में वे एक मत थे, राजनीतिक विचार एक थे और सभी अपना गम्भीर उत्तरदायित्व पहचानते थे। यों बहुत से वाद-विवाद हुए जो उपयोगी थे, लेकिन सोवियत साहित्य के लक्ष्य, आदर्श, और निर्माण शैली के विषय पर उनमें रत्ती भर मतभेद नहीं था। विभिन्न लोग, विभिन्न व्यक्तित्व, विभिन्न प्रतिभा लेकिन सबका एक सिद्धान्त–सामाजिक यथार्थवाद, और एक ही लक्ष्य–अपने महान् देश की उन्नति !"

रचनावली

लेकिन हमें अच्छी तरह ध्यान रखना चाहिए कि सोवियत लेखक तभी जनता से घुलमिल सका जब उसे राज्य या पार्टी के शिकंजे से आजाद कर दिया गया और उसके स्वाभिमान, उसकी स्वाधीन चिन्ता और उसकी आजाद कलम को पंख फैलाने के लिए विस्तृत आकाश दिया गया।

कहा जाता है इधर रूसी साहित्य पर पार्टी की फिर वज्र नजर पड़ रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि साहित्य पर नियन्त्रण बढ़ाया जा रहा है। साहित्यिक संघों को बार-बार इस बात का ध्यान दिलाया जा रहा है कि वे अपने मूल आदर्श न भूलें। 'ज्वेज्द' और 'लेनिनग्राद' नामक पत्रों को इस बात की चेतावनी दी गयी है कि वे आदर्शात्मक आलोचना पर ध्यान नहीं देते। सोवियत लेखक संघ के सभापतित्व से टिखानोव को हटा दिया गया, जोशेंको और आख्मातोवा को संघ से निकाल दिया गया है और संघ का पुनर्संगठन किया गया है।

इस सब का आधार कम्यूनिस्ट पार्टी के जनरल सेक्रेटरी ज्डैनोव का एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव है जिसमें उसने बताया है कि सोवियत कला पर विदेशी बोर्जुआ कलाओं का पतनोन्मुख प्रभाव पड़ रहा है। उसी के संकेत पर कुछ अमेरिकन चित्रों को भी हटा दिया गया है। फिल्म निर्माताओं की भी इस बात के लिए निन्दा की गयी है कि वे सस्ते मनोरंजक खेल बना रहे हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि फिर स्टालिन की नीति में परिवर्तन आ गया है लेकिन इसका मुख्य कारण है अमेरिका के प्रति रूस की सशंकित भावना ! युद्ध समाप्त होते ही अमेरिका ने जिस प्रकार अपने पत्रों में जहरीला प्रचार रूस के खिलाफ करना शुरू कर दिया है, उससे रूस फिर दूसरे युद्ध की तैयारियों में जुट गया है और वह सभी अमेरिकन तत्त्वों को रूसी संस्कृति से निकाल देना चाहता है। अगर इसके लिए उसने फिर एक बार कम्यूनिस्ट तानाशाही की गलती की तो यह उसकी भूल होगी। लेकिन अगर फिर रूसी साहित्य को एक बार अपनी स्वतन्त्रता खोनी पड़ी तो इसका जिम्मा पूँजीवादी राष्ट्रों पर होगा जिन्होंने रूस को शान्त बने रहने देने के खिलाफ कसम खा ली है। अगर हम अमेरिकन साहित्य में रूस के खिलाफ गन्दा प्रचार देखें, ध्यान से देखें, तो हम रूस की प्रतिक्रिया को समझ सकते हैं। आखिरकार नफरत से नफरत ही तो पैदा हो सकती है न !

प्रगतिवादी साहित्य में कलात्मक तत्त्वों का अभाव

रचनावली

8 अप्रैल सन् 1944 के 'साहित्य और कला' नामक सोवियत पत्र में प्रसिद्ध आलोचिका श्रीमती मोटीलेवा ने अपने एक लेख में लिखा है–"मुझे एक वार्तालाप याद आ गया जो दैवयोग से मैंने सुन लिया था। विश्वविद्यालय के साहित्य विभाग का एक प्रतिभाशाली विद्यार्थी जिसके पक्ष में बहुत से लोग थे, बहुत गरम बहस कर रहा था। वह कह रहा था–'काव्य में सौन्दर्य प्रमुख है कवि अपनी व्यक्तिगत देन देता है। उसको पूरा अधिकार है कि वह अपने युग की राजनीति की उपेक्षा कर दे–हम उसको राजनीति में नहीं जकड़ सकते !' "

यदि हम इस मनोवृत्ति का सूक्ष्म विवेचन करें तो हम देखेंगे कि ऐसे लोगों की कमी नहीं जो प्रगतिवादी साहित्य पढ़ने के बाद इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि साहित्य को राजनीति से अलग रक्खा जाय तो ज्यादा अच्छा है। इस प्रकार के पाठकों में से अधिकांश पाठक राजनीति में भाग लेते हैं लेकिन साहित्य में राजनीति का विरोध करते हैं। यद्यपि मैंने यह भी देखा है कि जब वे डिकेन्स का 'टेल ऑफ दूसिर्टज', विक्टर ह्यूगो का 'लॉ मिजरासब्स', टाल्स्टाय का 'वार एण्ड पीस' या शरत का 'पथेर दावी' पढ़ते हैं तो झूम उठते हैं और इन लेखकों की इन कृतियों में आयी हुई राजनीति पर चिढ़ते नहीं, उसका रसास्वादन करते हैं।

इससे स्पष्ट है कि ये पाठक, जो अपनी मनोवृत्तियों में पलायनवादी नहीं होते, ये लोग भी प्रगतिवादी साहित्य में राजनीति का विरोध इसलिए करते हैं कि अधिकांश प्रगतिवादी साहित्य (भारत में) न तो प्रगतिवादी ही होता है और न साहित्य ही। एक प्रगतिवादी साहित्यिक यह भूल जाता है कि वह राजनीति पैम्फलेट नहीं लिख रहा है, अखबार का सम्पादकीय नहीं लिख रहा है, वह साहित्य लिख रहा है जिसका मूल्य अधिक स्थायी है, जिसकी पैठ अधिक गहरी है और जिसके लिए एक कलात्मक चतुराई की आवश्यकता होती है। एक लेखक के लिए अपने जीवन-दर्शन का सँवारना जितना आवश्यक होता है, उतना ही आवश्यक होता है अपनी कलम सँवारना। एक लेखक यह नहीं भूल सकता कि मार्क्सवादी होने पर भी वह लेखक ही है और

मार्क्सवादी साहित्य लिखने पर भी वह साहित्य ही लिख रहा है। वह उन नियमों से अलग नहीं जा सकता जो साहित्य को हमेशा से संचालित करते आये हैं और जिन्होंने सदा साहित्य के नये रूपों का निर्माण किया है। जितना आवश्यक और महत्त्वपूर्ण यह होता है कि कलाकार क्या कहना चाहता है उतना ही आवश्यक यह होता है कि वह उसे कैसे, किस भाषा में, किस शैली में, किस ढंग से कहना जानता है ! एक सफल कलाकार को कला की बाह्य अभिव्यक्ति को उतनी ही सूक्ष्मता से ग्रहण करना पड़ता है जितनी सूक्ष्मता से वह अपनी अनुभूति को ग्रहण करता है।

यह तो कहना व्यर्थ है कि भारतीय प्रगतिवादी लेखकों में से अधिकांश उच्चवर्गीय लेखक थे, जो जन-आन्दोलन से दूर थे और वे उन सूक्ष्मतम अनुभूतियों को ग्रहण करने में असमर्थ थे जो गोर्की या कुप्रिन ने जनता में घुल-मिलकर ग्रहण की थीं; साथ ही साथ उन्होंने साहित्य के कलात्मक रूप पर भी कुछ ध्यान देना ठीक नहीं समझा और शायद उनका ख्याल था कि कहानियों, कविताओं, या उपन्यासों में नारे छपवा देने से ही वे उच्च कलाकारों की कोटि में पहुँच जायँगे। लेकिन उनका यह सपना बेकार साबित हुआ।

साहित्य के लिए टेकनीक की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। मुझे अच्छी तरह याद है कि प्रगतिवादी कहे जानेवाले एक बहुत प्रसिद्ध कवि ने एक बार मुझसे 'शेखर' के द्वितीय भाग के विषय में कहा था–"अज्ञेय प्रगतिवादी तो नहीं हैं, लेकिन उनकी यह कृति जोरदार कलाकृति है !"

इससे स्पष्ट है कि साहित्य होने के लिए, साहित्य की कोटि में आने के लिए किसी भी रचना का केवल प्रगतिवादी होना काफी नहीं उसे साहित्यिक होना चाहिए, उसे साहित्य के अपने नियमों से निर्देशित होना चाहिए। उर्दू के प्रगतिशील कलाकारों ने इसे बहुत अच्छी तरह समझा है। गद्य हो या पद्य उन्होंने नयी जमीनें तोड़ी हैं, नयी दिशाएँ खोजी हैं, कला को सँवारा है और मैं तो यह कह सकता हूँ कि अहमद नदीम कासिमी, कृष्णचन्द्र और सरदार जाफरी की टेकनीक पर कोई भी भाषा गर्व कर सकती है। लेकिन हिन्दी के प्रगतिवादी लेखकों ने सिवा छायावाद के विरुद्ध लेख लिखने के, कला के तत्त्व को समझने का जरा भी प्रयास नहीं किया, टेकनीक को सम्भालने की समझदारी नहीं दिखाई और सिवा रांगेय राघव* के किसी भी हिन्दी प्रगतिवादी लेखक की टेकनीक में न मौलिकता है न नवीनता, न प्रभाव और न वह गुण जो उसे स्थायी साहित्य बना सके। हिन्दी के लेखकों की टेकनीक के प्रति यह उपेक्षा न केवल साधारण पाठकों को खली है वरन् स्वयं प्रगतिवादी क्षेत्र

---

* अभी हाल में ही डा. रामविलास शर्मा ने 'हंस' में अपने परशुराम के कुल्हाड़े से रांगेय राघव की भी खबर ले डाली है। वे भी यहाँ के प्रगतिवाद की कसौटी पर खोटे उतरे।

रचनावली

के ईमानदार आलोचक शिवदानसिंह चौहान ने इसके खिलाफ आवाज़ उठाई है। उन्होंने लिखा है–"हिन्दी में प्रगतिवादी साहित्य के नाम पर जो भी कूड़ा-कर्कट लिखा गया है उसे देखकर शर्म आती है !"

रूस में परिस्थिति कुछ दूसरी ही रही। जिस समय रूस में क्रान्ति हुई और नयी चेतना को विकास पाने का अवसर मिला उस समय रूसी साहित्य टेकनीक के प्रयोगों में व्यस्त था। प्रतीकवादी, इमेजवादी, एकमीस्ट ये सभी साहित्य की विभिन्न टेकनिकों में प्रयोग कर रहे थे। मायकावस्की जिसने अपने को प्रोलेटेरियट कवि घोषित किया, उसका भी विद्रोह मूलतः शैलीगत विद्रोह था। उसने कविता की भाषा, अभिव्यंजना शैली आदि में नये प्रयोग किये, नये सुझाव दिये।

उस समय कम्यूनिस्ट क्षेत्रों में दो मत थे। एक ओर तो उदार साहित्यिक और समझदार कम्यूनिस्ट थे जो साहित्य का साहित्यिक महत्त्व समझते थे। दूसरी ओर वे संकीर्णमना मार्क्सवादी थे जो टेकनीक का महत्त्व न स्वीकार कर केवल साहित्य की राजनीतिक गुलामी का नारा लगाते थे। इन विचारकों में से आवरबाख प्रमुख था। उसी के एक अनुयायी कोगन ने 1924 में कहा था–"मुझे इसमें कोई दिलचस्पी नहीं कि रूसी साहित्य की टेकनीक में क्या प्रयोग हो रहे हैं। भाषा, वाक्य, रसानुभूति आदि के बारे में यदि कोई प्रयोग करता है तो उससे हमें क्या मतलब ! कलाकार को कभी समझ-बूझकर तो साहित्य लिखना ही नहीं चाहिए। वह तो अपने युग की प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। उसे तो अचेतन प्राणी की तरह होना चाहिए !" कोगन तो इस विषय में इतना संकीर्णमना था कि उसके अनुसार कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो संसार का महानतम साहित्य था।

लेकिन उन्हीं दिनों वसन्त ऋतु की कम्यूनिस्ट पार्टी की बैठक ने लेखकों को यह सलाह दी थी कि वे "प्राचीन महान् लेखकों की कला का अध्ययन करें और उसे पचाकर नवीन युग के लिए नयी कला का निर्माण करें।"

इस समय तक रूस में ऐसे उदार और दूरदर्शी विचारक थे जिन्होंने दो बातें स्वीकार कर ली थीं–

पहली तो यह है कि राजनीतिक प्रचार से अलग साहित्य का अपना कलात्मक मूल्य है। ऐसे विचारकों में लेनिन प्रमुख था। उसने मायकावस्की की एक कविता की तारीफ करते हुए इन दोनों में स्पष्ट विभाजन-रेखा खींचते हुए कहा था–"मैं कविता की बात तो नहीं जानता लेकिन मायकावस्की की पंक्तियों में राजनीति का सच्चा विवेचन है।"

दूसरी बात उन्होंने यह मान ली थी कि नये साहित्य का कलात्मक स्वरूप भी पिछले युगों के साहित्य के कलात्मक स्वरूपों का अध्ययन करके ही निर्मित हो सकता है। एंजेल्स ने स्वयं प्राचीन साहित्य के कलात्मक मूल्य के सामने सर झुकाया था। 12 मई, 1859 को लास्साल को लिखे गये एक पत्र में एंजेल्स ने लिखा

था–भविष्य की कला में "शेक्सपीयर की स्वाभाविकता और टेकनीक के साथ नया आदर्श गूँथ देना होगा !"

लेकिन हम जानते हैं कि सन् 1929 के बाद आर. ए. पी. की स्थापना हुई और आवरबाख की राजनीतिक तानाशाही कायम हुई। उसमें साहित्य के कलात्मक रूप को गला घोंटकर मार डाला गया। किन्तु समाजवादी यथार्थवाद के आते ही फिर कला को थोड़ा स्वाधीनता मिली। और अब फिर सोवियत कलाकार शैली और टेकनीक में नये प्रयोग कर रहे हैं। उन्होंने साहित्य का कलात्मक रूप पहचाना है और उसे समुचित प्रोत्साहन दे रहे हैं। 20 अप्रैल सन् 36 का लिटरेरी गजट लिखता है–"हमारे साहित्य के विरुद्ध यह लिखा जाता है कि यह निरा प्रचार है। इसका निराकरण तभी हो सकता है जब हम पाश्चात्य जगत के सामने उस सौन्दर्यानुभूति और रस-सिद्धान्तों को रक्खें जो हमने इधर अपने साहित्य में ग्रहण किये हैं।··· साहित्य में हमारे नये प्रयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं और उन्हें दुनिया के सामने रखना चाहिए।"

कलात्मक शैलियों में नवीन प्रयोगों को स्थान देते हुए भी सोवियत आलोचक केवल टेकनीकवाद को निरुत्साहित करते हैं। टेकनीकवाद के अर्थ हैं वह साहित्य जहाँ कलाकार के पास अपनी कोई मौलिक देन नहीं होती और वह केवल शैलियों से खिलवाड़ करता है। कुछ उस प्रकार की पद्धति जो हमें रीतिकाल के उत्तरार्द्ध में दीख पड़ती थी। उस प्रवृत्ति को कोई भी स्वस्थमना लेखक नहीं अपनाता। किसी भी देश में उसे प्रोत्साहन नहीं मिलता।

वैसे तो सामाजिक यथार्थवाद ही वर्तमान रूसी साहित्य की टेकनीक स्वीकार कर लिया गया है, लेकिन उसी सीमा में साहित्यकार को नये मौलिक प्रयोगों की काफी स्वतन्त्रता दी गयी है और वह उस ओर ध्यान भी दे रहा है। उन्हें कितनी स्वतन्त्रता मिली हुई है यह तो ए. बेलेट्ज्की के एक लेख 'नये तवस्सुम की ओर' (24 नवम्बर, 1945 लिटरेरी गजट) से मालूम होता है।

वह लेखकों और आलोचकों को उत्साहित करते हुए लिखता है कि "बहुत से लेखक आज इस बात से डरते हैं कि उन्हें टेकनीकवादी कह दिया जायेगा। नये प्रयोगों के क्षेत्र में न उतरने से उनकी कला नपुंसक हो गयी है।"

16 नवम्बर, 1945 के 'सोवियत आर्ट' में योगेन्सन लिखता है–"अपनी टेकनीक में प्रयोग करनेवाले कलाकार को इस बात से न डरना चाहिए कि जनता उसे न समझेगी। जनता उसको नहीं समझेगी जो जिन्दगी से दूर होगा, और जो जिन्दगी से दूर होगा वह महान् साहित्य नहीं। जो महान् साहित्य है वह स्वयं जनता को इतना शिक्षित कर देता है कि जनता उसे समझ ले।··· इसके अलावा जनता बहुत से व्यक्तिवादी कलाकारों को नहीं समझ सकती लेकिन इसके मतलब यह नहीं कि उन कलाकारों के प्रयोगों ने युग की कला को प्रभावित नहीं किया है। क्या

साहित्यकार को उन महान् टेकनिककारों की उपेक्षा करनी चाहिए या उनसे सीखना चाहिए ? बहुत से कलाकार जनता के कलाकार नहीं, कलाकारों के कलाकार होते हैं। उन्हें भी उतना ही महत्त्व मिलेगा जितना अन्य कलाकारों को ! जहाँ दूसरे कलाकार जनता को नया रास्ता दिखाते हैं, वहाँ ये कलाकार कलाकारों को नया रास्ता दिखाते हैं।"

सोवियत रूस के साहित्यिक अपने साहित्य के कलात्मक रूप को सँवारने में कितने सजग और सचेष्ट हैं और उन्होंने कलाकार को कितनी स्वाधीनता दे रक्खी है यह ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है। वे लोग अब टेकनीक पर ध्यान दे रहे हैं, प्राचीन साहित्य के सभी रूपों को समझकर अपने साहित्य में उन्हें समुचित स्थान दे रहे हैं। यहाँ तक कि अब उनका आग्रह केवल यथार्थवाद पर नहीं रह गया है। बेलिंस्की ने तो पिछले सम्मेलन में यह सुझाव रक्खा था कि सामाजिक यथार्थवाद के साथ ही साथ सामाजिक संकेतवाद (या सामाजिक छायावाद) को भी प्रोत्साहन देना चाहिए। वे साहित्य के प्राचीन रूपों की ओर इतना अधिक झुक गये हैं कि बेलेट्र्ज्की वर्तमान रूसी साहित्य को Classical realist या 'शाश्वत यथार्थवादी' कहकर पुकारता है।

लेकिन जब हम भारतीय प्रगतिवादी लेखकों की ओर देखते हैं तो हमें निराशा होती है। सिवा शिवदान सिंह चौहान के किसी ने भी कलात्मकता का मूल्य नहीं पहचाना है और चौहानजी के विचारों को भी समुचित महत्त्व उस क्षेत्र में नहीं मिल रहा है। सबसे घातक बात तो यह है कि भारतीय प्रगतिवादी बिना समझे हुए छायावादी और रोमांटिक[1] शैली का विरोध कर रहे हैं और उस महान् काव्य-परम्परा की उपेक्षा कर देना चाहते हैं जो 12 वीं सदी से हिन्दी में ढलती आयी है। वे हिन्दी की काव्य-शैलियों की उपेक्षा तो कर ही रहे हैं साथ ही साथ साहित्य के उस कलात्मक मूल्य को भी नहीं स्वीकार करते जिसे सोवियत साहित्य ने स्वीकार कर लिया है। दृष्टिकोण की संकीर्णता और कलात्मकता की उपेक्षा के कारण भारतीय प्रगतिवादी साहित्य में आज न तो प्रगति है न साहित्यिकता !

---

1. कल्पना और यथार्थ दोनों ही मानव जीवन के अंग हैं। साहित्य में भी केवल यथार्थवादी शैली से मनुष्य कभी सन्तुष्ट नहीं रह सकता और घूम-फिरकर छायावादी शैली का आना आवश्यक है। रूस में भी फिर सोवियत संकेतवाद की आवाज उठ रही है। यथार्थवाद के बाद छायावाद उतना ही अवश्यम्भावी है जितना उमस के बाद बारिश, या अँधेरे के बाद उजियाला।

क्या व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं ?

मार्क्सवादी साहित्य की जो व्याख्या आवरबाख जैसे आलोचकों ने की थी, उसके अनुसार, हम देख चुके हैं, कि व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं था। केवल बाह्य परिस्थितियाँ ही सब कुछ थीं और बाह्य परिस्थितियों के अनुसार ही साहित्यिक लिखता था। लेखक का व्यक्तित्व केवल उन प्रवृत्तियों का पुंजीभूत चरित्र था जो प्रवृत्तियाँ वर्ग और उसके युग की आर्थिक परिस्थितियों से उद्भूत होती थीं। उस अवस्था में व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं था और वैयक्तिक मनोविज्ञान का भी कोई विशेष प्रश्न नहीं उठता था। आवरबाख के सहयोगी आलोचक पेरेवर्जव का कहना था—"साहित्य में कोई व्यक्ति नहीं होता। बायरन को समझने के लिए हमें इंगलैण्ड के उच्च वर्ग की परिस्थितियाँ समझनी चाहिए। वही 'बायरन' हैं। बायरन कोई व्यक्ति नहीं था।"

जब उस समय व्यक्ति का ही अस्तित्व नहीं माना जाता था तो व्यक्ति के अन्तर्जगत के महत्त्व का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। मार्क्सवादी साहित्यकार केवल समाज की परिस्थितियाँ समझना चाहते थे और उनका विचार था कि वे परिस्थितियाँ यान्त्रिक रूप से व्यक्ति का निर्माण करती हैं। अतः मनोविज्ञान का कोई अर्थ नहीं, मनोविज्ञान को एक बोर्जुआ ज्ञान करार दिया गया।

लेकिन बाद में इसका विरोध किया गया और इस विचारधारा को वल्गर सोशलिज्म कहकर पुकारा गया। व्यक्ति का महत्त्व सोवियत साहित्य में स्वीकार किया गया। इसका मुख्य कारण यह था कि सोवियत साहित्य एक विचित्र सा घरौंदा बन गया था जिसमें कोई जीवित व्यक्ति नहीं था, केवल गुड्डे-गुड़ियाँ अपने-अपने वर्ग और दल का लेबल लगाये लेखक के इशारे पर नाचती रहती थीं। वह जीता-जागता साँस लेता हुआ साहित्य नहीं लिखा जा सका, जिस पर किसी भी राष्ट्र को अभिमान हो सकता था। इसके खिलाफ सभी आलोचकों ने आवाज उठाई। इसका एक कारण था। साहित्य का आधार व्यक्ति ही है। जीवन और मौत, दुःख और सुख, अँधेरा और उजाला, अतीत और वर्तमान सभी की अभिव्यक्ति साहित्य

में, व्यक्ति के माध्यम से होती आयी है और होती रहेगी। एक उपन्यासकार अपने उपन्यास में जब एक व्यक्ति का चरित्र उठाता है तो उस चरित्र के माध्यम से वह एक जीवन-दर्शन देता है, एक विशेष व्यक्तित्व रखता है और परिस्थितियों से उसका संघर्ष या सन्तुलन दिखलाकर हरेक पाठक के सामने जीवन की नयी दिशा रखता है। मानव की प्रगति में, विशेषतया साहित्य के माध्यम से आनेवाली प्रगति में, बाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा, अन्तर्जगत का महत्त्व अधिक होता है। प्रत्येक पात्र के अन्तर्जगत में दिखाई जानेवाली उथल-पुथल उस युग के ढाँचे में होनेवाली उथल-पुथल पर एक commentry, एक व्याख्या होती है। अन्तर्जगत के माध्यम से प्रस्तुत की जानेवाली यह व्याख्या, यह जीवन-दर्शन ही किसी भी कलाकृति को महान् बनाता है। जिस साहित्य में अन्तर्जगत (मनोविज्ञान) के माध्यम से आनेवाला यह जीवन-दर्शन नहीं होता वह साहित्य कभी भी प्रथम श्रेणी का साहित्य नहीं कहा जा सकता। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक राल्फ फाक्स ने 'नावेल एण्ड द पीपुल' में लिखा है–

"यह सच है कि उपन्यास लिखना एक दार्शनिक साधना है। दुनिया के महान् उपन्यास इसलिए महान् हैं कि उनके पीछे विचार-तत्त्व की प्रधानता है, क्योंकि वे जीवन की उच्च कल्पना-प्रवण और भावोन्मेषित व्याख्याएँ हैं। यही वह मुख्य गुण है जो प्रथम श्रेणी और द्वितीय श्रेणी की कला में विभाजन-रेखा खींचता है।"

लेकिन शुरू-शुरू में संकीर्ण मार्क्सवादियों ने पेरेवर्जव जैसे आलोचक, आवरबाख जैसे विचारक और पोक्रोवस्की जैसे ऐतिहासिकों ने साहित्य की यह व्यक्ति वैचित्र्यता, यह अन्तर्जगत के माध्यम से दिया जानेवाला जीवन-दर्शन छीन लिया। सोवियत उपन्यास साधारण श्रेणी के पात्रों के जीवन की नीरस कहानियों में उलझ गया। उसके पास कोई स्थायी सन्देश नहीं रह गया। इसी स्थिति पर आलोचना करते हुए युद्ध-काल में पर्टजव ने कहा–"मैं उन बेतह के पात्रों का विरोध करता हूँ जिनमें न कोई युग का सन्देश है, न किसी जीवन-दर्शन का प्रतीक बन पाने की सामर्थ्य। मैं चाहता हूँ कि सोवियत लेखक मनुष्य को केवल लाल सेना का सिपाही, कारखाने का मजदूर या पार्टी का कार्यकर्ता ही न समझे वह मनुष्य को एक व्यक्ति के रूप में देखे।"

कथा-साहित्य के पात्रों की व्यक्तित्व-हीनता का विरोध करते हुए राल्फ फाक्स ने भी लिखा था–"ये हजारों यथार्थवादी कही जानेवाली कृतियाँ, जिनके लेखकों में न कला होती है, न आन्तरिक प्रेरणा होती है, न ऊँची रचनात्मक प्रतिभा होती है, ये कृतियाँ अपने प्रकाशन के महीने भर बाद ही बासी हो जाती हैं। आज का उपन्यासकार अपने पात्रों का व्यक्तित्व बनाने के बजाय, एक महान् व्यक्तित्ववाला नायक बनाने के बजाय साधारण लोगों को साधारण परिस्थितियों में दिखलाने का प्रयास करता है। एक तूफानी अन्तर्जगतवाले नायक की उपेक्षा करना साहित्य में

रचनावली

युगों से चली आनेवाली मानववादी परम्परा का अपमान करना है।"

राल्फ फाक्स ने यह भी कहा था कि उपन्यासों में पात्रों के मनोजगत की उपेक्षा कर कोई भी लेखक किसी भी प्रभावशाली स्थायी साहित्य का निर्माण नहीं कर सकता है।

किसी भी सिद्धान्त को पात्रों के अन्तःसंघर्ष और मनोवैज्ञानिक उथल-पुथल के द्वारा न रखकर संकीर्ण मार्क्सवादी साहित्यिक नारेबाजी का आश्रय लेते हैं। अक्सर ऐसा देखा जाता है कि हड़ताल के समय किसी बच्चे को गोली लगी और उसका पिता उसकी लाश पर खड़े होकर जारशाही और पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ अच्छा खासा लेक्चर दे रहा है। बातचीत में लम्बे-चौड़े राजनीतिक या मार्क्सवादी व्याख्यान, यह एक ऐसा भोंड़ा तरीका था जिसने साहित्य का सारा सौन्दर्य छीन लिया था। स्वयं मार्क्स इस पद्धति के बहुत खिलाफ था। कुमारी हार्किन्सन के नाम मार्क्स ने अपने एक पत्र में लिखा था–"लेखक के सिद्धान्त तो जहाँ तक छिपे रहें, वहीं तक अच्छा है। मैं जिस यथार्थवाद की बात कर रहा हूँ उसमें लेखक की लम्बी-चौड़ी व्याख्याओं के लिए स्थान नहीं है।"

नारेबाजी के अलावा दूसरा साधन, जिसके द्वारा मनोवैज्ञानिक चित्रण के अभाव में, लेखक पाठक को प्रभावित करने का प्रयास करता था, वह था भीड़-भाड़ और विशाल जनता का चित्रण। सोवियत उपन्यासों में लाखों की तादाद में बढ़ती हुई जनता दिखलाई जाती थी, लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि साहित्य के वातायन पर लाखों की जनता का शोरोगुल धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है, लेकिन तनहाइयों की नीरवता में किसी प्रभावशाली व्यक्तित्व की छाया हमारी आत्मा को हमेशा के लिए अभिभूत कर लेती है। लेकिन प्रारम्भ में तो एक महान् जनसमूह ही सोवियत उपन्यास का मुख्य पात्र रहा। पेरेफिमोविच के 'लोहे की बौछार' में हमें इस जनसमूह का बड़ा जोरदार चित्रण मिलता है–"ये हजारों आदमी हैं, लाखों करोड़ों आदमी··· इनमें कोई इकाई नहीं, कोई विभाजन नहीं, कोई श्रेणी नहीं–सिर्फ एक विशाल असीम एकता है। यह महान् जनता असंख्यों कदमों से आगे बढ़ रही है, अनगिनत निगाहों से देख रही है और इन लाखों करोड़ों आदमियों के दिल में एक ही धड़कन गूँज रही है!"

नये युग के विहान में बढ़ती हुई जनता का अस्पष्ट शोर और धूमिल चित्र चाहे समाज के ध्वंस के लिए उपयुक्त हो लेकिन निर्माण की समस्याओं और समाधानों को हमें फिर व्यक्ति के ही माध्यम से पेश करना होगा। किसी भी महल को गिराते समय चाहे सैकड़ों मजदूरों की कुदाल एक साथ उठे, लेकिन जब नींव पड़ चुकती है, दीवार उठने लगती है तब हर राजगीर आहिस्ते से एक-एक ईंट चुनता है। उस समय हर ईंट के व्यक्तित्व का महत्त्व होता है और निर्माता को हर व्यक्तित्व को समाज के निर्माण में उचित स्थान देना होता है। अन्तर्जगत और वैयक्तिक

मनोविज्ञान का महत्त्व सोवियत विचारकों ने माना, क्योंकि उन्हें निर्माण करना था।

1943 में प्रिश्विन ने 'जंगल की बूँदें' नामक पुस्तक में 'व्यक्तित्व' के विषय में लिखा–"यह एक फूल है और वहाँ वह दूसरा फूल खिला है। दोनों की जड़ें एक हैं, धरती भी एक है लेकिन बाहरी रूप बिलकुल विभिन्न ! यही मनुष्य के व्यक्तित्व का रहस्य है। दोनों फूल मिट्टी का परिवर्तित रूप हैं। लेकिन दोनों मिट्टी को अलग ढंग से व्यक्त करते हैं। इसी तरह व्यक्तित्व, मूलतः चाहे समाज के ढाँचे में हो, एक हो, लेकिन फिर भी अपना अलग अस्तित्व रखते हैं, अपना अलग रूप रखते हैं। एक 'व्यक्तित्व' होता है, जो वैयक्तिक होता है, जो समाज के अन्य सभी व्यक्तित्वों से अलग होता है, वह है मनोविज्ञान का आधार, दूसरा व्यक्तित्व सामूहिक व्यक्तित्व होता है, वह है संस्कृति का आधार।"

अभी तक मार्क्सवाद ने उस सामूहिक व्यक्तित्व का ही महत्त्व माना था जिसके आधार पर संस्कृति बनी होती है। सेरेफिमोविच द्वारा चित्रित जनता उसी सामूहिक व्यक्तित्व का प्रतीक थी। लेकिन धीरे-धीरे मार्क्सवादी विचारकों ने व्यक्ति का भी महत्त्व पहचाना। राल्फ फाक्स ने लिखा–

"वास्तव में मार्क्सवाद व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करता। यह सच है कि कुछ 'प्रोलेटेरियन' उपन्यासकारों ने इस तरह की गलत धारणा लोगों के मन में पैदा कर दी है, लेकिन यह मार्क्सवाद की नहीं, उपन्यासकारों की कमजोरी रही है !"

इस प्रकार मार्क्सवादी साहित्य में व्यक्ति का महत्त्व स्थापित हो जाने के बाद प्रश्न आया उसके अन्तर्जगत का और उसके मनोविज्ञान का समुचित रूप से चित्रण करने का। इस विषय में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सोवियत विचारकों ने यह स्वीकार कर लिया था कि मनुष्य केवल आर्थिक परिस्थितियों की छाया नहीं है, वह निर्माता है और परिस्थितियों का स्वामी है, वह परिस्थितियों को बदलता है, और युगों का निर्माण करता है। राल्फ फाक्स ने ही लिखा था–"मार्क्स के जीवन-दर्शन का केन्द्रबिन्दु आर्थिक परिस्थितियाँ नहीं वरन् मानव है। यह सच है कि आर्थिक परिस्थितियाँ आदमी को बदल देती हैं, लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आर्थिक परिस्थितियाँ खुद नहीं बदलतीं, आदमी ही उन्हें बदलता है और उन्हें बदलने के प्रयास में स्वयं आदमी भी बदल जाता है।"

इसको खूब अच्छी तरह समझकर ही पर्टजव ने जनाम्या, संख्या 9,1945 में लिखा था–"अगर मनुष्य इस संघर्ष का केन्द्रबिन्दु रहा है और रहेगा, तो वह इस संघर्ष में एक व्यक्तित्व के रूप में विद्यमान रहता है, एक ढले-ढलाये साँचे के रूप में नहीं।...एक कलाकार के लिए युग और सामाजिक व्यवस्था की अभिव्यक्ति एक पात्र के व्यक्तित्व के ही माध्यम से हो सकती है। चरित्र, व्यक्तित्व के डोरे तोड़ देने के बाद न तो युग की समस्याओं का प्रतीक बन पाता है, न युग के दर्शन का समाधान ही दे पाता है।"

रचनावली

इस प्रकार सोवियत विचारकों ने धीरे-धीरे साहित्य में व्यक्तित्व या व्यक्ति के अन्तर्जगत को पूरा महत्त्व दिया, लेकिन उन्होंने पाश्चात्य देशों में प्रचलित फ्रायड, आडलर या जुंग आदि मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों को नहीं अपनाया। इसका एक कारण था। विशेषतया फ्रायड का साहित्य समाजवादी निर्माण में खप नहीं सकता था। इसके अलावा इस पाश्चात्य मनोविज्ञान के आधार पर जो भी साहित्य आया था, उसे स्वयं पाश्चात्य आलोचकों ने ही बहुत 'शिवम्' नहीं माना था। लारेन्स के सेक्स-सम्बन्धी उपन्यास, जेम्सजायस के उपन्यास, ये सभी नवयुग के निर्माण से बहुत दूर, विचित्र से उलझे हुए मनोजगत का चित्रण करते थे, जिनमें एक बार आदमी उलझकर फिर बाहर नहीं निकल पाता था। दूसरी बात यह थी कि यह मनोविज्ञान आदमी के वैयक्तिक पहलू पर इतना जोर देता था कि मानवता का सामाजिक पहलू सर्वथा उपेक्षित रह जाता था। और इस मनोविज्ञान में जो प्रतिभाएँ भी उलझीं, उनके पंख इस तरह फँस गये कि वे कभी भी अपने व्यक्ति के सीमित क्षितिज के पार नहीं देख पायीं और उनका साहित्य हमें केवल एक फ्रस्टेशन ही दे पाया, कोई स्वस्थ जीवन-दर्शन नहीं !

सोवियत रूस का वर्तमान सामाजिक यथार्थवाद का मनोविज्ञान मानव के वैयक्तिक अन्तर्जगत और सामाजिक बाह्य जगत का समन्वय है। उसमें नवीन पाश्चात्य मनोविज्ञान की सीमाहीन उलझन और निर्लक्ष्य उद्भ्रान्तता भी नहीं है और न संकीर्ण मार्क्सवाद की आर्थिक यान्त्रिकता। सोवियत साहित्य का नवीन मनोविज्ञान मानव के व्यक्तित्व पर पड़े हुए अगणित संस्कारों का रूप पहचानता है और आर्थिक संस्कारों के अलावा अन्य संस्कारों को भी साहित्य में समुचित स्थान देता है। स्वयं राल्फ फाक्स ने लिखा है–"अगर कोई आदमी मार्क्सवाद की यह व्याख्या करता है कि व्यक्ति के निर्माण में, समाज के निर्माण में, इतिहास के निर्माण में, केवल आर्थिक तत्त्व ही पूर्ण निर्णायक होता है, तो यह मार्क्सवाद की गलत व्याख्या है।" बाद में वह मानव के अन्तर्जगत में पड़े हुए संस्कारों का वर्णन करते हुए कहता है–"ऊपरी ढाँचे के अनगिनत तत्त्व–वर्ग-संघर्ष का राजनीतिक रूप हर वर्ग की विजय के बाद उसके द्वारा गढ़े गये हुए शासन-विधान, न्याय, दर्शन, धर्म इन सभी का प्रभाव पड़ता है और कभी-कभी इनका प्रभाव आर्थिक प्रभावों से बढ़ जाता है।"

लेकिन एक गम्भीर प्रश्न उठता है। मार्क्सवाद यह तो स्वीकार करता है कि मानव ही परिस्थितियों का निर्माता है, 'वह समाज को बदलता है और बदलने के दौरान में खुद भी बदल जाता है', लेकिन प्रश्न यह है कि क्या अपने अन्तर्जगत को बदले बिना वह बाह्यजगत को बदल सकता है ? या केवल बाह्यजगत को बदलना ही मानव के पूर्णतम विकास के लिए काफी होता है ?

और यही स्थल है जहाँ मार्क्सवाद बहुत से प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाता ! मार्क्सवाद जिस नयी समाज-व्यवस्था का हामी है उसका मूलमन्त्र है सम्पत्ति पर

व्यक्तिगत अधिकार का विनाश। लेकिन एक बहुत ज्वलन्त सत्य है कि वैयक्तिक सत्ता का विनाश होने के बाद भी एक अधिकार भावना रह ही जाती है और वह अधिकार भावना नयी सामाजिक व्यवस्था में भी रह-रहकर व्यवधान पैदा करती रहती है। केवल सम परिस्थितियाँ ही पैदा कर देना काफी नहीं होता है। स्वर्ग बना लेने के बाद भी सबसे बड़ी बात होती है उस स्वर्ग में स्वर्गत्व की प्रतिष्ठा करना। उदार सामाजिक व्यवस्था बनाने के साथ ही साथ इस बात की चेष्टा करना कि मानव-चेतना में भी उदारता और महानता आये। सिर्फ मन्दिर बना लेना, देवमूर्ति की प्रतिष्ठा कर देना काफी नहीं होता, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है मन में पूजाभाव जाग्रत करना। केवल मन्दिर के प्रांगण में खड़े होने से कोई पुजारी नहीं हो जाता। मार्क्सवाद मानव की चिरन्तन साधना के इस पहलू का महत्त्व नहीं पहचान पाता और यह उसकी एकांगिता है।

यह तो मार्क्सवाद ने स्वीकार कर लिया है कि मानव युगों का निर्माता है, लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि निर्माण निर्माता के ही अनुरूप होता है। निर्माण में निर्माता की आत्मा का स्वप्न प्रतिफलित होता है और जो कोई एक भव्य और महान् वस्तु का निर्माण करता है, वह वस्तु बाह्य रूप धारण करने के पहले ही उसकी आत्मा में एक भव्य स्वप्न के रूप में जाग्रत हो उठती है। इसलिए निर्माता का अन्तर्जगत बहुत विशाल बनाना होगा, इसके पहले कि नवयुग का विशाल स्वप्न इसकी अन्तर्चेतना में अपने पंख फैला सके। इसलिए मानव न केवल सामाजिक व्यवस्था को बदलता है, न केवल सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करता है, वरन् वह अपने व्यक्तित्व को भी विशाल और उदार बनाता है और किसी भी बाह्य निर्माण के पहले अपना आन्तरिक निर्माण करता है ! बाह्य निर्माण के लिए यह आन्तरिक निर्माण आवश्यक है, यह प्रथम आवश्यकता है, यह आधार भूमि है जिस पर युगों के बाह्य रूप का निर्माण होता है !

मैं यह नहीं कहता कि मनुष्य की आत्मा में जागनेवाला यह स्वप्न, परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता, अवश्य होता है किन्तु फिर भी मानव के अन्तर्जगत में कोई ऐसी शक्ति है जो बार-बार उसे परिस्थितियों पर विजय दिलाती रहती है, कोई ऐसा कृष्ण है जो अर्जुन के रथ को महाभारत में संचालित करता रहता है। अपने मन की उस शक्ति को पहचानकर ही आदमी हर युग में नया निर्माण कर सका है। उसके बिना मार्क्सवाद का बाह्य निर्माण अधूरा है।

और यहीं पर हमें समस्या का भारतीय समाधान मिलता है। वह शक्ति जो निरन्तर हमारे मनोविज्ञान को सन्तुलित कर उच्चतर बाह्य निर्माण के लिए प्रेरित करती रहती है, वह है अध्यात्म। हर युग, हर देश का महानतम साहित्य अध्यात्मवादी रहा है।

यह अध्यात्म, वह अध्यात्म नहीं है जो जीवन की परिस्थितियों से भाग कर

रचनावली

जंगल में तप करने का उपदेश देता है, यह अध्यात्मवाद वह मानसिक पलायनवाद नहीं है जो बाह्य परिस्थितियों से घबड़ाकर अपने मन की रेत में शुतुरमुर्ग की तरह गर्दन छिपा लेता है; यह वह अध्यात्म है जो मानव को बल देता है, उसे नवीन निर्माण की ओर प्रेरित करता है, उसे परिस्थितियों से लड़कर नये जीवन-दर्शन की स्थापना करने का साहस और शक्ति देता है और मानव को देवता बनाता है ताकि वह अपने स्वर्ग का निर्माण कर सके और उसमें देवताओं की सी पवित्रता से रह भी सके। हम समाज की व्यवस्था ठीक कर लें, आर्थिक व्यवस्था ठीक कर लें लेकिन मानव की आत्मा में सुधार न करें तो आगे आनेवाली दुनिया का स्वरूप उस नन्दनवन का स्वरूप होगा जिसमें लाखों बन्दर रहते हों जो उसके फूल नोचकर फेंक दें, शाखें तोड़ डालें, क्यारियाँ बिगाड़ दें और अन्त में उसे खण्डहर से भी ज्यादा भयावना बना दें। इसलिए जहाँ समाज को अधिक स्वस्थ और व्यवस्थित बनाने की समस्या है वहाँ आज के साहित्यकार के सामने इसकी भी समस्या है कि वह व्यक्ति को जीवन के उच्चतम सौन्दर्य का मूल्य बतावे, उसकी संस्कृति में ऊँची नैतिकता, स्वर्गिक प्रेम और पवित्र अध्यात्म की प्रतिष्ठा करे।

केवल बाह्य परिस्थितियाँ बदलने से यह नहीं होगा, यह अलैक्जेण्डर कुप्रिन के जीवन की एक घटना से स्पष्ट है। अलैक्जेण्डर कुप्रिन गोर्की का सम-सामयिक था और उसने वेश्याओं के दयनीय जीवन पर बहुत ही प्रभावशाली उपन्यास 'यामा द पिट' लिखा था, जिसका अनुवाद हिन्दी में 'गाड़ीवानों का कटरा' नाम से हुआ है। उसने अपने जीवन की एक घटना लिखी है। कुछ नवयुवक उससे यौन समस्याओं पर बातें कर रहे थे। उन युवकों ने अलैक्जेण्डर कुप्रिन से कहा–"चाहे कोई भी परिस्थिति हो लेकिन पुरुष के मन में हमेशा नयी-नयी स्त्रियों की प्यास उठती ही रहती है। कोई भी व्यवस्था हमारे मन की इस प्यास को नहीं मिटा पाती !"

"तब एक ही तरीका है", कुप्रिन बोला, "बीमारी का इलाज बाहर से नहीं होता, घर बदल देने से बीमार अच्छा नहीं होता। बीमारी का इलाज अन्दर से होता है। यौन प्रवृत्ति को कसना सीखो। सफेद सादे कपड़े पहनो, तख्त पर सोओ, उत्तेजक भोजन मत करो, मन की प्रवृत्तियों को कसो !..."

"मन की प्रवृत्तियों को कसो !" पूर्णता का यह आधार-बिन्दु है। जब आदमी बाह्य परिस्थितियों को बदलते-बदलते थक जाता है और फिर भी दुनिया उतनी ही कुरूप बनी रहती है, तब अध्यात्म एक शान्त मुस्कराहट बिखेरकर कहता है–"बाहर की दुनिया को बदलो–मगर–पहले अपने मन को कसो !" अपने मन को कसो, लेकिन दुनिया से भागने के लिए नहीं, दुनिया से लड़ने के लिए, दुनिया को बदलने के लिए, अपने मन में पूर्णता का स्वप्न जागृत करने के लिए। अन्तर्जगत के सन्तुलन को आध्यात्मिक दृष्टिकोण से समझना आवश्यक है। और अगर हम सचमुच दुनिया की समस्याओं का पूर्णतम, स्वस्थ और स्थायी समाधान ढूँढ़ना चाहते हैं तो वर्गहीन

समाज-व्यवस्था के साथ-साथ हमें द्वैतहीन अध्यात्म की भी प्रतिष्ठा करनी ही होगी। लेकिन इतना ध्यान रहे, हमारा अध्यात्म कर्मोन्मुख हो और आत्मा को विश्वात्मा में विलीन करने का हम आधुनिक अर्थ ढूँढ़ें और उसके आधार पर नवयुग का निर्माण करें।* नये युग के मन्दिर में मार्क्स के बगल में राम-कृष्ण या ईसा की मूर्ति भी स्थापित करनी होगी, तभी मानव समाज के बाह्य और अन्तर दोनों पक्षों का पूर्णतः विकास हो सकेगा और एक स्थायी प्रगतिशील जीवन-दर्शन हमारे सामने आ सकेगा और हम आगे आनेवाली दुनिया का वह ढाँचा तैयार कर सकेंगे, जिसमें न शोषण होगा, न खूँरेजी, न नफ़रत और न गरीबी !

---

* यह तो स्पष्ट हो चुका है कि आज आदमी का अन्तर्जगत, आदमी की आत्मा इतनी विकृत हो चुकी है कि वह अपने को किसी भी ढाँचे में फिट नहीं कर पाता, किसी भी वातावरण में खून की प्यास नहीं भुला पाता। वह पागल होकर सभ्यता को चूर-चूर कर डालने के लिए तैयार है और उसकी यह विकृति इस सीमा पर उतर आयी है कि बिना उसकी आत्मा बदले आज नयी मानवता का निर्माण नहीं हो सकता। जैसा इंगलैण्ड के प्रसिद्ध मार्क्सवादी कवि स्पेंडर ने लिखा भी है कि "आज आदमी का अन्तर्जगत इतना शक्तिशाली हो गया है कि वह किसी भी बाह्य व्यवस्था को इशारे से बदल सकता है। वह चाहे तो अंगुलियों से दुनिया के अन्तिम दिन खींच लाये।" वह अपने पागलपन में सचमुच वही कर रहा है, और हमें इसे रोकने के लिए केवल बाह्य नहीं आन्तरिक सुधार करना ही होगा।

रचनावली

धर्म, ईश्वर, वैयक्तिक अध्यात्म-साधना और सोवियत साहित्य

जिस कर्मवादी क्रान्तिकारी अध्यात्म की ओर हमने पिछले अध्याय में संकेत किया था, सोवियत विचारक उस महान् लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। उन्होंने आज एक नया विश्वास पाया है, नया लक्ष्य ढूँढ़ा है, नयी रोशनी ढूँढ़ी है और वे उसके पवित्र सुनहले उजाले में मजबूती से कदम-ब-कदम चल रहे हैं। उनके कदमों में वह लड़खड़ाहट, वह डर, वह शंका, वह थकावट, वह बेचैनी, और वह लक्ष्यहीनता नहीं है जो अमेरिका या ब्रिटेन की सभ्यता में आ गयी है। मैं तो यह कहूँगा कि उन्होंने एक नया धर्म ढूँढ़ा है।

धर्म की बात जरा ध्यान देने की बात है। सोवियत सभ्यता के विरुद्ध लगाये गये आरोपों में शायद सबसे बड़ा, सबसे गम्भीर और कम से कम भारतीय जनता की पुरानी पीढ़ी को रूस के बारे में गुमराह करनेवाला सबसे बड़ा आरोप यह था कि रूस ने धर्म को बिल्कुल बहिष्कृत कर दिया है। धर्म की बहिष्कृति से निश्चित रूप से यह ध्वनि निकलती है कि धर्म के साथ की सभी ऊँची चीजें—मानव-जीवन की उच्चता में विश्वास, आन्तरिक सौन्दर्य, नैतिक मर्यादा, पवित्रता इन सभी चीजों का बहिष्कार कर दिया गया होगा।

लेकिन यह बात गलत है। धर्म और मजहब में एक अन्तर होता है। धर्म उस जीवन-दर्शन को कहते हैं जो मानव के अन्तर्जगत और युग की बाह्य परिस्थितियों के संघर्ष में मानव के अन्तर्जगत को बल और प्रेरणा देता हे। लड़ने के लिए, दुनिया को बदलने के लिए, नये युग की स्थापना करने के लिए धर्म ने हमेशा धार्मिक प्रतीकों से आदमी को बल दिया है। अपने वास्तविक स्वरूप में धर्म हमेशा प्रगतिशील रहा है।

लेकिन धर्म का एक दूसरा पहलू होता है, मजहब ! जीवन के उच्चतम सौन्दर्य, उदारता, प्रेम, और अध्यात्म के बजाय मजहब उन छोटी-छोटी रूढ़ियों और परम्पराओं के सहारे, अन्धविश्वासियों को गुमराह करने और लूटने की फिराक में रहता है। मजहब, जो धीरे-धीरे असली स्वरूप को पूर्णतया विकृत कर देता है, प्रगति विरोधी

होता है, प्रतिक्रियावादी होता है, आदमी की सभ्यता के लिए जहर होता है।

हर पुराने सड़े हुए मजहब का विरोध, हर नये प्रगतिशील धर्म ने किया है। उपनिषद्कारों ने ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड के विरुद्ध विद्रोह किया, बौद्धों ने हिंसात्मक धर्म के विरुद्ध विद्रोह किया, रामानन्द ने जाति-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह किया, दयानन्द ने कट्टर हिन्दू धर्म का विरोध किया, गांधी ने कट्टर मजहबीपन का विरोध किया और ये सभी धार्मिक व्यक्ति थे, अध्यात्मवादी थे।

स्वयं प्रभु ईसा के जीवन में वह क्षण आया था जब उन्हें मजहबी यहूदियों से मोर्चा लेना पड़ा था। जेरूसलम के जिन मन्दिरों में धर्म के नाम लूट और व्यभिचार चल रहा था, ईसा ने खुले आम उन मन्दिरों के खिलाफ जिहाद बोला था, अपने शिष्यों के साथ उन पर हमला किया था। जेरूसलम के मन्दिरों के बारे में प्रभु जीसस का सर्वोकृष्ट जीवनी लेखक गियावैनी पैपिनी लिखता है–"यह मन्दिर, यह मठ, वह जगह थी, जहाँ लोग क्रीड़ा करते थे, औरतों से मिलते थे, औरतों को बेचने का रोजगार करते थे। एक ईश्वर-विरोधी राजा ने, विप्लवी प्रजा को भुलवा देने के लिए, उनके एक उच्च पुरोहित वर्ग के घमण्ड और तृष्णा को बढ़ावा देने के लिए यह मठ कायम कर रक्खा था। इस मठ में दुकानदारी भी होती थी, द्वन्द्व-युद्ध भी होते थे। ईसा की आँखों में यह वह भयंकर माँद थी जहाँ सत्य के सभी विरोधी गिलगिले पशु रहते थे। जीसस इस मन्दिर को नष्ट करने के इरादे से गया··· जीसस ध्वंस करेगा। जीसस उन विचारों का ध्वंस तो कर ही चुका है जिन पर इन मन्दिरों की पथरीली दीवारें, सोने के दरवाजे और ऊँचे-ऊँचे शिखर खड़े है !···ईसा के लिए यह दृश्य नया नहीं था। वह जानता था कि ईश्वर का मन्दिर शैतान की माँद बन गया और आदमी अपने आध्यात्मिक विकास के बजाय मन्दिरों के आँगन में वासना की प्यास बुझाते हैं, और पुरोहित दलाली करते हैं। जीसस का मन नफरत और अरुचि से भर उठता है। मन्दिर को नष्ट करने के पहले बाजार को नष्ट करना होगा, दरिद्रनारायण प्रभु जीसस ने अपने गरीब अनुयायियों के साथ धनकुबेरों पर बिना हिचक और डर के, हमला करना शुरू किया। उसने एक रस्सी ली, उसे उमेठकर कोड़ा बनाया और उसे घुमाते हुए भीड़ में अपने लिए रास्ता बनाने लगा।··· भागते हुए धनकुबेरों से जीसस ने गरजकर कहा–'मेरा मन्दिर प्रार्थना का मन्दिर था, तुमने उसे चोरों का अड्डा बना दिया है।' व्यापार, आज के व्यापार को ईसा चोरी समझता था !"

जो लोग, जो ईसाई, कट्टर हिन्दू या जो भी पुराने मजहबी लोग धर्म-विरोध के लिए रूस को गालियाँ देते हैं, उनसे मेरा सिर्फ यही कहना है कि रूस के धार्मिक मठों की हालत जेरूसलम के मन्दिर से भी गयी गुजरी थी और जब उस हालत में ईसा मजबूर हो गया था मन्दिरों का विरोध करने के लिए तो अगर लेनिन या स्टालिन ने मजहब का विरोध किया, तो मैं तो उनको ईसा के कदमों पर चलनेवाला

रचनावली

ही मानूँगा।

रूस के ईसाई भगवान के भक्त नहीं थे, वे उस शैतान के भक्त थे, वह खूँखार, लोभी पाशविक शैतान जो रूस के सिंहासन पर बैठता था जिसका राज्य बन्दूकों और संगीनों के बल पर कायम था, जिसकी एड़ी के नीचे मानवता सिसक रही थी। ईसाई पुरोहित किसी भी कीमत पर जार की हुकूमत कायम रखने के लिए उत्सुक थे। क्रान्ति के अवसर पर ज्वालामुखी के फटते हुए मुँह को पादरियों ने अपनी हथेली से दबाये रखने का प्रयास किया था। फरवरी 1917 में होली सिनॉड ने एक वक्तव्य रूस के ईसाइयों के नाम निकाला था–"जार के सिंहासन के चारों ओर एक अभेद्य दीवार बनकर खड़े रहो। शासक ईश्वर का प्रतिनिधि है, उसकी सत्ता बचाने के लिए सब कुछ करो। कैथोलिक रूस एक महान् झण्डे के नीचे एकत्रित होगा और उस झण्डे पर आग के अक्षरों में लिखा होगा–धर्म–जार और रूस के लिए।"

13 वर्ष पहले रूस के धार्मिक पुरोहितों ने जनता की क्रान्ति रोकने में सफलता पाई थी। 1904 में किसानों में इतनी अशान्ति थी कि विद्रोह होने की पूरी सम्भावना थी। लेकिन एक पुरोहित ग्रेगोरी गेपन ने किसानों को सलाह दी कि वे विद्रोह न करें, शान्ति से हाथ में क्रास लेकर जार के सामने अपना दुःख दर्द पेश करें। हजारों किसान धार्मिक भजन गाते हुए, हाथ में क्रास लेकर जार के महल के सामने पहुँचे। जार की सेना ने उनका स्वागत गोलियाँ बरसाकर और घोड़े दौड़ाकर किया। उनके क्रास जमीन में गिरकर खून में सन गये और गोलियों ने उनकी आवाज बन्द कर दी, जिनसे वे धार्मिक गीत गा रहे थे। लेकिन पादरियों ने उन बन्द हुए धार्मिक गीत और खून में सने हुए क्रासों का साथ देने के बजाय जार का साथ दिया। होली सिनॉड ने एक वक्तव्य दिया जिसमें उसने किसानों की निन्दा की।

क्रान्ति के बाद उन्होंने हर तरह से जनता की सरकार को उलटने की कोशिश की। उन्होंने श्वेत रूसी सैनिकों का साथ दिया। ग्रामीण जनता को उभाड़ने की कोशिश की, विदेशी जासूसों का काम किया। उनका सबसे घृणित पहलू 1921 के अकाल में देखने को मिला। फसलें बर्बाद हो चुकी थीं, लाखों लोग भूखों मर रहे थे। रूस का भयंकर जाड़ा आ गया था। सोवियत सरकार ने गिरजाघरों से अपनी सम्पत्ति राष्ट्रीय हित के लिए खर्च करने को कहा, लेकिन पादरियों ने सिवा टूटे-फूटे बर्तनों के और कुछ भी देने से इन्कार कर दिया। पैट्रियार्क टिरवान ने एक वक्तव्य जारी किया जिसमें उसने पादरियों को आदेश दिया कि वे सोवियत सरकार के इस अत्याचार का विरोध करें। अपने सोने-चाँदी पर मरनेवाले ये पादरी उस महान् प्रभु जीसस के अनुयायी थे जिसने रोम के एक सोने के सिक्के को देखकर कहा था, "यह सिक्का स्वर्ग में नहीं चलेगा। मैं तो आत्मा के उस खरे सिक्के पर विश्वास करता हूँ जिस पर देवदूतों की छाप होती है !"

आज उसी के अनुयायियों ने फिर जेरूसलम के वे मन्दिर और मठ कायम कर लिए थे जिनके खिलाफ आवाज उठनी जरूरी थी। रूसी जनता उस ईसा का इन्तजार कर रही थी जो इन 'चोरों के अड्डों' को बर्बाद करके, नये महान् आदर्श की प्रतिष्ठा कर सके। और 'सम्भवामि युगे युगे' के अनुसार ईसा इस बार लाखों करोड़ों की सशक्त ज़नता के रूप में उठा और वह ज़नता इस आडम्बरयुक्त धर्म का विरोध करने पर तुल गयी। इस जनता के पीछे ईसा की विद्रोही आत्मा थी—ब्लाक ने लिखा था—"इनकी प्रगति के पीछे ईसा का हाथ है !"

वास्तविकता यह थी कि रूस में धर्म-विरोधी आन्दोलन की भाषा चाहे जितनी भ्रमात्मक हो लेकिन वे लोग उन प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध थे जो कि मजहब के साथ आ जाती हैं और मानवता की प्रगति में एक बहुत बड़ी बाधा बन जाती हैं। लेकिन इसके ये अर्थ नहीं हैं कि साम्यवादियों ने जीवन के उन महान् सत्यों और सौन्दर्यों की उपेक्षा की हो जिनके लिए दुनिया के महान् धर्मप्रवर्तकों ने अपनी जान दी है। उन्होंने रूढ़ियों और परम्पराओं का विरोध किया, रूसी जनता को मजहब ने जंजीरों में जकड़ रक्खा था। मजहब ने जनता से कहा था कि जार का विरोध धर्म का विरोध है; क्रान्ति का मतलब रक्तपात है, पशुता है; आदमी को अपनी परिस्थितियों से सन्तोष करना चाहिए, जो इस जीवन में दुःख उठाते हैं, उन्हें परलोक में शान्ति मिलती है। जिस ईसा ने जीवन भर अन्याय के खिलाफ युद्ध किया, उसके अनुयायी पादरियों ने अन्याय की मूर्ति जार का साथ दिया; जिस ईसा ने धन और वैभव से भरे हुए मठों को बर्बाद कर देने के लिए सलीब पर चढ़कर जान दे देना स्वीकार किया था, उन्हीं पादरियों ने अपने मठों का सोना बचाने के लिए अकालग्रस्त रूस के लाखों आदमियों को तड़प-तड़पकर दम तोड़ने दिया। ईसा का जीवन-दर्शन एक विद्रोही जीवन-दर्शन था ज़िसमें सामन्तवादी व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह की आवाज थी। ईसा का दुःखवाद एक महान् सिद्धान्त था जिसके अर्थ थे—जनता के दुखों के खिलाफ लड़ने के लिए सारे दुःख और गुनाह अपने कन्धों पर ले लेना ! लेकिन धर्म के इन ठीकेदारों का जीवन-दर्शन नाबदान के कीड़ों का जीवन-दर्शन था जो अपनी परिस्थिति से विद्रोह नहीं करना चाहते क्योंकि उनके चारों ओर सोने-चाँदी का जगमगाता हुआ कीचड़ था। और वक्त पड़ने पर इन कीड़ों ने अपने गन्दे साहस से क्रान्ति के बढ़ते हुए विराट कदमों को रोकने का प्रयास किया था, और अपने इस प्रयास में—जिसके लिए महान् प्रभु जीसस की आत्मा इन्हें कभी भी क्षमा न करेगी—उस प्रयास में ये खुद क्रान्ति के बढ़ते हुए कदमों के नीचे कुचल गये।

फिर भी रूस की नयी सरकार ने इन्हें बहुत बचाने की कोशिश की। जनंवरी 23, 1912 को जिस नये कानून के अनुसार धर्म को राजकीय कार्यों से अलग कर दिया गया, उसके स्पष्ट शब्द हैं—

रचनावली

"हरेक नागरिक को पूरा अधिकार है कि वह किसी धर्म को माने, या किसी धर्म को न माने··· धार्मिक परम्पराओं की रक्षा कम्यूनिस्ट सरकार करेगी, बशर्ते ये धार्मिक परम्पराएँ जन-शान्ति के लिए बन्धक न हों और किसी भी नागरिक के अधिकारों में बाधा न पहुँचायें।"

लेकिन इन मुल्ला और पादरियों का सबसे बड़ा विरोध जनता की ओर से उठा। रूस की 'कासमासोल' (युवक-संघ) का एक दल था जो धार्मिक अन्धविश्वास के विरुद्ध रूसी जनता में प्रचार कर रहा था। अमेरिकन और इंगलिश पूँजीवादियों ने यह सिद्ध करना चाहा है कि रूसियों ने इन पादरियों के साथ बहुत बर्बर व्यवहार किया है, अमानुषिकता पर उतर आये। लेकिन यहाँ सिर्फ इतना याद रखना होगा कि कम्यूनिस्ट नास्तिकों ने कहीं भी किसी भी पादरी को जिन्दा नहीं जलाया, जब कि धार्मिक (?) अमेरिकनों का यह प्रतिदिन का मनोरंजन था कि वे किसी अभागे नीग्रो को पकड़कर जिन्दा जला दें और चारों ओर खड़े होकर तालियाँ पीटें। इंगलैण्ड के आस्तिकों का धर्म क्या है, यह तो हम हिन्दोस्तानी दो शताब्दियों तक अच्छी तरह भोग चुके हैं। पक्के ईसाई जनरल डायर ने जल्याँवाली तख्ती पर खून की बाइबिल लिखी थी जिसको पढ़कर आदमीयत शर्म से सर झुका लेती है। हिन्दोस्तान का जो वर्ग रूस की नास्तिकता पर आक्षेप करता है उससे भी मुझे यही कहना है कि कम्यूनिस्ट मेनीफ़ेस्टो में कहीं भी यह नहीं है कि यदि स्त्री या शूद्र कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो पढ़ें तो उनके कान में पिघला हुआ सीसा छोड़ दिया जाय। और न धर्म के मसले को लेकर रूसियों ने इतनी शर्मनाक खूँरेजी की है जितनी कि धर्म के नाम पर नोआखाली और पंजाब में हुई। रूस ने मजहब का परिहार कर अपनी जनता के जीवन में ऊँचाई लाने का प्रयास किया है। और मजहब का साइनबोर्ड हटाकर, मजहब की रूढ़ियों का विरोध कर, उन्होंने जीवन की ऊँची नैतिकता की स्थापना की जो धर्म की ही तरह पवित्र है और महान् है। जिन निष्पक्ष लोगों ने वर्तमान की रूस की समस्याओं का अध्ययन किया है, वे सभी यह मानते हैं धर्म का विरोध केवल मठों और महन्तों की प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति का विरोध था। उसके पीछे यह सोच लेना कि सोवियत रूस आदमी को पशुता की ओर ले जा रहा है, यह गलत है। "अगर धर्म का अर्थ वह सड़ा हुआ रूढ़िवाद है तो वह रूढ़िवाद धीरे-धीरे सोवियत रूस में अपना दम तोड़ रहा है। उसकी जगह पर जनता के हृदय में सांस्कृतिक और भौतिक निर्माण की एक गतिशील, उल्लासमय प्रेरणा जाग गयी है।

"लेकिन अगर धर्म का अर्थ और भी गहरा है, उसका अर्थ अधिक व्यापक, उदार और उज्ज्वल है तो प्रश्न का दूसरा पहलू सामने आता है। लोगों का कहना है कि इस्लाम, बौद्ध धर्म, हिन्दुत्व या ईसाइयत के अर्थ मनुष्य की सेवा और सत्य की पूजा है। सोवियत संस्कृति में आज पहले से कहीं ज्यादा मनुष्य की सेवा और

सत्य की पूजा-भावना है। अगर धर्म के अर्थ हैं जिन्दगी का एक महान् स्तर से निर्माण, तो आज दुनिया के किसी भी देश के मुकाबले में रूस ज्यादा धार्मिक है। वेब ने कहा है कि 'रूस ने आज मानव शरीर के बजाय मानव आत्मा को अधिक स्वतन्त्रता, अधिक विकास और अधिक ऊँचाई देने का प्रयास किया है।' हमें उनके नास्तिक जीवन-दर्शन की ओर ध्यान न देकर उस वास्तविक निर्माण की ओर ध्यान देना चाहिए जिसमें उन्होंने रूस की धरती के कण-कण में ईश्वरत्व जगाने का प्रयास किया।" (विल्फ्रड स्मिथ)

स्वयं इंगलैण्ड के एक महान् विशप, डीन आफ कैन्टरबरी ने लिखा है–"मैं चाहता हूँ कि मेरे अनुयायी जिस लक्ष्य के लिए साधना करें, वह लक्ष्य आज केवल नास्तिक रूस में ही पूरा हो रहा है !"

सोवियत संस्कृति में धर्म का स्थान लेने के बाद अब प्रश्न आता है सोवियत साहित्य में धर्म का स्थान ! इसके पहले मैं यह बता देना चाहता हूँ कि संसार के प्रत्येक महान् धर्म के साथ एक रूढ़िवादी परम्परा होती है जो कालान्तर में उसे प्रतिक्रियावादी बना देती है, लेकिन हर धर्म के अन्तराल में एक महान् सांकेतिक जीवन-दर्शन होता है जो मानवता के कदमों को आगे बढ़ाने में हमेशा सहायक हो सकता है। लेकिन धीरे-धीरे उस धर्म के अनुयायी धर्म की उन परम्पराओं को अपना लेते हैं और धर्म के उस सांकेतिक, उस प्रतीकवादी सन्देश को भूल जाते हैं। मसलन ईसाई आज यह भूल चुके हैं कि ईसा के सन्देश और यहूदियों द्वारा ईसा के वध का एक प्रतीकवादी अर्थ था, वह यह कि प्रत्येक विद्रोही को नये जीवन के निर्माण के लिए अपने अस्तित्व तक का होम कर देना पड़ता है। लेकिन आज वह संकेत भुला दिया गया। उसी तरह भारत के वैष्णव अवतारवाद का सबसे महान् संकेत यह है कि ईश्वर भी अपने को तभी पूर्ण पाता है जब वह जीवन की कठोर धरती पर उतर आये। ईश्वर–चरम सौन्दर्य, असीम प्रेम, इन सभी की पूर्णता का परिपाक वास्तविक जीवन में है, परलोक की कल्पनाओं में नहीं। यह एक क्रान्तिकारी जीवन-दर्शन था लेकिन कालान्तर में हम उसके प्रतीक अर्थ को भूल गये।

लेकिन भारत के प्रगतिवादियों ने धर्म के इन सांकेतिक अर्थों को बिना समझे हुए ही धर्म का विरोध किया है। वे भूल गये कि ये धर्म अपने युग के क्रान्तिकारी आन्दोलन थे। वे भूल गए कि भारतीय जनता की अब तक की सांस्कृतिक प्रगति बुद्ध और कृष्ण पर आधारित थी। वे भूल गए कि रूस के ईसाई महन्तों और भारत के धार्मिक सन्तों में अन्तर था। कबीर और तुलसी, राम-कृष्ण और दयानन्द, शंकर और रामानुज, बुद्ध और नागार्जुन सांस्कृतिक प्रगति के अग्रदूत रहे हैं। भारतीय प्रगतिवादियों ने बिना धार्मिक संस्कृति का पूरा अर्थ समझे, उसके खिलाफ फैसला दे दिया और इस तरह अपने को भारतीय संस्कृति से सर्वथा अलग कर लिया, भारत

रचनावली

की सांस्कृतिक प्रगतिशील परम्परा से अलग होकर अपने को केवल नासमझ प्रतिक्रियावादी ही साबित किया। वे भूल गये थे कि रूस के धर्म और भारत के धर्म में अन्तर है।

रूस के साहित्यिकों ने, रूस के विचारकों ने यदि उस धर्म का विरोध किया तो ठीक था। वहाँ धर्म प्रगति में बाधक हो रहा था। लेकिन भारत में अगर एक तरफ मुस्लिम लीग और हिन्दू सभा थी, तो दूसरी ओर हम यह भी नहीं भूल सकते भारत के वर्तमान पुनर्जागरण के मूल में धार्मिक पुनर्जागरण था। राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द, रामतीर्थ और विवेकानन्द धार्मिक आचार्य थे। लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी ने भारतीय धर्म के क्रान्तिकारी संकेतों को आगे रक्खा था और हम उन हजारों बहादुर नौजवानों को नहीं भूल सकते, जो हाथ में गीता लेकर हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर चढ़ गये थे।

मैं यह नहीं कहता कि आज भारत के लिए अपेक्षित प्रगतिवादी साहित्य को धर्म की रूढ़ियाँ और परम्पराएँ अपनानी होंगी। मेरा सिर्फ इतना आग्रह है कि प्रगतिवाद को उस महान् धर्म की प्रगतिवादी परम्परा का अर्थ समझना होगा जिसने आज तक भारत की जनता को सबल और दृढ़ बनाया है। यह ठीक है कि धर्म के एक पहलू ने, भाग्यवाद और जातिभेद ने, परलोकवाद और वैराग्यवाद ने हमारी जनता को जीवन से विमुख किया, लेकिन हम यह नहीं भूल सकते कि रामानन्द ने जाति-व्यवस्था का विरोध किया था, सूर की गोपियों ने वैराग्यवाद की धज्जियाँ उड़ाई थीं, भगवान तथागत ने उच्चवर्गीय ब्राह्मण तानाशाही के खिलाफ विद्रोह किया था; और भारत में जनप्रिय बननेवाले दोनों धर्म, बौद्ध और वैष्णवत्व, दोनों ही प्रगतिवादी थे और दोनों ने जनचेतना को जगाने में सब से आगे बढ़कर हिस्सा लिया था। वैष्णव धर्म की जनप्रियता का तो मुख्य आधार ही यह था कि वैष्णव आचार्यों ने किसी रहस्यमय लोक से ईश्वर को हटाकर जन-जीवन की व्यापक पृष्ठभूमि में, ग्राम, गोचर भूमि, ग्राम कुटीर, और ग्रामीण हृदय में ईश्वरत्व की स्थापना की थी और एक समय था जब कि वैष्णव सन्तों की दृष्टि में जनचेतना और ईश्वरचेतना आपस में घुल-मिल गयी थी।

हम देख चुके हैं कि आज का सच्चा प्रगतिवादी साहित्य प्राचीन संस्कृति की ही एक कड़ी बनकर जिन्दा रह सकता है। महान् सांस्कृतिक परम्परा से अपने को तोड़कर अलग कर लेने के बाद प्रगतिवादी साहित्यकार निर्बल और लक्ष्यभ्रष्ट बन जाता है। भारत का प्रगतिवादी साहित्यकार भी तभी अपनी कलम की नोक पर सत्य की साधना कर सकता है, जब वह भारतीय जनता की आत्मा में छिपे हुए उदार और सशक्त तत्त्वों का सच्चा मूल्यांकन कर सके और भारतीय जनता में व्याप्त धार्मिकता का उज्ज्वल और अँधेरा दोनों पक्ष देख सके। दोनों दृष्टिकोणों से धर्म को देखना आवश्यक है। जिन रूढ़ियों ने भारतीय जनता में एक व्यापक

निष्क्रियता ला दी है उन तत्त्वों का संहार करना जरूरी है लेकिन जिन धार्मिक तत्त्वों ने भारतीय जनता को अभी तक सशक्त, स्वाभिमानी और महान् बना रक्खा है, उनकी आधुनिक दृष्टिकोण से व्याख्या करना आवश्यक है। हम यह नहीं भूल सकते कि मूल आर्थिक समस्याएँ चाहे कुछ रही हों लेकिन भारतीय जनता का मानसिक ढाँचा जिस रूप में ढल गया है, उसमें धर्म का प्रमुख स्थान है और उनके धर्म का वास्तविक और यथार्थ विश्लेषण किये बिना हम भारतीय जनता को नहीं समझ सकते। भारतीय चेतना के निर्माण में धर्म ने हमेशा जो भाग लिया है, जिन प्रतीकों के सहारे सांस्कृतिक विकास लाने की कोशिश की है, और जिन रूढ़ियों ने भारतीय जनता की प्रगति को जकड़ लिया है, उन सभी को सहानुभूति से और गम्भीरता से समझने की आवश्यकता है। केवल ऊपर से, भारतीय संस्कृति की सांकेतिक गहराइयों में उतरे बिना, उसका विरोध करना रूस का नासमझ अनुकरण है।

यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि स्वयं रूस के महान् लेखकों ने रूढ़िवादी धर्म और प्रगतिवादी धर्म का अन्तर समझा है। मैं टाल्स्टाय और डास्टावस्की की बात नहीं करता मैं, मैक्सिम गोर्की की बात कर रहा हूँ और वह भी मैक्सिम गोर्की के उस उपन्यास (माँ) की जो रूस में बाइबिल की तरह माना जाता है। एक जगह जब उसका क्रान्तिकारी नायक पवेल रूढ़िवादी ईश्वर का विरोध करता है तो रूस की पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करनेवाली माँ बोली–"परन्तु मुझ बुढ़िया से अगर तुम मेरा ईश्वर भी छीन लोगे तो फिर मेरे पास मुसीबत के लिए क्या सहारा रह जायगा !" उस पर पवेल ने उत्तर दिया–"माँ, मैं उस अच्छे और कृपालु ईश्वर के विषय में कुछ नहीं कह रहा था, जिस पर तुम विश्वास करती हो। मैं तो उस ईश्वर के बारे में कह रहा था, धार्मिक लोग जिसके नाम पर हमारे दिलों में भूत का हौआ पैदा करते हैं, जिसके नाम का दुरुपयोग करके हम सब को थोड़े से आदमियों की कुत्सित इच्छाओं का दास बनाने का प्रयत्न किया जाता है।"

इस पर गोर्की के दूसरे पात्र राइविन, जो उदारमना किसानों का प्रतिनिधि है, बोला–"हाँ, हाँ बिल्कुल ठीक कहा ! उन्होंने हमारे ईश्वर को भी विकृत बना दिया है ! जो कुछ उनके हाथ में आता है। उनका ही वे विरुद्ध उपयोग करते हैं। तुम जानती हो माँ कि ईश्वर ने मनुष्य को अपने स्वरूप में बनाया है–ऐसा बाइबिल में लिखा है। मनुष्य ईश्वर का स्वरूप है तो उसे ईश्वर की ही तरह आचरण भी करना चाहिए। परन्तु हम लोग ईश्वर तो नहीं लगते, जानवर बन गये हैं। गिरजों में भी हम लोगों को डराने के लिए ही स्वांग रचा जाता है। शायद हम लोगों को अपना ईश्वर भी बदलना पड़े माँ, हमको अपना ईश्वर भी स्वच्छ करना होगा। उन्होंने ईश्वर को असत्य और पाखण्ड के आचरण में छिपा रक्खा है। उन्होंने हमारी आत्माएँ नष्ट करने के लिए ईश्वर के मुँह पर भी कालिख पोत दी है।"

रचनावली

इस प्रकार हम देखते हैं गोर्की ने भी रूढ़िवादी ईश्वर और वास्तविक ईश्वर में स्पष्ट विभाजन रेखा खींच दी है। वह जानता था कि तर्कहीन रूढ़ियाँ और अन्धी परम्पराएँ आदमी की जिन्दगी को आगे नहीं बढ़ा सकतीं। कानून से, नियमों से, आदमी और आदमी की साधना बड़ी होती है। उसने ईश्वर का विरोध किया लेकिन घूम-फिरकर वह भी उसी सिद्धान्त पर पहुँचा था जहाँ भारतीय संस्कृति न जाने कब से संकेत करती आ रही है—वह चिरन्तन लक्ष्य जिस पर सभी भारतीय सन्तों ने जोर दिया है—अर्थात् मनुष्य की पूर्णता। उपन्यास का प्रमुख पात्र एण्ड्री कहता है—"याद है अलेक्सी आइवानोविश मनुष्य के पूर्ण जीवन की आवश्यकता के सम्बन्ध में क्या कहता था। आत्मा और शरीर की सारी शक्तियों का उपयोग कर जीवन को पूर्ण बनाने की मनुष्य को जरूरत है।··· परन्तु पूर्ण जीवन हमारे लिए नहीं है। अगर भविष्य से प्रेम है तो वर्तमान को स्वाहा कर देना पड़ेगा, साथी !"

लेकिन गोर्की मानता था कि हम वर्तमान को इसीलिए स्वाहा कर रहे हैं कि भविष्य में पूर्णता की प्रतीक्षा कर सकें। इसलिए हमें आज त्याग, बलिदान, संयम और शायद रक्तपात का भी रास्ता अपनाना पड़ेगा, लेकिन सिर्फ इसलिए हम जीवन की विषमताओं को मिटा कर पूर्णता की ओर बढ़ें और इसके लिए एक नयी श्रद्धा उत्पन्न करने की जरूरत है—"पवित्र स्थान को खाली नहीं रहना चाहिए। ईश्वर दर्द की जगह में रहता है। ईश्वर दिल से निकल गया तो दिल में एक बड़ा घाव हो जायगा। दिल में निरा दर्द ही दर्द रह जायगा, याद रक्खो ! इसलिए एक नयी श्रद्धा पैदा करने की जरूरत है। पवेल—बुद्धि से शक्ति नहीं आती हृदय से शक्ति आती, है ! सर्वसाधारण के लिए एक नयी श्रद्धा, एक नया ईश्वर पैदा करने की जरूरत है। न्यायाधीश या सर्वशक्तिमान परमात्मा के स्थान पर एक प्रजा के मित्र स्वरूप परमात्मा की जरूरत है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोर्की ने धर्म के विषय में इतनी चीजें स्वीकार कर ली थीं—वह इसे स्वीकार करता था कि रूढ़िवाद से अलग ईश्वर का एक स्वच्छ और निर्मल स्वरूप रहा है, जिसने हमेशा आदमी की आत्मा को बल दिया है। वह विश्वास करता है, वह ईश्वर विश्वास स्वरूप है, श्रद्धा-स्वरूप है और दर्द के दौरान में वह आदमी की आत्मा को बिखरने नहीं देता, उसे मजबूत बनाये रखता है। वह ईश्वर प्रजा का मित्र-स्वरूप है, मानव से प्यार करता है। वह ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं, पूर्णता का प्रतीक है।

गोर्की ने जिन बातों का विरोध किया था, वह थीं—मठों और महन्तों की रूढ़िवादिता। "ईसा के शिष्यों ने मठों की स्थापना की लेकिन मठ ही कानून बन गये। मनुष्य को अपने आप में विश्वास होना चाहिए, कानूनों पर नहीं। मनुष्य की आत्मा में ईश्वर का अस्तित्व होता है। कानून मनुष्य से नीचा होता है।" इस विषय में मैं और कुछ न कहकर केवल इतना कह देना चाहता हूँ कि वैष्णव धर्म ने परम्पराओं

और रूढ़ियों से ऊपर मानव को स्थान दिया है।

दूसरी बात गोर्की ने यह स्वीकार की कि मानवता की प्रगति में श्रद्धा और हृदय से बल आता है लेकिन वह अन्धश्रद्धा में विश्वास नहीं करता था, वह बुद्धि को समुचित स्थान देना चाहता था, उसका नायक पवेल बार-बार इस बात पर जोर देता है कि ईश्वर का वास केवल दिल में नहीं दिमाग में भी है। (यहाँ हमें याद रखना चाहिए कि भारतीय भक्तिमार्ग में विवेक का समुचित स्थान था। तुलसी ने अपने 'हरिभक्ति पथ' को 'संजुत विरति विवेक' बताया था) लेकिन गोर्की दिल और दिमाग की एकता चाहता था। उसका मात्र कहना है–"हमने अपने दिल और दिमाग के टुकड़े कर डाले हैं, और यहीं से सारे झगड़े की जड़ खड़ी होती है। यहीं से सारे कष्ट और मुसीबतें पैदा होती हैं। हमने अपने टुकड़े कर डाले हैं। हृदय को बुद्धि से अलग कर दिया है जिससे बुद्धि भी भ्रष्ट हो गयी है।" जब मैं यह पंक्तियाँ पढ़ रहा था तो मुझे बरबस आधुनिक भारत के सन्त कवि प्रसाद की याद आ गयी जिन्होंने बुद्धि को हृदय से समन्वित करने का महान् सन्देश 'कामायनी' में दिया है। मुझे तो बेहद आश्चर्य होता है कि जो भारतीय प्रगतिवादी बिना किसी तमीज के भारतीय धर्म-परम्परा का विरोध करते हैं, उन्होंने भारतीय धर्म का तो अध्ययन नहीं ही किया, मुझे तो लगता है उन्होंने रूसी साहित्य भी पढ़ने की कोशिश नहीं की, या पढ़ा भी है तो शायद समझे नहीं !

गोर्की का अन्तिम विरोध ईसाइयत के उस ईश्वर से था जो मनुष्य का न्यायाधीश है। मनुष्य को प्यार नहीं करता, क्षमा नहीं करता। मुझे विश्वास है कि गोर्की को अपने इस विरोध का शमन भारतीय वैष्णवता में मिलता जहाँ कि ईश्वर न्याय नहीं करता है, भक्तों से प्रेम करता है। मानव से प्रेम करता है और इतना प्रेम करता है कि गोलोक का वैभव छोड़कर मृत्यु लोक में अवतार लेता है। गोर्की के सामने ईश्वर का यह भारतीय स्वरूप नहीं आया था लेकिन सोवियत विचारकों के सामने यह स्वरूप आया तो उन्होंने उदारता से उसे समझा।

रवीन्द्रनाथ टैगोर जब रूस गये थे, तो मास्को में हजारों सोवियत नागरिक उनके भक्ति भावना भरे गीत सुनने आते थे। उनकी मृत्यु पर रूस के प्रसिद्ध लेखक पी. एस. कोगन ने लिखा था–"ऐसा समझना भूल होगी कि शाश्वत जगत की खोज में लगा हुआ विचार-प्रवर्तक और तात्कालिक समस्याओं के हल में लगा हुआ क्रान्तिकारी परस्पर के शत्रु हो सकते हैं।··· वे जहाँ अपने ईश्वर की आराधना करते हैं, वहीं हम भी अपना ईश्वर खोजने का प्रयत्न कर रहे हैं। 'अहंकार वहाँ नहीं पहुँच सकता जहाँ प्रभु निर्धन, नीच और पतितों के बीच में उन्हीं का भेष धारण किये घूमते हैं।' गीतांजलि के उनके ये वाक्य कितनी बार मैंने पढ़े होंगे–'मन्त्र जपना और माला घुमाना छोड़ दे। मन्दिर के दरवाजे बन्द कर इस अँधेरे कोने में तू किसकी पूजा कर रहा है। आँख खोलकर देख बावले तेरा ईश्वर यहाँ नहीं है ! वह वहाँ

रचनावली

है जहाँ किसान, पसीने में तर, हल जोत रहा है।' "

इससे स्पष्ट है कि वे नास्तिक नहीं, वे केवल रूढ़ परम्परागत ईश्वर का विरोध करते हैं। उन्होंने चाहे गिरजों और मन्दिरों से ईश्वर को हटा दिया हो लेकिन उनके मन में प्रभु का प्यार है और वह प्रभु है–'मानव-ईश्वर'। यही उनके साहित्य का नया मानववाद है।

अभी तक मार्क्सवाद ने पुरुष को परिस्थितियों से सदा पराजित ही दिखलाया था। प्लेखनाव ने यह साबित कर दिया था कि मानव का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं, अपनी कोई आवाज नहीं, अपना कोई निर्माण नहीं। परिस्थितियाँ, उत्पादन के साधन, समाज का ढाँचा उसको जैसा बना देता है, आदमी वैसा ही बन जाता है। समाज में यदि परिवर्तन भी होता है तो वह इसलिए कि भौतिक परिस्थितियों में एक अन्तर्विरोध रहता है, वह उन्हें बदल देता है और उसी अन्तर्विरोध की छाया मानव की अन्तर्चेतना में पड़ती है, उसकी कोई स्वतन्त्र क्रान्तिकारी चेतना भी नहीं है। जहाँ रूढ़िवादी धर्म ने भाग्यात्मक निश्चयवाद अपना कर मनुष्य की स्वतन्त्र सत्ता मानने से इन्कार कर दिया था, वहाँ रूढ़िवादी मार्क्स-पन्थियों ने परिस्थिति मूलक निश्चयवाद अपनाकर मनुष्य की स्वतन्त्र सत्ता नष्ट कर दी थी। एक ने माना था कि ईश्वर मनुष्य का भाग्य बनाता है, दूसरे ने माना कि परिस्थितियाँ मनुष्य का भाग्य बनाती हैं। लेकिन सोवियत रूस ने इन दोनों जीवन-दर्शनों के खिलाफ विद्रोह किया। उन्होंने मार्क्सवाद की एक नयी व्याख्या की जिसमें मानव परिस्थितियों का दास नहीं स्वामी बन गया। भाग्य का खिलौना नहीं भाग्य का निर्माता बन गया।

इस समय सभी सोवियत विचारक यह समझते हैं कि मानव नयी दुनिया का निर्माता होगा। दुनिया को बदलने और दुनिया को नया रूप देने के लिए आज आर्थिक परिस्थितियाँ नहीं बल्कि आदमी को आगे आना होगा। मनुष्य का यह निर्माता-रूप आज सोवियत साहित्य के मन्दिर की देवमूर्ति बन गया है। आलोचक पर्टजव कहता है–"इस नये डेमी अर्ज (सृष्टि की प्रेरणा-मूर्ति), इतिहास के चैतन्यशील भाग्यविधाता के व्यक्तित्व में हमारा साहित्य अपना रस और महानता ढूँढ़ रहा है।" (ज्नाम्या अंक 9,1945) आज यह स्वीकार कर लिया गया है कि मानव ही अपना ईश्वर है। वही अपनी सभ्यता और अपनी दुनिया को बना या मिटा सकता है। स्टीफेन स्पेण्डर लिखता है–"दुनिया के लोग आज एक उम्मीद के सहारे जी रहे हैं, वह यह कि उन्हें एक नये साँचे में ढलना है। सभ्यता, दुनिया के कोने-कोने में फैली हुई सभ्यता आज एक विचार-बिन्दु में सिमटकर रह गयी है–वह है मानव की शक्ति जो सब कुछ ध्वंस कर सकती है और जो नूतन सिरे से निर्माण कर सकती है।…यह तो स्पष्ट है कि मानव का अन्तर्जगत अब इतना बलवान हो गया है कि वह बाह्य परिस्थितियों को जब चाहे, जैसा चाहे बदल सकता है।…इसीलिए साहित्य में धीरे-धीरे इस बात पर जोर दिया जा रहा है कि आदमी क्या बने…अब हम

उस युग में पहुँच गये हैं जहाँ आदमी अजेय है, वह अपने को जीत सकता है, वह परिस्थितियों को जीत सकता है। यह सम्भव कि आदमी आज दुनिया के इस महान् नाटक के पर्दे पर 'समाप्त' लिख दे !"

मानव आज अपने अन्तर्जगत और अपने बाह्य जगत का ईश्वर मान लिया गया है। यह वही जीवन दर्शन है जो जयशंकर प्रसाद ने कामायनी में दिया था। कामायनी में मनु एक ध्वस्त देवसृष्टि के खण्डहरों पर अपनी प्रेरणा कामायनी के सहारे एक नयी सृष्टि का विधान करते हैं, अपने अन्तर्जगत से हारकर, अपने बाह्य जगत से मजबूर होकर सारस्वत प्रदेश की भौतिक सभ्यता में उलझकर पतित होते हैं, मगर दुःख और सुख, आशा और निराशा, ध्वंस और निर्माण के कोहरे में गर्व से सर उठाये हुए मनु उन बादलों से भी महान् ऊँचाई की ओर बढ़ रहे हैं जहाँ मानव हिमगिरि के उच्चतम शिखर पर आसीन होता है, जहाँ मानव से ऊँचा कोई भी नहीं है। उसी मानववाद को आज सोवियत रूस स्वीकार कर रहा है। आज सोवियत लेखक अपने को साम्यवादी, मार्क्सवादी या प्रोलेटेरियट नहीं कहता, वह अपने को मानववादी कहता है—रूस की कवयित्री वेरा इन्वर अपनी 'पुल्कोव मेरीडियन' नामक कविता में, जिसे लिखने में उसे दो साल लगे, लिखती है—

"हाँ, हम मानववादी हैं,
ऊँचे विचारों का प्रकाश हमारी आत्मा को लुभा लेता है।
महान् कार्यों का यश एक ज्योतिर्मय सन्देश है
जो चलता जाता है,
पीढ़ी से पीढ़ी को, युग से युग को
बिना किसी अन्त के...."

वह 'महान् कार्य' है नयी सृष्टि का निर्माण, पुरानी सृष्टि का ध्वंस और इस प्रकार निर्माण और ध्वंस की धूपछाँह में आदमी पूर्णता की ओर (गोर्की के अनुसार) बढ़ता चलता है। इस यात्रा में जैसा हम पहले बता चुके हैं, वह अपनी बुद्धि और हृदय का समन्वय करता है और आगे बढ़ता है। यही वह जीवन-दर्शन है जो प्रसाद ने मनु के प्रतीक में हमारे सामने रक्खा था; आज से 13 वर्ष पहले जब रूसी साहित्य अपने अनिश्चित प्रयोगों में उलझा था।

न केवल रूस ने आज अपने साहित्य का ईश्वर कामायनी के मनु को स्वीकार कर लिया है, वरन् उसने भावी सृष्टि का रूप भी वही 'समरस सृष्टि' मानी है जो प्रसाद को अभीष्ट थी। जो लोग कि सोवियत साहित्य की इस आधार पर निन्दा करते हैं, कि उसकी नींवें नफरत, द्वैत और संघर्ष पर आधारित हैं, उन्होंने सोवियत साहित्य को एंग्लो अमेरिकन आँखों से पढ़ा है। मानव चाहे वह रूस का हो या भारत का, वह प्रेम की ही ओर बढ़ेगा। मनुष्य स्वभाव से आस्तिक होता है, श्रद्धावान होता है, और उसका ईश्वर 'प्रेम' होता है। प्रेम ही ईश्वर है। उसी प्रेम की ओर

रचनावली

गोर्की ने भी संकेत किया था। प्रसाद ने जिस उल्लास में भरकर कहा था–

"संगीत मनोहर बनता, मुरली बजती जीवन की,
संकेत कामना बन कर, बतलाती दिशा मिलन की।
समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर आकार बना था,
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखण्ड घना था।"

गोर्की ने उसी उल्लास में भरकर लिखा था–"कभी-कभी हृदय में विचित्र भाव उठता है। ऐसा लगता है जिधर देखो सब बन्धु ही बन्धु हैं। सभी के अन्दर एक-सी रोशनी जगमगा रही है। सभी सुखी और भले हैं··· सब एक-दूसरे से मिलकर रहते हैं और सब अपने-अपने हृदय के राग जी भरकर अलापते हैं, और उनके विभिन्न राग एक महानद की सहस्र धाराओं की तरह आकर एक आनन्द की महान् गंगा में मिल जाते हैं जो झूमती हुई और मँडराती हुई आगे की तरफ जाती है। फिर जब यह विचार आता है कि भविष्य में सचमुच ही ऐसा होनेवाला है–हम लोगों ने चाहा तो जरूर ऐसा ही होगा–तब आश्चर्य और आनन्द से हृदय पिघलने लगता है, और खूब दिल भर कर रोने को जी चाहता है। आनन्द से ऐसा हृदय नाचने लगता है।" दूसरे स्थान पर गोर्की कहता है–"मैं जानता हूँ एक दिन आवेगा जब सब लोग एक दूसरे से हिलमिल कर रहेंगे–जैसे आकाश में तारे रहते हैं। जब एक को दूसरे की बातें संगीत की तरह मधुर लगेंगी। तब हमारा जीवन सत्य, स्वतन्त्रता और सौन्दर्य से सराबोर होगा। वही लोग इस दुनिया में अच्छे समझे जावेंगे जो अपने हृदय को विस्तृत करके दुनिया भर को प्रेम कर सकेंगे!" तीसरे स्थल पर गोर्की स्पष्ट कहता है–"हृदय से हृदय मिलकर एक विशाल और शक्तिशाली हृदय बनाते हैं जिसमें एक चाँदी की घण्टी की सी टनटनाती हुई आवाज आती है–दुनिया भर के मनुष्य एक हैं! जीवन की नींव प्रेम पर है घृणा पर नहीं! दुनिया के लोगों, मिलकर अपना एक कुटुम्ब बनाओ!"

ध्यान दीजिए। दुनिया के मजदूर सिर्फ एक नहीं हैं। दुनिया के मनुष्य एक हैं। जीवन की नींव वर्ग-संघर्ष पर नहीं, प्रेम पर है! स्पष्ट है कि गोर्की संकीर्ण मार्क्सवाद से महान् मानववाद पर उठ गया था। और उसी मानववाद की ओर आज रूस का साहित्य बढ़ रहा है।

लेकिन यह मानववाद केवल अन्तर्जगत में सीमित नहीं, वह मानव के अन्तर्जगत को बाह्य जगत की ओर प्रेरित करता है। वह चाहता है कि आदमी न केवल प्यार करे, वरन् ऐसी दुनिया का निर्माण करे जिसमें वह प्यार कर सके, जिसकी सीमाएँ इतनी चौड़ी हों, जिसका आकाश इतना उन्मुक्त हो कि प्यार उसमें खुलकर साँस ले सके। यूरोप के पुराने साहित्यिक में भी मानववाद था किन्तु वह मानव की परिस्थितियाँ बदलने के बजाय उन्हीं परिस्थितियों में दया और प्यार करने का हामी था, वह एक निष्क्रिय मानवतावाद था। लेकिन सोवियत साहित्य का यह

नया धर्म सक्रिय मानववाद है। "मानववादी साहित्य में दया, आदमी के दुःख और सहानुभूति का चित्रण था, रूस के मानववादी साहित्य में आनन्द, चरम आनन्द के लिए बाह्य परिस्थितियाँ निर्माण करने के लिए सक्रिय संघर्ष का संकेत है। हमारे साहित्य में मानव स्वयं अपने आनन्द का निर्माण है।" (अलेक्सी टाल्स्टाय)

जिसको घृणा समझा जाता है वहाँ केवल पुरानी सड़ी हुई नींवों को उखाड़कर प्रेम की नयी नीवें स्थापित करना है। लेकिन उसका अन्तिम उद्देश्य प्रेम और आनन्द ही है।

आज समाज की जो व्यवस्था है उसमें आदमी प्यार करना चाहता है, मगर नहीं कर पाता ! लेकिन उसके मन में कसक है, टीस है ! वह कहता है–"है तो दुःख की बात, मगर आदमी को अविश्वास करना पड़ता है। मनुष्य समाज के हिस्से हो गये हैं। इस कठोर जीवन ने मनुष्यों को दो भागों में विभाजित कर दिया है। जी तो यही चाहता है कि सभी प्रेम करें, मगर यह हो कैसे··· इसलिए हमें दो निगाहों से देखने को मजबूर होना पड़ता है। हमें अपने सीने में दो दिल रखने पड़ते हैं। एक सब को प्यार करना चाहता है, परन्तु दूसरा कहता है, ठहरो ! अभी ऐसा मत करो !" (गोर्की) यह दूसरा हृदय जो आदमी को प्यार करने से रोकता है, वह बाह्य परिस्थितियों का निर्माण है जो आदमी के दिल पर पत्थर की चट्टान की तरह बैठ गया है। मानव उस चट्टान को उलटने में लगा हुआ है और ज्यों-ज्यों वह अपनी ताकत से इन बाह्य परिस्थितियों को बदल रहा है, त्यों-त्यों उसमें एक नयी आत्मा का प्रवेश हो रहा है–"हमारा सभी का एक नया हृदय बन रहा है। हमारे जीवन में एक नयी आत्मा प्रवेश कर रही है।" (गोर्की)

यह नयी आत्मा ही ईश्वर है। यह नयी आत्मा प्रेम और आनन्द की आत्मा है। सोवियत साहित्य में इस नये प्रेम और आनन्द की आत्मा प्रवेश कर रही है और इसीलिए गिरजों को ध्वस्त कर, परम्परागत ईश्वर का विरोध करके भी सोवियत साहित्य धार्मिक साहित्य है क्योंकि उसमें भौतिकता नहीं, मानवता की पूजा है–घृणा नहीं, प्रेम और आनन्द की प्रतिष्ठा है और यही ईश्वर है क्योंकि हमारी उपनिषदों में भी कहा गया है–

"अयमात्मा परानन्दः परम प्रेमास्पदम् यतः।"

रचनावली

प्रगतिवादी साहित्य के नाम पर गन्दी अश्लीलता

रचनावली

एक अन्य प्रश्न जिस पर भारतीय प्रगतिवादियों ने दोहरा अभिनय किया है, वह है नैतिकता और यौन सम्बन्धों का प्रश्न। मैं उन कट्टरपन्थियों या शुद्धतावादियों में से नहीं हूँ जो साहित्य में किसी प्रकार की भी शृंगार भावना देखकर नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। मैं मानता हूँ और अपने पूर्ण विश्वास के साथ मानता हूँ कि शृंगार कविता का अनिवार्य अंग है और नैतिकता के बहुत प्योरिटन और संकीर्ण बन्धनों में कविता का रस और सौन्दर्य विच्छिन्न हो जाता है। लेकिन हम यह कभी नहीं भूल सकते कि काव्य और साहित्य में शृंगार रस बनकर आता है, वासना का उद्दाम उच्छृंखल और पाशविक चित्रण कभी भी काव्य और साहित्य को ऊँचाई नहीं दे सकता न आत्मा का संस्कार ही कर सकता है। एक नैतिकता का होना आवश्यक ही है। यह ठीक है कि काव्य की नैतिकता धर्मसूत्र की नैतिकता नहीं होती किन्तु वह होती है एक गम्भीर नैतिकता।

भारतीय प्रगतिवाद के प्रारम्भ काल में हमें एक विचित्र सी प्रवृत्ति देखने में आयी थी। हिन्दी साहित्य में द्विवेदी काल में रीतिकाल की उन्मुक्त अनैतिकता के प्रति जितना घोर विरोध हुआ था, उसका प्रभाव छायावादी युग तक रहा। छायावाद काल के कवियों ने प्रेम को बहुत ही रोमानी, सूक्ष्म, अशरीरी और अपार्थिव रूप दिया था और अपनी शृंगार-भावना (यौन-प्रवृत्तियों) को बादलों, इन्द्रधनुषों, तारों और मलयज की परतों में लपेटकर अपनी कविता में रक्खा था। आवेश और उन्मेष की अपेक्षा एक बहुत सुकुमार रेशमी संयम उनके प्रेम में मिलता है।

बच्चन, भगवतीचरण और अंचल में इस अपार्थिवता के प्रति थोड़ा बहुत विद्रोह था, उसे लेकर प्रगतिवाद की नयी पीढ़ी अपनी यौन-प्रवृत्ति की उच्छृंखला की अभिव्यक्ति में जुट गयी। उपन्यासों के क्षेत्र में और कहानियों के क्षेत्र में इन नये प्रगतिवादियों ने फ्रायड के मनोविज्ञान का भी सहारा लिया और जीवन का चित्रण एक अनैतिक यौन-तृष्णा के रूप में करना शुरू कर दिया। आश्चर्य तो इस बात का होता है कि फ्रायड जैसा घोर प्रतिक्रियावादी बोर्जुआ मनोवैज्ञानिक का सिद्धान्त

माननेवाले लेखकों का प्रगतिवादी कहकर प्रचार किया गया और अब भी उनमें से अधिकांश उसी कैम्प के स्तम्भ माने जाते हैं। कुछ ऐसा लगा कि ये लोग नैतिकता की समस्त मान्यताओं को उखाड़ फेंकने में लग गये थे और इसी बहाने अपने मन की दबी हुई वासनाओं की अभिव्यक्ति कर एक विकृत, अस्वस्थ मानसिक सन्तोष का अनुभव करते थे। कविताओं में बिहार के 'रमण' की 'मास्को' एक अनूठी कृति है जिसका बहुत स्वागत किया गया था, जिसमें मास्को का प्रगतिवादी कवि नगर की हेडानिस्ट नारियों की लटकी हुई छातियों और ग्राम युवतियों की कच्ची नाशपातियों से वक्ष का चित्रण कर क्रान्ति की चेतना उत्पन्न करता है। यशपाल की नायिका अपने क्रान्तिकारी प्रेमी की थकावट दूर करने के लिए उसके पास जा लेटती है, जिससे वह गर्भवती हो जाती है। पहाड़ी की कहानियों में इनकी कमी है ही नहीं। उभरे हुए नग्न वक्षों की यह महान् प्रगतिवादी परम्परा रमण से लेकर राहुल सांकृत्यायन के वोल्गा से गंगा तक चलती रही है।* सचमुच ही इस महान् प्रगतिवादी धारा ने सैकड़ों साम्यवादी पाठकों के मन में आमूल क्रान्ति कर दी होगी इसमें सन्देह नहीं है।

यदि हम इस हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य की इस मनोवृति का गम्भीर विश्लेषण करें तो हम यह देखेंगे कि इसके पीछे कोई भी कल्याणकारी प्रगतिवादी भावना न होकर केवल एक अस्वस्थ, विकृत प्यास थी जो अपनी तृप्ति के लिए शाब्दिक व्यभिचार का मार्ग ढूँढ़ रही थी। इन प्रगतिवादी लेखकों में से कुछ तो इस प्रकार के राजनीतिक कार्यकर्ता थे जो बहुत दिनों तक अपने परिवार से छूटकर बन्दीगृहों में अपनी तरुणाई होम कर चुके थे, कुछ ऐसे घुमक्कड़ थे जो अपने घर की सीमाएँ तोड़कर देश-विदेश में घूम आये थे। कुछ ऐसे युवक थे जिनके मन में समाज के प्रति एक ज्वलन्त विद्रोह था, किन्तु उनमें एक उचित मार्ग खोज निकालने का धैर्य और समन्वयात्मक संयम का सर्वथा अभाव था। भारतीय जीवन में जो महान् उथल-पुथल हो रही थी, उसमें ये लोग एक विहंग की तरह अपनी डाल से छूट कर उलझ गये थे। इनकी बँधी बँधाई मान्यताएँ टूट चुकी थीं, लेकिन उसके स्थान पर उन्हें कोई नयी और महान् दिशा नहीं मिल पाई थी, तूफान ने उनका नीड़ उजाड़ दिया था, किन्तु उनके पंखों में आकाश को चीरकर स्वर्ग की ऊँचाइयों तक पहुँचने की शक्ति नहीं थी। लेकिन इस पतन में भी एक अहंकार था जिसने उन्हें मजबूर कर दिया था कि वे अपनी पथभ्रष्टता को ही विद्रोह समझें, अपने मन की दुर्गन्धित वासना के झकोरों में चक्कर काटने को ही प्रगति कहें और उस पर घमण्ड करें! उनकी विद्रोही प्रवृत्ति एक दिशाहीन उच्छृंखलता और दमित वासनाओं का अस्वस्थ उबाल मात्र बनकर रह गयी थी।

---

* इन स्थलों का उद्धरण देना मैंने उचित नहीं समझा केवल रचनाओं का उल्लेख कर दिया है।

रचनावली

यह परिस्थिति केवल भारत में ही नहीं थी। सोवियत रूस में भी क्रान्ति के बाद इस उच्छृंखलता का एक युग आया था। किन्तु सोवियत रूस के भाग्यविधाताओं ने इस जहर में छिपा हुआ खतरा पहचान लिया था और नग्न प्यासवाले इस प्रगतिवाद के साँप को उन्होंने दृढ़ता से कुचल दिया था। जैसा वेब ने अपनी 'सोवियत कम्यूनिज्म' नामक पुस्तक में लिखा है–"बोलशेविक शासन की प्रथम दशाब्दी में यौन सम्बन्धों को केवल एक वैयक्तिक प्रश्न समझा जाता था, तथा सिवा कुछ आर्थिक उत्तरदायित्व के, अन्य किसी प्रकार का उत्तरदायित्व नहीं था।

"किन्तु दूसरे दशक में हम रुख को बहुत बदला हुआ पाते हैं। क्रान्ति के बाद के वर्षों में जो अश्लील अनैतिकता क्रान्तिकारियों में आ गयी थी, लेनिन उसे बहुत पसन्द नहीं करता था। क्रान्ति के दिनों में अक्सर यह दृष्टिकोण सामने रक्खा जाता था कि यौन सम्बन्ध भी भूख और प्यास की तरह स्वाभाविक है और एक गिलास पानी पीने से ज्यादा उसका कोई महत्त्व नहीं। लेनिन इस सिद्धान्त से घृणा करता था। 1921 में लेनिन ने क्वारा जेटकिन से कहा था–'मैं इस एक गिलास पानी वाले सिद्धान्त को सर्वथा मार्क्स विरोधी सिद्धान्त मानता हूँ। यौन सम्बन्धों में केवल प्राकृतिक प्यास को ही आधार नहीं बनाया जा सकता। उसका आधार सांस्कृतिक विशेषताएँ भी होती हैं चाहे वह उच्च स्तर की हों अथवा निम्न स्तर की।' एंजेल्स ने अपने 'परिवार के विकास' नामक ग्रन्थ में यह दिखलाया है कि साधारण यौन-प्रवृत्ति का एक वैयक्तिक प्रेम-भावना में मर्यादित हो जाना कितना महत्त्वपूर्ण है।··· यह सच है कि आदमी को प्यास लगती है और उसका प्यास बुझाना आवश्यक है, किन्तु क्या एक स्वाभाविक आदमी स्वाभाविक परिस्थितियों में नाली में लोट जायेगा और प्यास बुझाने के लिए चुल्लू से गन्दा पानी पियेगा ? या ऐसे गिलास से पानी पियेगा जिसमें करोड़ों होठों की जूठन और थूक लगे हों ?"

"मेरी राय में इस समय फैली हुई यह यौन उच्छृंखलता जीवन को आनन्द और शक्ति नहीं देती, उसका सन्तोष और स्वास्थ्य छीन लेती है। क्रान्ति के युग में यह अशुभ है, बहुत अशुभ।

"प्रोलेटेरियट वर्ग उत्थान की दिशा में चलनेवाला वर्ग है। उसको किसी भी रूप में, किसी भी नशे की आदत नहीं डालनी चाहिए। न शराब का नशा और न मांसलता का! उसको जरूरत है लड़ाई की, एक सशक्त वर्गवादी साम्यवादी प्रेरणा की। इसलिए मैं फिर कहूँगा, 'कमजोरी, स्वास्थ्य का ह्रास, शक्ति का विनाश, पाप है। आत्म-संयम, आत्मानुशासन और गुलामी का विरोध, चाहे वह यौन-प्रवृत्ति की ही गुलामी क्यों न हो!' "

लेनिन के साथ ही साथ गोर्की ने भी नैतिकता पर बहुत जोर दिया था। रोमा रोलाँ के नाम लिखे गये 3 जनवरी 1922 के सेण्ट ब्लेरियन से भेजे हुए पत्र में लिखा था–"क्रान्ति के प्रथम दिवस से ही मैंने रूसी जनता को दृढ़ नैतिकता का

महत्त्व सिखाने का प्रयास किया है। नैतिकता कम से कम संघर्ष और संक्रान्ति काल में बहुत ही आवश्यक होती है।··· कभी भी कोई भी सच्चा साम्यवादी नहीं हो सकता, यदि उसके अन्तःकरण में जन्म से ही धर्म की तरह दृढ़ नैतिकता न हो !"

सोवियत सरकार ने धीरे-धीरे अनैतिक उच्छृंखलता की हानि को समझकर सोवियत रूस के यौन जीवन को संयमित किया। गर्भपात, अवैध सम्बन्ध, तलाक आदि के नियमों का शिकंजा काफी कस दिया गया और परिणाम यह है कि नैतिकता की दृष्टि से रूस आज संसार के सभी देशों में प्रमुख है। वेब के शब्दों में–"यौन उच्छृंखलता आज कम्यूनिस्ट विचारधारा की कट्टर विरोधी वस्तु समझी जाती है। ··· साहित्य या कला में किसी प्रकार की अश्लीलता को स्थान नहीं दिया जाता। रूस के नगरों में यौन-प्रवृत्ति को भड़काने वाली चीजें दुनिया के किसी भी देश के नगरों से कम मिलेंगी।"

लेकिन महान् सोवियत के पिद्दी हिन्दोस्तानी अनुयायियों का क्या हाल है ? हम भी पाँचवें सवार हैं, यह कहकर हमारे कम्यूनिस्ट प्रगतिवादी दोस्त कभी-कभी अपनी पवित्रता का दम भरते हैं और अपनी नैतिकता पर गर्व करने का प्रयास करते हैं। वे भी यह साबित करना चाहते हैं कि यौन उच्छृंखलता और लेनिन के शब्दों में 'नाली में लोट कर गन्दा पानी पीना' उन्होंने छोड़ दिया है। 'समाज और साहित्य' में अंचल (जो कम्यूनिस्ट तो नहीं हैं, पर 'फेलो ट्रेवलर' कहलाने का मोह नहीं छोड़ पाते) लिखते हैं–"प्रगतिवादी जीवन दर्शन में मुक्त यौन सम्बन्धों के लिए और अमेरिकन और फ्रेंच यौन-क्रीड़ाओं के लिए स्थान नहीं है।··· यौन-विकृतियाँ और अत्यधिक आसक्तियाँ तो उस समाज में ही अधिक रहती हैं, जहाँ श्रम शोषक वर्ग मुफ्तखोरी में अपना समय काटा करता है और आत्मिक बल से रहित अपने पापों की छाया में, भीतर ही भीतर आशंकित और अपनी आत्मिक अशान्ति और मनोविप्लव से पीड़ित, शराब और ब्राथलों की शरण ढूँढ़ा करता है।"

पंक्तियाँ बड़ी ही आशावादी हैं। लेकिन यथार्थ इसके सर्वथा विपरीत है।

मेरे सामने एक उपन्यास है। बिल्कुल ताजा 1948 में निकला हुआ, नागार्जुन का उपन्यास 'रतिनाथ की चाची !' नागार्जुन कम से कम प्रगतिवादियों के हल्के में बहुत ही मशहूर हैं और कम्यूनिस्टों के तो महाकवि माने जाते हैं। 'जनयुग' के अंक बहुधा उनकी कविताओं से सुशोभित रहते थे : गांधीजी की मृत्यु के बाद 'हंस' ने लिखा था कि नागार्जुन ही एकमात्र ऐसे कवि हैं जिन्होंने गांधी की मृत्यु का सच्चा जनवादी महत्त्व समझा है। बच्चन, पन्त, मैथिलीशरण, दिनकर सभी के मुकाबिले में अगर सचमुच कोई प्रगतिवादी विचार का था तो नागार्जुन ! (हम यह न भूल जायें कि नागार्जुन कम्यूनिस्ट हैं), उन्हीं महामहिम, अल्ट्रा-प्रगतिवादी लेखक की रचना के कुछ स्थलों की ओर मैं संकेत करना चाहूँगा।

यह उपन्यास मिथिला प्रदेश के जीवन पर लिखा गया एक उपन्यास है। लेखक

से आशा की जाती थी कि प्रगतिवादी होने के नाते वह एक महान् क्रान्तिकारी कथानक की योजना करेगा और उसके उपन्यास में स्थल-स्थल पर मानवता को आगे बढ़ाने वाली दृढ़ प्रेरणा का अंकन होगा। लेकिन सारा उपन्यास एक विकृत यौन-प्रवृत्ति की भद्दी और अश्लील अभिव्यक्ति के स्थलों से भरा पड़ा है। एक स्थान पर (142 पृ.) है–

"माँ के मरने के बाद लगभग आठ साल तक रतिनाथ के··· का अगला हिस्सा ढँका रहा। नंगा नहाते समय, या दिशा फराकत के वक्त उसके साथी उसको ताना मारते–रत्ती तेरी न तो शादी होगी न तेरे किये लड़का बच्चा पैदा होगा। तू तो हिंजड़ों से भी बदतर है। रतिनाथ को साथियों का यह ताना चुभता और अकेले में वह फफक-फफक कर रोता। एक दिन जब बेचारा इसी उधेड़बुन में पड़ा था तो सत्तो ने आकर पीठ थपथपाई थी और कहा था–रत्ती, तेरा इलाज मैं करूँगा, चिन्ता मत कर। और सचमुच सत्तो के ही बताये तरीके से रतिनाथ की वह त्रुटि दूर हुई थी। नियमित रूप से कई दिनों तक··· पर··· हो गयी तब रत्ती ने तारा बाबा की दुर्गा को पाँच पैसे का प्रसाद चढ़ाया था।"

कितना रस लेकर नागार्जुन, महाक्रान्ति-द्रष्टा नागार्जुन ने यह वर्णन लिखा है। भारतीय प्रगतिवादियों की स्वस्थ यौन-प्रवृत्ति का कितना बेहतरीन नमूना है यह ! और–किसान-मजदूरों के लिए कितना महान् सन्देश है ! शोषक पूँजीपति तो इन पंक्तियों को पढ़ते ही प्राण त्याग देंगे और पूँजीवादी व्यवस्था का गढ़ अरराकर गिर पड़ेगा ! लेकिन और भी लीजिए, यह तो महज पहला नमूना है–रतिनाथ के भाई उमानाथ का विवाह तय हो रहा है–"आँगन में औरतों ने कमीज और बनियाइन खुलवाकर उमानाथ को गहरी निगाह से देखा। एक मुँहफट खबासिन बोली–आँख मूँद लो भइया ! धोती भी खुलेगी।

"आ, तू ही खोल दे–अधेड़ उम्र की एक औरत ने अपनी छोटी आँखें नचाकर उससे कहा। वह अप्रतिभ हो गयी। उमानाथ को ट्राम कम्पनी का वह डाक्टर याद आया जिसके सामने इसी भाँति कपड़े खोलकर खड़ा होना पड़ा था। उस दिन भी पसीना निकल आया था, और आज भी। फर्क यही था कि उस दंतटुटे डाक्टर ने··· मगर इन औरतो ने वैसा कुछ नहीं किया !"

इन स्थलों मे कहाँ वह गम्भीर नैतिकता है, कहाँ वह प्रांजल पवित्रता है, कहाँ वह जीवन का सशक्त सन्देश है, जो गोर्की की रचनाओं में पाया जाता है ? गोर्की ने जीवन के किस अंग का चित्रण नहीं किया। गोर्की ने रूस के जीवन के किस पहलू को उसके यथार्थ रूप में नहीं चित्रित किया, लेकिन मजाल है कि कहीं पर कुरुचि या गन्दगी का आभास भी हो ! और इधर हैं हमारे जनयुग के व्यास–श्री नागार्जुन, 'रतिनाथ की चाची' के यशस्वी लेखक, जो मिथिला के जीवन का चित्रण कर रहे हैं। एक स्थल पर तो अपने वर्णनों में वे पाशविक बर्बरता की शैली पर

उतर आये हैं, जहाँ उन्होंने अप्राकृतिक व्यभिचार की एक घटना का खुला चित्रण किया है।

"रतिनाथ को नींद आ गयी, परन्तु वह गाढ़ी नींद नहीं थी। सोते समय मालूम हुआ कि कोई धीरे-धीरे उसकी जाँघ पर हाथ फेर रहा..."

इसके बाद का वर्णन इतना अश्लील है, इतने खुले शब्दों में है कि उसका उद्धरण भी देने में जुगुप्सा होती है। अन्य उद्धरणों में भी बहुत प्रयास और साहस करने पर भी कुछ स्थलों को छोड़ना ही पड़ा। लेकिन मैं पूछता हूँ कि इस रचना में कहाँ है वह 'धर्म की सी दृढ़ नैतिकता' जिसकी क्रान्तिकाल में गोर्की ने गम्भीर आवश्यकता बतलाई थी ! कहाँ है वह 'आत्मानुशासन' आत्म-संयम जिसके लिए लेनिन एक युग तक लड़ता रहा है ! कहाँ है अलैक्जेंडर क्रुप्रिन की कलम की वह स्वाभाविक पवित्रता जो 'यामा द पिट' में चकलों का खुला वर्णन करते हुए भी हमारे मन में कोई भी दूषित प्रभाव पैदा करने के बजाय उन अभागिनों के लिए हृदय में ममता और दया पैदा करती है और उस व्यवस्था के प्रति विद्रोह, जिसमें नारी केवल 'योनि-मात्र' बन गयी है ! अगर यही प्रगतिवादी नैतिकता है तो मेरा नम्र निवेदन है कि कम्यूनिस्ट पत्र अपने अंकों में कोकशास्त्र सचित्र क्यों नहीं धारावाहिक रूप से छापते हैं ? क्यों अपने नागार्जुन जैसे प्रगतिवादी लेखकों को गोर्की, कुप्रिन और शोलोखव की परम्परा में रख कर नागार्जुन की महान् प्रतिभा और अपनी महान् आलोचना बुद्धि को अपमानित करते हैं ?

लेखक के परिचय में कहा गया है "स्नेह, करुणा, अभाव, पश्चात्ताप और यथार्थता की यह कहानी आपको ले जाकर उसी धरातल पर खड़ा कर देगी जहाँ शरतचन्द्र की कथा वस्तुएँ अपने पाठकों को ले जाकर खड़ा कर देती हैं।... मिथिला की महिमा मण्डित परम्परा और सुजला-सुफला शस्य श्यामला भूमि की झाँकियाँ पाकर आप मुग्ध रह जायँगे !" शरतचन्द्र के मुँह पर इससे ज्यादा बड़ा तमाचा नहीं मारा जा सकता था। वह शरतचन्द्र जो इतने उपन्यास लिखने के बावजूद, चुम्बन तो दूर, एक स्पर्श तक का चित्रण करने में हिचकता रहा, जिसने भारतीय जीवन की प्रांजल मर्यादा को गौरव के शिखर पर चढ़ा दिया, उसकी कथावस्तु से 'रतिनाथ की चाची' का मुकाबला वही कर सकता है जो अपना ईमान ताख पर रख आया हो, या अपनी अक्ल गुम कर आया हो। और यह 'मिथिला की महिमा मण्डित परम्परा का चित्रण' है ? आखिर प्रेमचन्द ने भी तो अवध का चित्रण किया है ! आखिर शरत ने भी तो बंगाल का चित्रण किया है ! लेकिन हरी-हरी दूब हटाकर, फूल बिखराकर, कीचड़ में मुँह डुबोने और नाबदान में पैर डुबोने का शौक नागार्जुन की तरह किसी को नहीं था।

अंचल ने बड़े घमण्ड से लिखा है कि-"यौन विकृतियाँ उसी समाज में होती हैं जहाँ श्रम-शोषक वर्ग के मुफ्तखोरे होते हैं !" लेकिन अगर नागार्जुन का यह

रचनावली

उपन्यास यौन विकृति की एक महान् दुर्गन्धित रचना नहीं है तो और क्या है ? अंचल का कहना बिल्कुल सच है। मुफ्तखोरे और लिख ही क्या सकते हैं ? और जिनमें साहित्यिक साधना नहीं, जनता के प्रति नैतिक उत्तरदायित्व नहीं, अपनी संस्कृति के प्रति गम्भीर स्नेह नहीं, जो अपनी कलम को अपने हृदय के रक्त में डुबो कर नहीं लिखते, अपने अन्तर के सत्य को साक्षी बनाकर, मानवता की महान् सरस्वती के आदेश पर नहीं लिखते और फिर भी महज पार्टीबन्दी के बल पर जिन्हें महान् लेखक करार दिया जाता है। वे मुफ्तखोरे नहीं तो और क्या हैं ? उनकी मनोवृत्ति का अंचल के शब्दों से ज्यादा अच्छा चित्रण कहाँ मिल सकता है–"आत्मिक बल से रहित, अपने पापों की छाया में भीतर ही भीतर आशंकित और अपनी आत्मिक अशान्ति और मनोविप्लव से पीड़ित, शराब और ब्राथलों की शरण ढूँढ़ते हुए !" शस्य श्यामला मिथिला में नागार्जुन को चित्रण करने के लिए यही पहलू मिले ! लहलहाते हुए सुनहले गेहूँ के खेतों में वाराह समूह अपना ही भोजन सूँघता फिरता है। इसमें अचरज की क्या बात ? अपनी-अपनी रुचि, मर्यादा, नैतिक स्तर और प्रवृत्तियों की बात है !

मुझे कोई एतराज न होता यदि नागार्जुन तथा उन्हीं की परम्परा के अन्य महान् प्रगतिवादी लेखक इस तरह का घासलेटी प्रगतिवादी साहित्य लिखते, उसे कचौड़ीगली में .छपवाते और 'किस्सा साढ़े तीन यार' के साथ-साथ फुटपाथों पर विशुद्ध जन-साहित्य के साथ बेचते और जनता को कृतार्थ करते। किन्तु जब इस तरह की निन्दित यौन प्रवृत्ति और अश्लीलता से भरा हुआ घिनौना, बीमार कीड़ों से कुलबुलाता हुआ साहित्य प्रगतिवादी और जनक्रान्ति का उन्नायक साहित्य घोषित किया जाता है तो गुस्सा आता है।

लेकिन इस तरह के गन्दे, उच्छृंखल, उत्तरदायित्वहीन अश्लील साहित्य का सोवियत में कोई स्थान नहीं।* रूस के साहित्यिक अपने सामाजिक उत्तरदायित्व

---

* जहाँ तक प्रगतिवादी साहित्य और अश्लीलता का प्रश्न है, मैं एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। हिन्दी के अधिकांश पाठकों में यह भ्रम है कि अश्लीलता प्रगतिशील साहित्य की एक विशेषता है। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ कि साहित्य में अश्लीलता तो 19 वीं शती के यूरोपियन ह्रासोन्मुख (डिकैडेण्ट) लेखकों की देन है और बाद में फ्रायड का सहारा लेकर उन्हीं ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों ने साहित्य में अश्लीलता का रूप धारण कर लिया। वैसे स्वयम् फ्रायड साहित्य में सैक्स का महत्त्व अवश्य मानता है, लेकिन वह भी अनैतिकता, उच्छृंखलता या अश्लीलता का समर्थक नहीं। मार्क्सवाद में तो इस प्रकार के गन्दे सैक्स साहित्य के लिए कोई स्थान ही नहीं है। जैसा हमने देखा कि सोवियत साहित्य में इन प्रवृत्तियों का कठोरता से उन्मूलन किया गया और इन्हें विकसित नहीं होने दिया गया।

लेकिन भारत में प्रगतिवाद के प्रारम्भ काल में बिना समझे-बूझे हर नयी साहित्यिक प्रवृत्ति को प्रगतिवाद में सम्मिलित कर लिया गया, चाहे वह पाश्चात्य डिकैडेण्ट साहित्य की जूठन ही क्यों न हो ? अधिकांश प्रगतिवादी कहे जाने वाले लेखकों के साहित्य में सैक्स की असामाजिक और अश्लील प्रवृत्तियाँ विराजमान थीं,. किन्तु हमारे यहाँ के तयाकथित प्रगतिवादी आलोचकों ने इन प्रवृत्तियों का →

से भली भाँति अवगत हैं और वे अपने राष्ट्र के इस संकट काल में कदम साध-साधकर बहुत सावधानी से चल रहे हैं। उन्हें बराबर इस बात का ध्यान रहता है कि उनकी कृतियों से जनता में एक नैतिक अराजकता और सस्ती सेक्स उत्तेजना न फैले, एक व्यवस्थित और संयमित जीवन की ओर आकर्षण बढ़े। इस दिशा में वे गोर्की, और कुप्रिन की ही परम्परा का निर्वाह कर रहे हैं। इस विषय में और अधिक प्रभाव न देकर गोंशर के सर्वप्रिय युद्धकालीन उपन्यास 'नीली डैन्यूब' के ही एक अंश को उद्धृत किये दे रहा हूँ–

"एक दिन शाम को उनके कमरे में एक बहुत दिलचस्प बहस छिड़ गयी। एक जिन्दादिल भूरे बालोंवाला सार्जेण्ट अपनी प्रणय-कथाओं का विस्तार से वर्णन कर रहा था और यह भी बता रहा था कि कैसे वह अपनी पत्नी को साफ धोखा दे जाता है।"

"तो तुम औरत को समझते क्या हो ? पैर की जूती ?" वोरोण्टसोव ने कड़े स्वर में पूछा–"अगर चाहा तो पहना न चाहा तो उतार फेंका ? क्या परिवार ही वह इकाई नहीं है जिससे हमारा समाज, हमारा राष्ट्र, हमारा संगठन बनता है ?"

"इकाई नहीं, कुटुम्ब तो समाज का अणु है !" हवाई जहाज के बन्दूकजी ने कहा और अपने पैर नीचे लटका लिए।

"अणु··· ठीक कहा तुमने ! और क्या यही अणु हमारी इच्छाशक्ति, हमारी कल्पना, हमारे विकास और संयम का आधार-बिन्दु नहीं है ? क्या कुटुम्ब में ही हमारे बच्चों को सबसे पहली सामाजिक शिक्षा नहीं मिलती ?··· और तुम अपने को देखो··· इन बेहूदी बातों को बकते हुए शर्म नहीं आती तुमको ?"···

इन बातों से प्रेरित होकर वोरोण्टसोव ने एक दन्त-कथा बताई, एक साइबेरियन दन्त-कथा, वहाँ के हंसों के बारे में–

"··· और अगर जोड़े का एक हंस अकेला बच जाय" वोरोण्टसोव ने कहा,

→ परिहार करने का कोई प्रयास न किया और बजाय एक प्रगतिवादी साहित्य के निर्माण पर जोर देने के उन्होंने एक प्रगतिवादी गुटबन्दी बनाने पर अधिक ध्यान दिया। परिणाम यह हुआ कि इस तरह की गर्हित प्रवृत्तियाँ उनके लेखकों में ज्यों की त्यों बनी रहीं और उनका सबसे घृणित और विकृत स्वरूप नागार्जुन के इस उपन्यास में देखने को मिला।

इसके बावजूद प्रगतिवादियों की निष्पक्षता और ईमानदारी का यह हाल है कि जहाँ 'हंस' में अंक के बाद अंक में श्री सुमित्रानन्दन पन्त के अरविन्दवाद पर अशोभन से अशोभन और अशिष्ट से अशिष्ट प्रहार किये गये, वहाँ नागार्जुन के इस साहित्य को वे लोग चुपचाप पी गये !

लेकिन इन गुटबाजों को यह नहीं मालूम कि इस प्रकार के कार्यों से ये लोग उन रूढ़िवादियों को अवसर और प्रोत्साहन देते हैं, जो सच्चे प्रगतिवादी साहित्य की भी निन्दा करने के लिए सदा सन्नद्ध रहते हैं। जिस समाजवाद की आड़ में ये लोग अपना भोंपू बजाते हैं, उसी लक्ष्य के प्रति यह उनका विश्वासघात है।

रचनावली

उसकी आँखें बन्द थीं–"तो दूसरा पानी से निकल आता है और ऊपर उड़ता है। ऊपर, ऊपर, यहाँ तक कि वह एक सफेद चिह्न मात्र रह जाता है। उसके बाद वह दोनों पंख समेट लेता है और पत्थर की तरह जमीन पर आ गिरता है..."

न केवल इसी अध्याय में, वरन् पूरे उपन्यास में इसी नैतिक पवित्रता का वातावरण है। सोवियत साहित्य में सस्ती और गन्दी अश्लीलता का कोई स्थान नहीं। स्पष्ट है कि नागार्जुन तथा उन्हीं की तरह के अन्य तथाकथित प्रगतिवादी अश्लील लेखकों ने यह प्रवृत्ति पश्चिमी यूरोप और अमेरिका के ह्रासोन्मुखी साहित्य से सीखी है और हिन्दी साहित्य में यह गन्दगी प्रगतिवाद का लेबिल लगा कर उँडेली जा रही है। यह प्रवृत्ति कतई मार्क्सवादी नहीं है, न सोवियत साहित्य में ही इसका कोई स्थान है, फिर यह प्रगतिवादी कैसे है यह समझ में नहीं आता। अपने को प्रगतिवादी कहने वाले कम्यूनिस्ट आलोचक और पत्र भी इसके विरुद्ध आवाज नहीं उठा रहे हैं क्योंकि नागार्जुन तथा इसी प्रकार के अन्य लेखक उनके गुट के हैं और उन लोगों के लिए गुटबन्दी का महत्त्व सत्य से कहीं ज्यादा है। भारत के कम्यूनिस्टों के लिए चाहे इस प्रकार के लेखक आज के कालिदास हों किन्तु यदि यह पुस्तक सोवियत रूस में छपती तो अभी तक वह जरूर जब्त हो चुकी होती, यह बात दूसरी है कि यहाँ के कम्यूनिस्ट उसे बाइबिल की तरह पढ़ते हों !

कलाकार किसी का मानसिक गुलाम नहीं बनेगा

रोमाँ रोलाँ प्रगति में विश्वास करता था, रूस के पक्ष में था, फिर भी वह कम्यूनिस्टों की नीति से असहमत था। उसने कलाकार की मानसिक स्वाधीनता के लिए एक शक्तिशाली आन्दोलन उठाया था, जिसमें उसे बड़े विचित्र और बहुत कटु अनुभव हुए।

किसी भी युग का महान् प्रतिभाशाली कलाकार अपने युग की ज्वलन्त समस्याओं की उपेक्षा कर ही नहीं सकता। महान् काव्य की अनुभूति के डोरे कलाकार और साधारण मानव के प्राणों को कभी भी विच्छिन्न नहीं होने देते। किन्तु एक महान् कलाकार में जीवन की गहनतम वेदना, उससे ऊपर उठने की प्यास और चारों तरफ छाये हुए धुँधलके को चीर कर एक सशक्त जीवन दर्शन की मशाल लेकर आगे बढ़ने का साहस होता है। वह जहाँ गायक या लेखक होता है, वहीं वह पैगम्बर भी होता है।

लेकिन एक विशेषता के साथ ! एक कलाकार अपने युग की समस्याओं का जो समाधान देता है वह किसी भी राजनीतिज्ञ के समाधान से ज्यादा गहरा, ज्यादा स्थायी और जीवन की सम्पूर्णता को अधिक समीप से ग्रहण करने वाला होता है। जहाँ राजनीति के सामने केवल तत्कालीन समस्या होती है, उसे हल करने की बेताबी में वह यह भूल सकता है कि वह मानवता के कुछ श्रेष्ठतम सिद्धान्तों का बलिदान कर रहा है जिसका प्रभाव आने वाले युग पर बुरा पड़ेगा, वहाँ कलाकार के सामने मानवता की सांस्कृतिक विकास की अटूट अतीत परम्परा और महान् ज्योतिर्मय भविष्य का प्रश्न भी रहता है। साथ ही वह मानवता के विकास के कुछ उन पहलुओं का महत्त्व भी समझता है, जिसकी ओर राजनीतिज्ञ का ध्यान नहीं जा पाता।

ऐसी स्थिति में अक्सर मानवता के विकास का ही पक्ष लेकर महान् कलाकार को राजनीतिक संकीर्णता के विरुद्ध लड़ना पड़ता है। एक ऐसी ही बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना रोमा रोलाँ के जीवन में हुई। वह अपने समय का महानतम प्रगतिवादी लेखक था। कम्यूनिस्टों और समाजवादी प्रयोगों के साथ उसकी पूरी सहानुभूति थी, रूस का पक्ष लेकर रोमा रोलाँ सदा पाश्चात्य राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ता रहा, लेकिन एक समय आया जब कि कम्यूनिस्ट प्रगतिवादी उसके कन्धे पर चढ़ गये, उसकी जुबान पकड़नी चाही, उसकी निगाहें बाँधनी चाहीं, उसके विचारों पर कब्जा करना चाहा और पंजों से उसकी गर्दन जकड़ ली। अन्त में रूस का पक्ष लेते हुए भी उसे अपने

रचनावली

देश के संकीर्ण प्रगतिवादियों का विरोध करना पड़ा था।

यह घटना हुई थी सन् 1922 के लगभग। प्रथम महायुद्ध समाप्त हो चुका था। रोमा रोलाँ 19वीं शताब्दी का अन्त और 20वीं शती के दो दशकों में मानव जाति की प्रगति को अपनी दूरदर्शिनी आँखों से देख चुका था। पश्चिमी यूरोप की साम्राज्यवादी व्यवस्था किस प्रकार धीरे-धीरे आदमी को बहशी बना रही थी, किस प्रकार आदमी के हाथों में पंजे निकल आये थे, किस तरह उसके होठों में खून की प्यास दिनोंदिन गहरी बैठती जा रही थी, किस तरह दुनिया के वातावरण में एक गहरा, आत्मा को खा जाने वाला अँधेरा छा गया था और उस अँधेरे में आदमी कीड़े-मकोड़ों की तरह एक महान् यन्त्रणा-चक्र में पिसता जा रहा था, यह सब एक ट्रैजेडी के दृश्यों की तरह रोमा रोलाँ के सामने आ रहा था। रोमा रोलाँ अपने युग की समस्याओं के प्रति जितना जागरूक और सचेत था, उतना शायद उस समय का कोई भी कलाकार न था। अपने महान् उपन्यास 'जाँ क्रिस्तोफ' में उसने एक ऐसे कलाकार का चित्रण किया था जिसने 19वीं शती के अन्त और 20वीं शती के प्रारम्भ के क्रूर और अशान्त संक्रान्ति-काल में भी समस्याओं के सामने अपनी जीवन-प्रगति को पराजित नहीं होने दिया था। रोमा रोलाँ के महान् मानववाद के लिए ही उसे नोबेल प्राइज भी दिया गया था।

महायुद्ध समाप्त होने पर उसने देखा कि यूरोप का वातावरण बहुत ही विषाक्त है। वार्साई की सन्धि एक स्थायी सन्धि नहीं थी, वह महज दूसरे महायुद्ध की भूमिका की प्रथम पंक्ति थी। उसी अन्धकार में घुटते हुए युग में रोमा रोलाँ ने सबसे पहले तमाम दुनिया के लेखकों को एक साथ मिल कर एक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति संघ बनाने का आह्वान दिया था। लेकिन उसकी पीठिका स्वरूप उसने एक विचार स्वातन्त्र्य का घोषणापत्र जारी किया था जिस पर सारी दुनिया के 200 से अधिक महान् लेखकों के हस्ताक्षर थे। उस घोषणापत्र में उसने स्पष्ट लिखा था कि–"युद्ध ने बुद्धिजीवियों के संगठन को छिन्न-भिन्न कर दिया है। अधिकतर बुद्धिजीवियों ने अपनी कला, अपना विज्ञान, अपना मस्तिष्क, अपनी सरकार को समर्पित कर दिया है।··· हमको इन समझौतों के बन्धनों से अपनी प्रतिभा को मुक्त कर लेना चाहिए, हमारे लिए यह गुलामी अपमानजनक है। विचार और प्रतिभा किसी के गुलाम नहीं होते··· सिवा विचार के हम अपना स्वामी और किसी को स्वीकार नहीं कर सकते। हम लेखकों का निर्माण ही इसीलिए हुआ है कि हम विचार की ज्योति को, विचार की मशाल को सदा प्रज्वलित रक्खें और जो लोग भी भटक गये हों उनको फिर उजाले की दुनिया में वापस बुला लावें। हमारा कर्त्तव्य है कि अँधेरे में हरहराते हुए आवेशों के तूफानों में हम अपनी मंजिल को ध्रुवतारे की तरह शाश्वत और अटल रक्खें। ··· हम केवल सत्य का आदर करते हैं, केवल सत्य, बिना सीमा, बिना बन्धन और बिना वाद और जाति की संकीर्णताओं के!"

रचनावली

लेकिन वह प्रारम्भ से ही साम्यवाद का हामी था। उसने रूसी क्रान्ति का स्वागत किया था और जिस समय अनातोल फ्रांस वगैरह रूस का विरोध कर रहे थे, नयी सोवियत सरकार के प्रति सशंकित थे, उस समय भी उसने रूस का स्वागत किया था। उसने 1919 में ही लिखा था कि–"अक्टूबर क्रान्ति के योद्धाओं का पथ बिल्कुल ठीक था, यह उन्होंने अपने कार्यों से प्रमाणित कर दिया है।" 1919 के प्रारम्भ में ही प्रसिद्ध समाजवादी कार्यकर्त्ताओं लिबनेखत और रोजा लक्जेम्बुर्ग की हत्या जर्मनी में जिस निर्ममता से की गयी थी उससे वह स्तब्ध रह गया था। रूस में क्रान्ति की सफलता के बाद अमेरिका और इंग्लैण्ड तथा अन्य पाश्चात्य पूँजीवादी प्रजातन्त्रों ने रूस के विरुद्ध एक जहरीला प्रचार शुरू कर दिया और रूस में एक भयंकर अन्न-संकट पैदा कर देने का षड्यन्त्र कर रहे थे। उस समय 26 अक्टूबर 1919 में रोमा रोलाँ ने ला ह्यूमेनिते में लिखा था–"यूरोप के बोर्जुआ मित्रराष्ट्र, जर्मनी तथा कुछ अन्य तथाकथित तटस्थ राष्ट्रों ने जिस तरह रूसी क्रान्ति के विरुद्ध एक शर्मनाक गठबन्धन कर रक्खा है, वह मानवता के प्रति एक घृणित अपराध है। इससे उनकी प्रजातन्त्रवादी नकाब उलट गयी है और अन्दर का घिनौना चेहरा निकल आया है।··· हमेशा से उनका यही काम रहा है।··· पुरानी, विकृत व्यवस्था को उखाड़कर नयी व्यवस्था की स्थापना का वे लोग सदा से विरोध करते रहे हैं, और इसीलिए आज वे हमारे रूसी भाइयों के महान् प्रयास को भी कुचलने में लगे हैं। लेकिन एक नयी दुनिया की प्यास, एक ज्यादा समताशील और मानवतापूर्ण व्यवस्था की प्यास एक अमर प्यास है। हजार बार बुझाने पर भी वह सुनहली लपटों में धधक उठती है।" कम्यूनिज्म के प्रति उसका यह विश्वास बहुत दिनों तक बना रहा। 'कम्यून' पत्रिका ने सभी यूरोपियन लेखकों से एक प्रश्न पूछा था–"आप क्यों और किसके लिए लिखते हैं ?" इसके उत्तर में रोमा रोलाँ ने लिखा था–"मैं किसके लिए लिखता हूँ ? मैं उनके लिए लिखता हूँ जो प्रगति की अभियान-वाहिनी के अग्रदूत हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय मोर्चे पर लड़ रहे हैं, जिनकी विजय उस महान् मानव-राष्ट्र की स्थापना करेगी जो सीमाहीन और वर्गहीन होगा। कम्यूनिज्म ही उस महान् विश्वव्यापी सामाजिक उत्थान की अधिनायक है और बिना किसी स्वार्थ और समझौते के विजय का झण्डा लेकर ऊँचाइयों को जीतने के लिए आगे बढ़ रही है।···" इससे दो वर्ष पहले भी रोमा रोलाँ रूस के प्रति अपनी अगाध ममता प्रगट कर चुका था। ला नूवेल रेव्यू मान्देइल में 1931 में रोमा रोलाँ ने एक लेख लिखा था जिसमें उसने कहा था–"जहाँ तक मेरा सवाल है, मेरा रास्ता साफ है, अगर रूस को किसी प्रकार का धक्का पहुँचता है, तो चाहे कोई भी दुश्मन क्यों न हो, मैं रूस के साथ हूँ। मैं यूरोप के शोषकों का पक्ष लेकर कभी नहीं लड़ूँगा।" प्रोलेटेरियट जनता के लिए उसमें कितना अदम्य उत्साह था, वह जीवन के अभावों और कटुताओं के प्रति कितना ईमानदार था और कितनी गहराई से वह उनके लिए महसूस करता था, यह 1934

के मई दिवस पर लिखे गये उसके लेख से मालूम होता है। उसमें उसने बुद्धिजीवियों को मजदूरों के आन्दोलन में अपनी प्रतिभा को तल्लीन कर देने का आह्वान देते हुए लिखा है–"वे हमारे खून और मांस हैं, उनकी स्वाधीनता और शक्ति हमारी स्वाधीनता और शक्ति है। वे उस वृक्ष के तने हैं, विज्ञान, साहित्य और कला जिसकी डालियाँ हैं। तना कट गया तो शाखें पनप नहीं सकतीं··· प्रोलेटेरियट ! यह मैत्री के लिए बढ़ा हुआ हमारा हाथ है, हम तुम्हारे हैं, हम लोगों के कदम साथ उठने चाहिए, हमारे विभेद खत्म होने चाहिए। मानवता खतरे में है।"

सन् 1927 में भी जब सोवियत रूस खतरे में था रोमा रोलाँ ने रूस की बहुत बड़ी सहायता की थी। इंगलैण्ड ने पहली बार रूस से सम्बन्ध विच्छेद किया था और रूसी प्रतिनिधियों को निर्ममता से निकाल फेंका था। ईरान के तेल के प्यासे राष्ट्रों का रूस के विरुद्ध षड्यन्त्र धीरे-धीरे रूस को चारों ओर से जकड़ता जा रहा था, और मास्को के विरुद्ध एक भयंकर साम्राज्यवादी गुट तैयार हो गया था। अराजक समाजवादी पत्र मास्को के खिलाफ कस-कसकर लिख रहे थे। ऐसी अवस्था में रोमा रोलाँ ने 28 मई 1927 को लिखा–

"मैं यूरोप के समस्त स्वाधीन लोगों को चेतावनी देता हूँ कि रूस खतरे में है, और अगर उसे कुचल दिया गया, तो न केवल दुनिया का सर्वहारा वर्ग ही गुलाम हो जायगा, वरन् सारी दुनिया अपनी जंजीरों से कभी भी छुटकारा नहीं पा सकेगी। ··· रूसी क्रान्ति आधुनिक यूरोप का महानतम सामाजिक प्रयास है। हमें उसकी सहायता के लिए कमर कसकर तैयार हो जाना चाहिए। दुश्मन, साम्राज्यवादी युद्ध, दरवाजे पर है···"

रूस ने रोमा रोलाँ की आवाज में छिपी हुई सच्ची सहानुभूति स्वीकार की। 2 सितम्बर सन् 1927 को रूस में शिक्षा के जन-कमिसर लुनाशर्स्की ने उस अपील का प्रत्युत्तर भेजा–"आपके उत्तर से मालूम पड़ता है कि यथार्थ परिस्थितियों का मूल्यांकन करने में आप उन लोगों से क़हीं ज्यादा सुलझे हुए हैं जो हमारे सहायक होने का दम भरते हैं।··· जो कुछ आपने लिखा है उसे मैं शत प्रतिशत तो स्वीकार नहीं करता; लेकिन आपके राजनीतिक स्वर में ऊँचाई है उसमें एक प्रांजल नैतिक पवित्रता है।"

लेकिन रूस के प्रति इतनी सहानुभूति रखने पर भी रूस की इतनी सहायता करते हुए भी, रोमा रोलाँ को अपने देश से कम्यूनिस्ट प्रगतिवादियों का कड़ा विरोध और गालियाँ सहनी पड़ी थीं और रूस का समर्थन करते हुए भी वह उन प्रगतिवादी लेखकों में अपनी गिनती नहीं कर पाया जो रूस के पीछे आँख मूँदकर चलते थे। उसने अपना वैयक्तिक विचार-स्वातन्त्र्य किसी के भी हाथ किसी भी मोल पर नहीं बेचा और एक मित्र के तौर पर ज़ब कभी उसने रूसी कम्यूनिस्टों की गलतियाँ देखीं तो उनकी आलोचना भी की। लेकिन रूस ने उस निष्पक्ष आलोचना का स्वागत

रचनावली

किया और रोमा रोलाँ की 'राजनैतिक ऊँचाई और प्रांजल नैतिक पवित्रता' का अभिनन्दन किया, जबकि उसी के देशवासी कम्यूनिस्टों ने उस 'नैतिक पवित्रता' का मूल्य न समझ कर रोमा रोलाँ का विरोध किया। मानसिक गुलामी का इससे ज्यादा हास्यास्पद उदाहरण और कहीं नहीं मिल सकता।

विरोध का मुख्य केन्द्रबिन्दु था विचार-स्वातन्त्र्य का प्रश्न। रोमा रोलाँ एक स्वाधीन विचारक बना रहना चाहता था। वह कहता था कि रूस और प्रोलेटेरियट के मित्र होने के नाते जहाँ उसका समर्थन करना हमारा कर्तव्य है, वहीं उसकी आलोचना करना भी हमारा गम्भीर कर्तव्य है। लेकिन मैत्री की तरह सूक्ष्म सहानुभूति, समानाधिकार भावना और ईमानदार आलोचना, सद्‌भावपूर्ण विरोध का महत्त्व उनको समझ में नहीं आ पाता था, जो रूस के मित्र नहीं वरन् 'दिमागी जी हुजूर' थे, और इसी कारण तत्कालीन एक कम्यूनिस्ट लेखक (जिसका नाम भी आज अतल में विलीन हो चुका है) ने बड़ी गन्दी आरोपपूर्ण लेख शृंखला रोलाँ के खिलाफ लिखी। रोलाँ ने उसका जो उत्तर दिया वह विश्व के स्वाधीन विचारशील, सच्चे अर्थों में प्रगतिवादी लेखकों के लिए अभिमान की वस्तु रहेगी।

पहले हम देखेंगे कि इस प्रतिद्वन्द्विता का सूत्रपात कैसे हुआ ? जैसा रोलाँ ने खुद बाद में लिखा—"मैं कभी भी उस तानाशाही और सैद्धान्तिक संकीर्णता की निन्दा करने में नहीं हिचका जिसका आधिपत्य रूसी क्रान्ति में देखकर मुझे दुःख होता था।" यही नहीं वास्तव में रोलाँ कभी भी उस मार्क्सवादी भौतिकवाद में विश्वास नहीं कर पाया था, जिसमें कि आध्यात्मिक साधना का कोई महत्त्व नहीं है। हमेशा से उसकी प्रतिभा एक उच्च आध्यात्मिक सन्देश की प्यास से व्याकुल होकर, जिन्दगी की पर्तों को चीरकर परिस्थितियों से लड़ती आयी थी। वह आत्मा को, विवेक को, विचारों को ही मुक्ति का साधन मानता था। और बाह्य परिस्थितियों का कोई भी परिवर्तन, कोई भी भौतिक क्रान्ति, जो मानव की आत्मा में नया निखार नहीं लाती, जो आदमी की आत्मा पर नयी किरनों के फूल नहीं बिखेरती, जो सितारों की पवित्रता को आदमी के प्राणों पर नहीं उतार सकती, उस क्रान्ति का रोमा रोलाँ के सामने कोई महत्त्व नहीं था।

यदि हम सूक्ष्मता से देखें तो यह मुख्य तत्त्व था, जिसके कारण ऊपर से देखने पर रूस का पूर्ण समर्थन करने वाले रोमा रोलाँ और कम्यूनिस्ट प्रगतिवादी लेखकों में कोई अन्तर नहीं मालूम देता था, परन्तु अन्दर ही अन्दर दोनों में जमीन आसमान का अन्तर था। जहाँ कम्यूनिस्ट प्रगतिवादी, रूस और रूसी क्रान्ति के अन्धानुयायी मानसिक गुलाम थे, वहाँ रोमा रोलाँ एक सन्त योद्धा था, एक गम्भीर विचारक और मानवता का महान् पैगम्बर था जिसकी कलम से आध्यात्मिक सत्यों के पारिजात झरते थे। उसके और कम्यूनिस्टों के दृष्टिकोण में दो ध्रुवों की दूरी थी। वह रूस, क्रान्ति, कला किसी का भी समर्थन तभी कर सकता था यदि वह मानवता के लिए

हो, मानवता की हित-साधना के लिए हो, किन्तु कम्यूनिस्ट प्रगतिवादी के लिए रूस और रूसी क्रान्ति ही सर्वप्रमुख थी, उसके बाहर मानव जीवन के महान् आध्यात्मिक सत्यों के लिए कम्यूनिस्ट प्रगतिवादी की कला और विचारधारा में कोई भी स्थान नहीं था।

रोमा रोलाँ ने कभी मानवता के सामने कम्यूनिस्ट रूस को तरजीह नहीं दी। उसने दोनों का सापेक्ष मूल्य अच्छी तरह से पहचाना था। उसने स्वयं लिखा है–

"1919 के बाद–मैंने केवल क्रान्ति की देवी की पूजा करने के लिए उन देवियों का मन्दिर नहीं छोड़ दिया जिन्होंने अभी तक मुझे साँसों का वरदान दे रक्खा था। वे देवियाँ थीं मानवता और स्वाधीनता की देवियाँ ! कोलास ब्रूगों ने कहा था–'एक ही देवता–बस इतने से तो मेरी पूजा पूर्ण न होगी !' मैं भी क्रान्ति के खीमे के बगल में ही मानवता और स्वाधीनता का खीमा गाड़ने के लिए सन्नद्ध था। मानवता और स्वाधीनता को बड़ी कठिनाई से महायुद्ध की गोलियों से बचाया जा सका था और उन घायल और मरणासन्न सत्यों को मैं पुनः स्थापित करना चाहता था–और आज भी इतिहास यह बतलाता है कि मैं गलती पर नहीं था !"

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया रोमा रोलाँ ने अनुभव किया कि रूस के क्रान्तिकारी धीरे-धीरे सैद्धान्तिक संकीर्णता में उलझते जा रहे हैं। वे विचार-स्वाधीनता की अवहेलना कर रहे हैं और धीरे-धीरे स्वयं रूसी क्रान्ति एक प्रतिक्रियावाद का संकीर्ण पथ ग्रहण करती जा रही है। रोलाँ ने अनुभव किया कि इस समय विचार स्वातन्त्र्य का नारा बुलन्द करने की जरूरत है और मानवता का तकाजा है कि इस तरह की बौद्धिक तानाशाही की पूरी खिलाफत की जाय। स्वयं रोलाँ के शब्दों में–"1921-22 में इस महान् हिंसात्मक मानसिक गुलामी के विरुद्ध मैंने एक अथक लड़ाई छेड़ रक्खी थी। उस समय सभी लोग ऐसे मानसिक उन्माद में फँसे थे कि हिंसात्मक संकीर्णता को न केवल आपद्धर्म मानते थे, वरन् उसे जीवन का ध्रुव शाश्वत सत्य घोषित करने में भी नहीं हिचकते थे। मेरा यह विद्रोह इसलिए और भी तीखा हो गया कि बोल्शेविक दमन और अत्याचार के प्रति स्वाधीन क्रान्तिकारियों का करुणा भरा स्वर वातावरण में भर उठा था। मेरे बहुत विश्वस्त मित्र रूस से लौटकर वहाँ का जो हाल बतलाते थे, उससे मन में बहुत तैश आता था। स्वयं मैक्सिम गोर्की रूस को छोड़कर चला आया था और उसके पत्रों में बहुत कड़वी और उदास निराशा सिसक उठती थी। मैंने विचार-स्वातन्त्र्य का झण्डा और भी मजबूती से फहराने का निश्चय किया··· मैंने जनता और अपने साथी लेखकों के सामने एक ज्वलन्त प्रश्न रक्खा–क्या उनका विश्वास है कि आधुनिक बुद्धिजीवी क्रान्ति के शस्त्रागार में अपना शरीर और अपनी आत्मा दोनों ही समर्पित कर आवे, या अपने मन का सन्तुलन कायम रखते हुए, क्रान्ति का समर्थन करते हुए भी मानवता के प्यार को अपना लक्ष्य माने। अगर क्रान्ति स्वाधीनता की हत्या करती है तो क्रान्ति

रचनावली

का भी विरोध होना चाहिए। अगर क्रान्ति मनुष्य की प्रतिभा को जंजीरों में जकड़ लेती है तो फिर क्रान्ति नव-जीवन की सन्देश-वाहिका न बनकर, केवल एक नये ढंग की प्रतिक्रिया बनकर रह जाती है।" रोमा रोलाँ तो कम्यूनिस्टों की संकीर्णता से बहुत ऊब गया था। रोमा रोलाँ के सामने जितना महान् उद्देश्य था उसको वे मानसिक गुलाम समझ ही नहीं सकते थे। रोमा रोलाँ युग के संघर्ष के घात-प्रतिघातों में से आदमी की आत्मा का सर्वथा नये साँचे में निर्माण करना चाहता था। वह चाहता था कि आदमी की आत्मा अपनी प्रतिभा के पंख पसारकर आकाश में उन्मुक्त विहार कर सके और ऊँचाइयों पर मँडराती हुई, चाँद सितारों को छू ले। वह केवल धरती से नहीं बँधना चाहता था। आदमी महज मिट्टी नहीं है, उसकी नसों में कल्पना की सुनहरी धूप भी लहराती है। रोलाँ चाहता था कि बाह्य और अन्तर का, यथार्थ और अध्यात्म का यह पूर्ण समन्वय हो सके–इसके लिए आवश्यक था कि कलाकार की प्रतिभा को उड़ने के लिए उन्मुक्त आकाश दिया जाय, उसे पींजरों में कैद न किया जाय चाहे वह पींजरा सोने का हो चाहे हँसिया हथौड़े का !–"मेरा विश्वास है," उसने लिखा "रूसी क्रान्ति की सबसे महान् भूल यह होगी अगर वह विचार की स्वाधीनता के विरुद्ध संघर्ष करेगी। स्वाधीनता मानव-स्वभाव की अनिवार्य प्रवृत्ति है, और सृष्टि के आदि दिवस से मानव की प्रगति की मूल प्रेरणा रही है।"

लेकिन कम्यूनिस्टों से मानवता और प्रतिभा से क्या ताल्लुक ? वे लोग तो अपने पार्टी प्रोपेगैण्डा में लगे हुए थे। और जब उन्होंने रोलाँ को चारों ओर से बहुत कसना शुरू किया तो रोलाँ ने उन्हें फटकार दिया–उसने शान से कहा–"मैं प्रोलेटेरियट के साथ हूँ अगर वे मानवता और सत्य का आदर करते हैं, अगर वे मानवता और सत्य की हत्या करते हैं तो मैं उनके भी खिलाफ लड़ने में नहीं हिचकूँगा ··· मैं प्रोलेटेरियट प्रगति के साथ हूँ मगर मैं अपनी आँखों पर पट्टी बाँधकर और अपनी जुबान पर ताला डालकर नहीं आया हूँ। मेरा अधिकार है कि मैं उसकी गलतियों की आलोचना और उसकी हिंसात्मक संकीर्णता की निन्दा करूँ। मैं चाहता हूँ प्रोलेटेरियट आन्दोलन के नेताओं में नैतिक अनुशासन और मानव स्वतन्त्रता के प्रति सहिष्णु श्रद्धा हो।" (10 मार्च ला ह्यूमेनिते)

जब कम्यूनिस्टों ने देखा कि रोमा रोलाँ उनके बैण्ड-दल में शामिल होकर ढोल नहीं बजाता और पैगम्बरी की बातें करता है तो उन्हें काफी तैश आया और अन्त में उनका चक्र घूमा। हेनरी बारबस ने दिसम्बर 1921 में एक लेख लिखा–"कर्तव्य का दूसरा पहलू, रोलाँवाद के सम्बन्ध में !" उसमें बारबस ने रोलाँ की निन्दा मुख्यतया इस आधार पर की थी, कि रोलाँ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अटल सामाजिक नियम को स्वीकार न कर रहस्यवादी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की बात करता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तो महज पलायनवाद और परिस्थितियों से भय का दूसरा नाम है। जिसमें समाज के प्रति उत्तरदायित्व की भावना नहीं होती, वह

वैयक्तिक स्वतन्त्रता की बातें करता है। रोलाँ में एक अजीब किस्म का निराशावाद है और कुछ असम्भव सी बातें करता है। रोलाँ का कहना है कि क्रान्तिकारियों को हिंसात्मक संकीर्णता नहीं अपनानी चाहिए, और स्वतन्त्रता और अहिंसा का समता से और भौतिकता का आध्यात्मिकता से समन्वय होना चाहिए। यह बात बारबस के समझ में ही नहीं आती थी और चूँकि रोलाँ के विचार कुछ स्वतन्त्र से होते जा रहे थे अतः बारबस की राय में रोलाँ ने प्रगतिवादी दल छोड़ दिया था। वह अलग होकर, निरपेक्ष और तटस्थ होकर हाथी दाँत की मीनार में जा बैठा है, जनता के दुःखदर्द से दूर–

रोमा रोलाँ ने बड़े साहस और धैर्य से इस कायरतापूर्ण आरोप का मुकाबिला किया और बारबस को उसके आरोपों के उत्तर दिये। उसमें रोलाँ ने लिखा–"जिसने मेरी कोई भी किताब पढ़ी है वह बता सकता है कि मेरा स्वर एक तटस्थ पलायनवादी का स्वर है या ऐसे आदमी का जिसने अपनी छाती पर जिन्दगी के घाव झेले हैं और उन्हें मिटाने की कोशिश कर रहा है।···

"तुमने लिखा है कि समाज की प्रगति तो रेखागणित की तरह निश्चित है, लेकिन मुझे तुम्हारे इस सामाजिक रेखागणित के सिद्धान्त पर हँसी आती है। मैं उसके काल्पनिक नियमों को अटल नहीं स्वीकार करता और मैं उसके सामने सर नहीं झुका सकता, क्योंकि जहाँ उक्त सिद्धान्त का प्रश्न है, सिद्धान्तों में यह मार्क्सिस्ट सिद्धान्त मानव की सच्ची प्रगति की बहुत कम व्याख्या कर पाता है।

"जहाँ सिद्धान्त के अलावा मार्क्सवाद को कार्यरूप में भी परिणत किया गया है, वहाँ इसमें शोचनीय और भयंकर भूलें तो हुई ही हैं, साथ ही नयी व्यवस्था के नेताओं ने जानबूझकर उच्चतम नैतिक आदर्शों को जिबह किया है। वे आदर्श थे, स्वाधीनता, मानवता और सबसे बढ़कर सत्य ! मैं एक झूठ को दूसरे झूठ से बचने के लिए ग्रहण करना उचित नहीं समझता। फौजी शासन, पुलिस का आतंक और पाशविक हिंसा महज इसीलिए उचित नहीं है कि वह कम्यूनस्टि पार्टी के शासन की स्थापना के लिए किया जाता है।

"फिर मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हम कम्यूनिज्म की सच्ची सेवा उसकी हर सही गलत तरीके से रक्षा करके नहीं वरन् स्पष्टता और सचाई से उसकी आलोचना करके ही कर सकते हैं। कम्यूनिस्टो, स्वतन्त्र विचारक बनाना सीखो ! अपने निर्माण में कमजोरी ढूँढ़ कर उसे निरन्तर सुधारने का प्रयास करते चलो।

"फिर जो आदमी स्वतन्त्र विचार करने का आदी है, उसके लिए यह एक अधिकार ही नहीं, एक कर्तव्य भी है। वह विचार ही क्या जो किसी पूर्व निर्धारित मत को आँख मूँदकर स्वीकार कर ले और अपने नाम को ही निरर्थक कर दे। तब तो वह अन्धविश्वास बन जाता है ! धार्मिक अन्धविश्वास, जातीय अन्धविश्वास और उसी दर्जे का पार्टी अन्धविश्वास ! एक विचारशील आदमी के सामने सवाल

रचनावली

दूसरा रहता है—वह जो अनुभव करता है उसे कहें। या कुछ और कहें। अगर वह और कुछ भी कहे तो वह उसका विचार नहीं रहेगा और इसलिए सत्य नहीं होगा। अगर कम्यूनिस्ट आन्दोलन अपने ढंग से मानवता की सेवा करता है तो विचार स्वातन्त्र्य भी अपने ढंग से कम सेवा नहीं करता !

"तुम कहते हो मेरी रचनाओं में कभी-कभी निराशावाद होता है। मित्र, वह आदमी जो यथार्थ और यथार्थ की गम्भीर परिस्थिति का अनुभव करता है, उसी के स्वर में निराशा होती है। वैसे एक हल्का निस्सार आशावाद उसमें भी होता है जो परिस्थितियों में गहरे पैठ नहीं पाता (लेकिन मेरे एक क्रान्तिकारी मित्र, तुम्हारे परिचित, उनकी आँख में भी मैं आँसू देख चुका हूँ)

"लेकिन बारबस, मैं निराशावादी नहीं हूँ। मैं जानता हूँ कि पेरिस एक दिन में नहीं बना था, न मानवता की मंजिल एक दिन में मिल सकती है। लेकिन वह मिलेगी चाहे युगों बाद मिले, मुझे इसका विश्वास है और मैं प्रतिदिन, बिना निराश हुए उसके लिए अथक परिश्रम करता रहता हूँ।

"मैं प्रगति और विकास का हामी हूँ, प्रोलेटेरियट के संघर्ष का एक ईमानदार सिपाही हूँ, लेकिन कई विषयों में रूस से मेरा गहन मतभेद है। मसलन मैं उस अप्रजातान्त्रिक हिंसात्मक तरीके से नफरत करता हूँ जिसका उपयोग वहाँ जनमत को दबाने के लिए किया जाता है। जेनेवा सम्मलेन के बाद जिस तरह रूस में उन लोगों की दुर्दशा की गयी जो पार्टी से मतभेद रखते थे, वह शायद कम्यूनिस्टों के लिए सबसे नुकसानदेह वस्तु रही है। वे लोग अपराधी थे या नहीं यह मैं नहीं कहता। हरेक राजनीतिक दल अब झूठ बोलने में इतना चतुर हो गया है कि किसी बात पर आसानी से विश्वास नहीं जमता। लेकिन इन बातों से एक चिन्ता और शंका जरूर पैदा हो गयी है, और कम्यूनिस्ट विरोधियों को प्रचार करने का इतना अच्छा मौका मिल गया है, और उन्होंने उसका इतना उपयोग किया है कि अपनी कम्यूनिस्ट सहानुभूति के बावजूद प्रतिभाशाली अनातोल फ्रांस ने रूस को एक निन्दात्मक तार भेजा है।

"तुम इसे हिंसा की अत्यावश्यक सामयिक नीति कहते हो ! इसके हामी कहते हैं कि इसकी विरोधी भावना 'पेटी बोर्जुआ भावुकता' मात्र है। नाम कुछ भी दो, पेटी बोर्जुआ या और कुछ ! लेकिन यह सहानुभूतिपूर्ण भावुकता दुनिया के इतिहास की महान् क्रियात्मक शक्ति रही है, और रहेगी। और यह बुद्धिमानी नहीं कि रूसी क्रान्तिकारी जान-बूझकर ऐसे काम करते रहें कि दुनिया में उनके प्रति सहानुभूति के बजाय सन्देह और शंका पैदा होती रहे। तुमने विचार स्वातन्त्र्य का स्वागत पिस्तौल की गोलियों से किया है और नतीजा यह हुआ है कि दुनिया के महानतम उदार विचारक, जार्ज ब्राण्ड, बर्ट्रण्ड रसल, अनातोल फ्रांस धीरे-धीरे उनके उसी तरह विरोधी होते जा रहे हैं जैसे कोलरिज, वर्डस्वर्थ और शिलर फ्रांसीसी क्रान्ति के विरोधी हो

गये थे। तुम अपनी संकीर्णतावश चाहे इन लोगों का महत्त्व न समझो लेकिन इन्हें खोकर तुम इनके अनुयाायियों की, जनता की कितनी बड़ी संख्या खो रहे हो, इसका तुम अन्दाज नहीं कर सकते। और कहते तुम यह हो कि तुम जनता को प्यार करते हो। इसी वजह से फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति का पतन हुआ था। रूसी क्रान्ति से कह दो कि वह जरा होशियार रहे ! जो मानव-हृदय के महान् तूफानों का मूल्य नहीं समझता वह धोखा खाता है।

"मेरे दोस्त बारबस ! हम सबों का आम दुश्मन एक है, वह है, वह सर्वव्यापी हिंसा जो मानव-समाज को जकड़े हुए है। तुम उस हिंसा के खिलाफ दूसरी संकीर्ण हिंसा का प्रयोग करना चाहते हो। लेकिन याद रक्खो इसका अन्त सिर्फ एक ही होगा—हम सबों का पूर्णतम भौतिक और आध्यात्मिक विनाश।

"लेकिन एक तरीका और है, ज्यादा ताकतवर, छोटे से छोटे और बड़े से बड़े दोनों तरह के लोगों के लिए एक समान ! एक दूसरे देश की जनता इसका सफल प्रयोग कर चुकी है और ताज्जुब है कि फ्रांस में उसका जिक्र भी नहीं होता। यह वह तरीका है जिसे हजारों जागरूक असहयोगी अपने अंग्रेज शासकों के विरुद्ध काम में ला रहे हैं, वह तरीका जिससे गांधीजी भारत में अँग्रेजी हुकूमत की नींव हिलाए दे रहे हैं ! मैं उसको निष्क्रिय प्रतिरोध नहीं कहूँगा क्योंकि वह सत्याग्रह प्रतिरोध का सब से ऊँचा और महान् तरीका है।

"अत्याचारी हुकूमत को अपना किसी भी तरह का सहयोग देने से इन्कार कर देना शायद हमारे युग में साहस और बहादुरी की पराकाष्ठा है। सामने एक विशाल साम्राज्य की प्रलयंकारी ताकत है जो एक आदमी के सीने पर हजारों तोपें लगा सकती है, जो जेल के दरवाजों के पीछे अपने ठण्डे और खूँखार पंजों से आदमी का दम घोंट सकती है, लेकिन एक अकेला व्यक्ति निहत्था और निस्सहाय उस साम्राज्य के विरुद्ध सीना तानकर बहादुरी से खड़ा है ! इसके लिए एक महान् शक्ति की जरूरत है, एक ऐसी महान् बलिदान की ताकत जो तुम्हारी जैसी किसी भी सामूहिक हिंसा में नहीं मिल सकती। इस प्रकार की नैतिक शक्ति असम्भव है, सर्वथा असम्भव, जब तक कि वह मनुष्य के 'हृदय' में न जगे, प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में : वह अन्तःकरण की आग, उस ईश्वर की रहस्यवादी चेतना जो हर व्यक्ति के हृदय में है और जिसने इतिहास की नाजुक घड़ियों में सीधा रास्ता दिखाकर महान् राष्ट्रों को सितारों की ऊँचाई तक उठा दिया है।

"मैं बिलकुल तुम्हारी तरह नहीं सोचता, लेकिन तुम्हें क्या हक है कि तुम यह फरमान जारी कर दो कि जो तुम्हारे विचारों से हरफ-ब-हरफ मेल नहीं खाता, वह क्रान्ति के बाहर है ? क्रान्ति और प्रगति किसी एक पार्टी की बपौती नहीं है। क्रान्ति के महान् ध्वज की छाँह में वे सभी सिपाही खड़े हो सकते हैं जो एक बेहतर और ज्यादा सुखी मानवता के सपनों में डूबे हुए हैं। वही सपना मेरी भी आत्मा

रचनावली

में पल रहा है। लेकिन मैं उस आधीनता के वातावरण में नहीं रहना चाहता जहाँ बोर्जुआ और कम्यूनिस्ट दोनों ही अपना-अपना ढोल कलाकार के गले में बाँधने के लिए सन्नद्ध हैं। इसीलिए मैं अपनी प्रतिभा के वातायन उन्मुक्त रखता हूँ। अगर मेरी साँस घुटती है तो मैं अपनी खिड़की के शीशे भी चूर-चूर कर देने में नहीं पीछे हटूँगा। हम लोगों का दावा है कि हम क्रान्ति और प्रगति के साथ रहेंगे, लेकिन आजाद मानव बनकर रहेंगे।

"अगर तुम स्वतन्त्रता की इस प्यास में महज बोर्जुआ स्वार्थ और वैयक्तिक स्वार्थ ही देखते हो तो मैं कहूँगा कि तुम्हारी आँखों पर इस अधकचरे मार्क्सवाद ने पट्टी बाँध दी है। विचार-स्वातन्त्र्य और वैयक्तिक स्वाधीनता हमेशा से जिन्दगी को आगे बढ़ाने वाली ताकत रही है। अगर तुम उसका विरोध करते हो तो निस्सन्देह तुम्हें उनका समर्थन मिलेगा जिनकी प्रतिभा दिखावटी है, जिनमें कोई नैतिक ईमानदारी नहीं जो केवल यश और प्रतिभा के प्यासे हैं और हर गुदड़ी बाजार में मिलने वाली कायरता से जिनकी आत्मा का गठन हुआ है। लेकिन जो सचमुच विचारशील हैं, प्रतिभाशाली हैं वे तुम्हारे विरोधी होंगे, जरूरत पड़ेगी तो वे शहीद भी होंगे। लेकिन याद रक्खो उनकी शहादत से उनके दमन से, उन पर किये गये अत्याचारों से एक नया विश्वास उठेगा। ठहरो ! सोचो ! इस आग से मत खेलो कम्यूनिस्टो, यह आग तुम्हें खा जायगी !"

रोमा रोलाँ का दर्द और आग के अक्षरों में लिखा गया यह पत्र मानव-साहित्य की तवारीख में अमर रहेगा। रोमा रोलाँ के मन में आदमी के लिए सच्चा दर्द था, पूँजीवादी व्यवस्था जिस तरह आदमी को धीरे-धीरे निःसत्व कर देती है, कर रही थी, जिस तरह आदमी के आँखों की रोशनी बुझ गयी थी और मानव-संस्कृति एक प्रेतच्छाया की तरह युद्ध-ध्वस्त धरती पर, मुर्दों के सीनों को कुचलती हुई अँधेरे में भटक रही थी, आसमान से खून और हड्डियाँ बरस रही थीं और जमीन पर मुर्दों की कराह सिसक रही थी, और रोशनी की किरनों में अमृत नहीं रह गया था, वह जहरीली नागिनें बनकर आग उगल रही थीं—ऐसी परिस्थिति में रोमा रोलाँ भटक गया था, उसे रूसी क्रान्ति से थोड़ा सहारा और भरोसा मिला, लेकिन जब उसने देखा कि उस पर भी खून सवार होता जा रहा है, वह भी तानाशाही का स्वर अपना रही है तो उसे बहुत निराशा हुई। स्वदेशी कम्यूनिस्ट "दिखावटी प्रतिभावाले, नैतिक ईमानदारी से शून्य, यश और प्रतिष्ठा के लालची और जिनकी आत्मा में गुदड़ी बाजार की कायरता का भूसा" भरा हुआ था। (दुर्भाग्य से अधिकतर देशों के स्थानीय कम्यूनिस्ट विचारक ऐसे ही होते हैं, महान् सोवियत कम्यूनिज्म के माथे पर गन्दे कलंक।)

रोमा रोलाँ को उस महान् संक्रान्ति काल में कोई भी रास्ता नजर नहीं आ रहा था। अगर कम्यूनिज्म ने भी तानाशाही का रुख अख्तियार कर लिया तो वह

भी महज एक प्रतिक्रियावाद बन कर रह जायगी। क्रान्तिकारी कम्यूनिस्ट अब केवल संकीर्ण सिद्धान्तवादी और हिंसात्मक तानाशाह बनते जा रहे थे। ऐसा लगता था कि इस प्रयोग में भी अब एक एकांगिता आती जा रही थी।

उसी समय महात्मा गांधी ने भारतीय राष्ट्र का संगठन कर अहिंसात्मक सत्याग्रह का आह्वान दिया। गांधीवाद कोई नया वाद नहीं था। भारतीय संस्कृति की महान् परम्परा में जो कुछ भी महानतम सत्य है उसका सार और नयी परिस्थितियों के आधार पर उनकी नयी, सशक्त और क्रियात्मक व्याख्या ही गांधीवाद था। रोमा रोलाँ को इस भारतीय जीवन-दर्शन में उन सभी अभावों का निराकरण मिला, उन सभी समस्याओं का समाधान मिला जो उसकी आत्मा में दीमक की तरह लग गये थे और जिन्हें कम्यूनिज्म हल नहीं कर पाया था।

स्वयं रोमा रोलाँ ने लिखा है–"वह महान् प्रभाव जिसने मेरी आत्मा को उन दिनों आच्छादित कर लिया था, वह था महात्मा गांधी का प्रभाव··· टैगोर की मित्रता, सर जगदीश बोस की मित्रता, कालिदास नाग और लाला लाजपतराय से मुलाकातें, भारतीय मित्रों से पत्र-व्यवहार और बंगाल की भारतीय राष्ट्रीय पत्रिकाओं का अध्ययन, इन सबों से धीरे-धीरे मेरे सामने भारत की आत्मा का महान् रहस्य खुलता जा रहा था।

"लेकिन फिर भी रूसी क्रान्ति का महत्त्व मेरे सामने स्पष्ट था। जिस महान् कार्य में रूस के लोग लगे हुए थे मैं उसका महत्त्व समझता था। मैंने आग का पानी के साथ समझौता कराना चाहा, मास्को की प्रतिभा से भारत की आत्मा का समन्वय कराना चाहा··· किन्तु मैं असफल हुआ !"

जहाँ एक ओर वह समाजवादी से भारत की अहिंसा और वैष्णवता का समन्वय चाहता था, वहीं रोमा रोलाँ फ्रांसीसी क्रान्ति की व्यक्ति-स्वतन्त्रता का भी समन्वय समाजवाद से करना चाहता था। उससे कई वर्ष बाद मार्च 1931 में मास्को के 'लितरातो उइनाया गजेटा' में फेडोर ग्लैडकाव और ईलिया स्लेविन्स्की के नाम एक खुले पत्र में लिखा था–"तुम समझ नहीं पाते कि मैं व्यक्तिवादी हूँ और फिर भी कहता हूँ कि मानवता को प्यार करता हूँ।··· मेरे दोस्तो, यह सच है। मैं व्यक्तिवादी हूँ, मैं मानवतावादी हूँ और यह व्यक्तिवादी, यह मानवतावादी तुम्हारे लिए लड़ रहा है।···

"तुम ईलिया स्लेविंस्की, कहते हो कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कभी नहीं रही। परिस्थितियाँ, समाज हमेशा हावी रहा, बुद्धिजीवी कभी स्वतन्त्र नहीं रहा।" लेकिन मेरा खुद जीवन इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। मैं जो कुछ हूँ, मैंने जिस लक्ष्य को उठाया, जिस दिशा को प्यार किया, यह दुनिया उस सब की दुश्मन थी, लेकिन उसमें भी मैं आजाद रहा, हमेशा आजाद रहा। जो अपनी आत्मा की आजादी के लिए सब कुछ होम कर देने को तैयार है, उसकी आत्मा बन्धन में नहीं रह सकती।

में इस आजादी को बरकरार रक्खूँगा, अपनी मौत तक बरकरार रक्खूँगा।

"तुम मुक्त हो, तुमने एक विनाशकारी व्यवस्था से मुक्ति पा ली है, तुम अपने भाग्य का स्वयं निर्माण कर रहे हो! मैं तुम्हारे खीमे में विचार स्वातन्त्र्य और मानवता की पवित्र ध्वजाएँ स्थापित कर रहा हूँ। उनसे दूर न हटो। उन पर गर्व करो!"

रोमा रोलाँ के इस साहसी रुख का रूस के महान् उदार विचारकों ने समर्थन किया। लुनाशर्स्की के पत्र का उद्धरण हम पहले ही दे चुके हैं। गोर्की ने भी सेण्ट ब्लेरियन से रोमा रोलाँ को लिखा, (पत्र रशियन में थे, उसका फ्रांसीसी अनुवाद आर. एब्रेमाफू ने किया था)–"बारबस के नाम तुम्हारा पत्र बहुत ही अच्छा है। मुझे बेइन्तहा खुशी है, इस बात पर कि बौद्धिक पक्ष में मैं तुमसे पूर्णतया सहमत हूँ! तुम्हारे विचार जो मेरे लिए अमूल्य हैं, जिन्हें मैं प्यार करता हूँ, उन्हें मैं बराबर पिछले कई वर्षों से अपने देशवासियों के सामने रखता आया हूँ।··· हमको चाहिए कि हम अपनी विचारधारा के कुछ अन्य लोगों को ढूँढ़ें, और सम्भव है कि हम लोग एक साथ मिलकर अपने विरोधियों को यह समझा सकें कि अपनी आलोचना उनके लिए भी उतनी ही आवश्यक है जितनी हमारे लिए!"

गोर्की महान् साहित्यिक था। उसके सामने पार्टी के बजाय मानवता का महत्त्व ज्यादा था, इसीलिए उसने रोमा रोलाँ को समझा। लेकिन फ्रांस के कम्यूनिस्ट लेखक गुटबाजी और दलबन्दी के उपासक थे और इसलिए उन्होंने रोलाँ के विरुद्ध उन नीच हथकण्डों का आश्रय लिया, जो हर देश के कम्यूनिस्ट प्रगतिवादी अपनाते हैं। रोलाँ स्वयं लिखता है–"हम लोग अपने को स्वाधीन कहते थे, इस संज्ञा का वास्तविक अर्थ न समझकर कम्यूनिस्टों ने अपने प्रचार में हमें जिस तरह बदनाम करना शुरू किया, उससे मेरे स्वर में धीरे-धीरे एक तीखी कड़ुआहट आ गयी। मैं बराबर इस बात के लिए सचेत रहता था कि वे मेरे नाम का किस तरह दुरुपयोग कर रहे हैं। अपने प्रकाशनों में, अपीलों में, वक्तव्यों में वे मेरे विचारों पर गलत रंग चढ़ाकर रखते थे और मुझे कभी भी सूचना तक नहीं देते थे। जिन दिनों, मार्च 1927 में, मैं स्विटजरलैण्ड में था, मुझे बिना बताये, वे इस सीमा तक नीचता पर उतारू हो गये कि एक स्विटजरलैण्ड विरोधी लेख का उत्तरदायित्व झूठ-मूठ के लिए मुझ पर थोप दिया।"

इस तरह से नीच प्रतिहिंसापूर्ण हथकण्डों से हिन्दोस्तान वाले भी अपरिचित नहीं हैं। भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ से शिवदानसिंह चौहान का निर्वासन और अब उन्हें बदनाम करने का 'व्हिस्परिंग कैम्पेन' सभी जानते हैं, पन्तजी पर भी कम्यूनिस्ट प्रगतिवादी अब रह-रहकर कीचड़ उछालते रहते हैं। राहुलजी की घटना तो सबसे ज्यादा दुखद रही है। उस महान् व्यक्ति के विचार-स्वातन्त्र्य का उचित सम्मान करने के बजाय, उसके सहयोग से किसी महान् रचनात्मक दिशा में बढ़ने के बजाय कम्यूनिस्ट प्रगतिवादियों ने राहुलजी की निन्दा का 'सांस्कृतिक मोर्चा' ही

खोल दिया है। यह इन मानसिक गुलामों की आन्तरिक खीज का एक अच्छा खासा हास्यास्पद रूप है।

इस प्रवृत्ति के सब से अन्तिम शिकार हैं श्री रांगेय राघव जो कल तक कम्यूनिस्ट लेखकों में अग्रणी माने जाते थे। मई के हंस में डा. रामविलास शर्मा ने उनकी छायावादी प्रवृत्तियों से नाराज होकर उनकी धज्जी उड़ा डाली है।

रोलाँ को भी इसका मुकाबला करना पड़ा। इन संकीर्ण कम्यूनिस्ट प्रगतिवादियों का विरोध करते हुए भी उसने रूसी क्रान्ति और महान् समाजवादी प्रयोग के विरुद्ध अपने मन में किसी प्रकार की अनुदारता नहीं आने दी, और मानवता के प्रति प्यार की जो अखण्ड ज्योति उसकी प्रतिभा के आँचल में झिलमिला रही थी, उसे उसने कहीं से भी मलिन नहीं होने दिया। वह कम्यूनिस्ट संकीर्णता का विरोध करेगा लेकिन प्रतिक्रियावादी नहीं बनेगा, क्रान्ति का रास्ता नहीं छोड़ेगा। मानवता का प्यार नहीं भूलेगा, वह जिन्दगी के संघर्ष के सामने हथियार नहीं रक्खेगा, वह आगे बढ़ेगा चाहे कल के क्रान्तिकारी भी आज उसका साथ छोड़ दें, चाहे दुनिया में वह बिलकुल अकेला हो, लेकिन महान् विद्रोही लेखक के जीवन का मूल मंत्र होता है—

यदि तोर डाक शुने केउ न आसे
तबे तुमि एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे !

और रोलाँ के जीवन की इस घटना से, इस अन्तर्द्वन्द्व से तुम्हें कुछ सीखना है। क्या हुआ अगर तुम अकेले हो, क्या हुआ अगर रास्ता कठिन है और सभी साथी पीछे थककर बैठ गये हैं, क्या हुआ अगर सामने अँधेरा है? तुम्हें आगे बढ़ना ही है। तुम्हारे पास कलम है, तुम्हें तुम्हारी कलम की कसम है कि तुम हार नहीं मानोगे, तुम जिन क्रान्तिवादी प्रगतिशीलों के लिए दोस्ती का हाथ बढ़ाते हो, अगर वे भी तुम्हारी पीठ में छुरा भोंकते हैं तो भी तुम्हें अपने मन के प्यार को विशृंखल नहीं होने देना है, तुम्हें अपना सन्तुलन नहीं खोना है, तुम्हें अपने विद्रोह में प्रतिक्रिया नहीं आने देनी है; दुनिया में जहाँ कहीं भी मानवता की प्रगति का महान् प्रयोग हो रहा है, जो कोई भी वह महान् प्रयोग कर रहा है, इतिहास के जिस क्षण में भी वह महान् प्रयोग हुआ है तुम्हें उस राष्ट्र, उस व्यक्ति, उस क्षण के सामने श्रद्धानत होना है चाहे वह रूस हो या चीन, फ्रांस हो या अमेरिका, गांधी हो या लेनिन, गोर्की हो या पन्त, रूसी क्रान्ति हो या भारतीय असहयोग ! लेकिन अगर कोई भी ताकत है जो तुम्हारी प्रतिभा को कठपुतलियों की तरह डोरा बाँधकर नचाना चाहती है तो तुम मरते दम तक उसका विरोध करोगे, चाहे वह पूँजीवादी तानाशाही हो या कम्यूनिस्ट दलबन्दी। तुम निर्माता हो, तुम्हारी कलम मानवता के विजय का इतिहास लिख रही है—तुम मानसिक गुलाम नहीं बनोगे ! नहीं बनोगे ! नहीं बनोगे !!

रचनावली

तरुण कलाकारों से :

113496

हम, हमारी पीढ़ी मानवता की महान् यात्रा की एक कड़ी हैं। मगर हमने उस वक्त अपनी आँखें खोली हैं, उस वक्त अपने कदम उठाये हैं, उस वक्त अपनी आवाज बुलन्द की है जब पुरानी दुनिया ठीक तौर से मर भी नहीं पाई है और भविष्य के गर्भ में नयी दुनिया के ढाँचे पर अभी मांसलता नहीं दौड़ पाई है। अभी नयी दुनिया का सपना साकार होने में बहुत देर मालूम पड़ती है। हमारे पीछे वह रोशनी है जो मद्धिम पड़ रही है, हमारे सामने वह सूरज है जो क्षितिज की पर्त को तोड़कर अभी चमक नहीं.पाया है। हमारे पीछे एक लम्बी परम्परा है जो आज अपनी ताकत, अपनी जवानी, अपना विकास खो चुकी है, वह संस्कृति है जिसने अपनी आँखें उलट दी हैं, जो उल्टी साँसें ले रही है। हमारे आगे वह दुनिया है जिसकी नींवें खुद चुकी हैं मगर उनके लम्बे गहरे खड्ड प्यासी आँखों से हमारी ओर देख रहे हैं कि हम उनमें ईंटें चुन सकें। हमारे हाथ में कलम है, हमारे मस्तक पर प्रतिभा का प्रकाश है, हमारी साँसों में विद्रोह की तेजी है, हमारी पलकों में निर्माण का सपना है, हमारे हृदय में प्यार का अमृत है।

भविष्य कहता है–अपने साँसों के विद्रोह से प्राचीन को ध्वस्त कर दो। अतीत अपनी बूढ़ी और शान्त, मगर डबडबाई निगाहों से हमारी ओर देखकर कहता है–भूलो मत मैंने तुम्हें बनाया है, तुम्हें बनाने के लिए मैं मिट गया हूँ। क्या मेरे जीवन-दान का इतना मोल भी नहीं कि तुम अपने प्यार की एक बूँद मुझे दे सको ? मुझे नष्ट कर तुम कौन सा आधार ढूँढ़ोगे अपने कदम टिकाने के लिए ?

युग मिट रहे हैं, युग उठ रहे हैं। स्वर्ग के नन्दन की छाँह में पुराने देवताओं की लाशें पड़ी हैं, और खेतों खलिहानों में, हरियाले कुंजों में नये देवता झाँक रहे हैं। मानव रिक्त भी हो चुका है, युद्ध, अकाल, अनैतिकता, संघर्ष ने उसके जीवन का रस भी चूस लिया है, लेकिन उसके कंकाल उठकर फिर धरती का खून पोंछ-पोंछकर नयी पगडण्डियाँ बना रहे हैं। एक इतिहास मर रहा है–दूसरा इतिहास अभी लिखा नहीं गया···मानवता का यह संक्रान्ति-काल है। नक्षत्र एक आकाश से

दूसरे आकाश में प्रवेश कर रहे हैं, धरती एक युग से दूसरे युग में प्रवेश कर रही है।

हम संक्रान्ति-काल के कलाकार स्तब्ध हैं। एक ओर अतीत अपने बूढ़े हाथों से हमारी कलम पकड़ता है दूसरी ओर अन्धकार में से अनोखी अजनबी दुनिया की मीठी आवाजें लहराती हुई आ रही हैं। एक कहता है भविष्य केवल झूठी कल्पना है, दूसरा कहता है अतीत एक गुजरी हुई शर्मनाक कहानी है जिसे आदमी भूल जाय तो अच्छा है। हम संक्रान्ति-काल के कलाकार अतीत को नहीं ठुकरा सकते, क्योंकि उसके बिना हम निराधार हैं। हम भविष्य की आवाज अनसुनी नहीं कर सकते क्योंकि वह सत्य की आवाज है, हमारे अस्तित्व की आवाज है। भविष्य और अतीत और सभी बातों में अलग हैं। वे केवल एक बात में एक हैं—वह कलाकार से समानरूप से असन्तुष्ट हैं। कलाकार को दोनों की लांछना सहनी पड़ती है। अतीत उस पर प्रगतिवादी होने का दोष लगता है, भविष्य प्रतिक्रियावादी होने का।

लेकिन हमें हमारी कलम, हमारी प्रतिभा, हमारी ईमानदारी की कसम है कि इन दो भयानक तूफान के पाटों के बीच में पिसकर भी हम अपनी निगाहों को धुँधला नहीं पड़ने देंगे। हम सत्य और कला के गुलाब को पतन और पलायन के कीचड़ में नहीं फेंकेंगे। लांछना, अपमान, आक्रोश, हरेक, संक्रान्ति-कालीन कलाकार के भाग्य में होता है।

लेकिन हम यह नहीं भूलेंगे कि संक्रान्ति-काल में पैदा होना कलाकार की सबसे बड़ी परीक्षा है। दुनिया हमें दो युगों के दानवों के बीच में उलझाकर हमारे साहस की परीक्षा लेती है। हम यह नहीं भूल सकते कि जो संक्रान्ति-काल में पैदा होता है उसी के भाग्य में निर्माता बनना लिखा होता है। और जिसके भाग्य में निर्माता बनना लिखा होता है, वही दो युगों के संघर्ष के बीच में से अपने सन्देश को एक पवित्र थाती की तरह सहेज कर, सम्हाल कर ले जाता है। हम कलाकारों का कितना बड़ा भाग्य है कि हम उस वक्त पैदा हुए हैं जब आदमी को हमारी सबसे बड़ी जरूरत है। ध्रुवतारे उसी वक्त उगते हैं जब न दिन पूरी तरह मुँद पाता है, न रात पूरी तरह खिल पाती है।

एक तरफ सड़ी-गली जर्जर रूढ़ियाँ हमें आगे बढ़ने से रोकना चाहती हैं, दूसरी ओर एक संकीर्ण मतवाद है जो हमारे मंजिल की ऊँचाई छीनना चाहता है। एक ओर रूढ़िवाद है जो प्रगति से घबराता है, दूसरी ओर संकीर्ण प्रगतिवाद है जो प्रगति के नाम पर हमें नयी रूढ़ियों में जकड़ना चाहता है। आदमी दो असत्यों के बीच में लुट रहा है। एक पुराना असत्य है, एक नया असत्य ! एक ओर कमजोर, कल्पनावादी प्राचीन रूढ़िवाद है, दूसरी ओर संकीर्ण, क्षुद्र भौतिकवाद ! दोनों गलती के दो ध्रुवों पर हैं।

हम निराश होते, अगर हम यह समझते होते कि आदमी की गति थम गयी

रचनावली

है, आदमी के हृदय में अब स्पन्दन नहीं है। लेकिन हम देखते हैं कि सदियों की थकावट के बाद भी आदमी नयी जमीनें तोड़ रहा है, नयी दिशाएँ खोज रहा है, और कदमों में आकर उलझने वाली संकीर्णताओं के बन्धन से अपने को मुक्त करता चल रहा है। अभी आदमी की निगाहों में तेजी है, कदमों में हरकत है, नसों में जिन्दगी है और क्षितिज पर एक सितारा है जो बराबर कह रहा है अभी स्वर्णयुग आने को है!

उसी के भरोसे हम आगे बढ़ते हैं। मानव हमारा देवता है, हमारा उपास्य है, हमारा ईश्वर है! मार्क्स हों या ईसा, लेनिन हों या गांधी, सभी मानवता की जयमाल में गुँथनेवाले गुलाब हैं, और हम हरेक का तबस्सुम, हरेक का सौरभ स्वीकार करने के पक्ष में हैं, मगर किसी की सीमा में बँधना नापसन्द करते हैं। मार्क्स हों या ईसा, दोनों से बड़ा मानव है। उपनिषद हो या कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो, मानव-जीवन का सत्य दोनों से बड़ा है।

मानव-जीवन का सत्य एक किरण है, कला इन्द्रधनुष, जिसमें मूल सत्य अनेक रंगों में खिल उठता है। कहीं वह कल्पना है, कहीं यथार्थ, कहीं ट्रैजेडी, कहीं कामेडी, कहीं आँसू, कहीं हँसी, कहीं अन्तर्विरोध, कहीं समन्वय! मानव-जीवन के सत्य को एक शैली, एक रूप, एक सम्प्रदाय, एक मजहब या एक वाद में बाँधना हास्यास्पद है। जब आदमी निर्माण में अपनी भुजाएँ फैलाता है तो यह बन्धन टूट जाते हैं।

लेकिन मानव-जीवन एक स्थिरता नहीं वह एक गतिशील, प्रवहमान सत्य है। युग की सापेक्ष स्थिति में उसे समझना होगा, लेकिन हम यह नहीं भूल सकते कि मानव एक इकाई है, उसे अतीत और वर्तमान में; कालों, या वर्गों की सीमाओं में बाँटना न केवल गलती है, वरन् पाप है। साहित्यकार का कर्तव्य है अतीत और वर्तमान, इस वर्ग और उस वर्ग का विभाजन मिटाकर सहज मानवता के व्यापक सत्य की प्रतिष्ठा करना।

आध्यात्मिक साधना को वैराग्य के भ्रम से हटा कर एक सक्रिय क्रान्तिकारी जीवन-दर्शन में बदलना होगा। मार्क्सवाद की संकीर्णता का परिहार कर उसे एक व्यापक राजमार्ग बनाना होगा। जो लोग मानवता के प्रति मार्क्स की महान् देन को बिना समझे हुए मार्क्सवाद को गालियाँ देते हैं वे नासमझ हैं; जो लोग मानव-जीवन के उच्च आध्यात्मिक सौन्दर्य के अस्तित्व से इन्कार करते हैं, वे लोग अभागे हैं।

हमें वर्ग-विभाजन, भूख, अभाव, गरीबी के खिलाफ लड़ाई लड़नी है, इसलिए नहीं कि अमीरों की थाली की आधी रोटियाँ हम गरीबों के सामने जूठन की तरह डाल दें। बल्कि हमें मानवता की आत्मा को भूख और अभाव के पैशाची पंजों से इसलिए छुड़ाना है ताकि वह आध्यात्मिक सौन्दर्य के बादलों तक अपने पंख पसारकर उड़ानें भर सके।

लेकिन हम स्पष्ट कहते हैं कि हम अपनी अनुभूति और अपनी आत्मा के अलावा किसी भी पार्टी का अनुशासन मानने के लिए तैयार नहीं। हमें अपनी आदमीयत

पर विश्वास है, हमें अपनी ईमानदारी पर भरोसा है, सत्य के प्रति, मानव के प्रति अपनी पूजा भावना पर यकीन है। हम अपना रास्ता खुद ढूँढ़ना पसन्द करेंगे। हम युग के निर्माता हैं, युग के पैगम्बर हैं, युग के चारण नहीं। राजनीतिक पार्टियाँ सत्ता की प्यासी होती हैं, हम सत्य के प्यासे हैं।

दुनिया की महान् संस्कृतियाँ वह प्रयोग हैं जो मानव जाति के सामूहिक आत्मा ने सत्य की खोज में किये थे। पूँजीवादी संस्कृति आज असफल साबित हुई है। संकीर्ण मार्क्सवाद तो क्रान्ति के बाद स्वयम् रूस में ही दो कदम भी नहीं चल पाया। सोवियत रूस की संस्कृति आज मार्क्सवाद की सीमाएँ पार कर गयी है। वह एक व्यापक भूमि पर खड़ी है। उसने मार्क्सवाद की नयी व्याख्या की है। हम उस व्याख्या से पूर्णतया सहमत न हों लेकिन उसके पीछे एक स्वतन्त्र और महान् राष्ट्र की ईमानदार आत्मा है, इसीलिए वह हमारे देश के संकीर्ण प्रगतिवाद के मुकाबले में कहीं ज्यादा शक्तिशाली है और सत्य के बहुत समीप है।

मगर आदमी की अन्तर्जगत की जिंस साधना की ओर स्टीफेन स्पेण्डर ने संकेत किया है, सोवियत रूस भी जिस ओर बढ़ रहा है, उसका समाधान, मन और आत्मा का वह समाधान उसे मार्क्सवाद में नहीं मिलेगा। वह समाधान उसे कहीं और मिलेगा। वह समाधान उसे भारत में मिलेगा !

हम उस महान् संस्कृति के उत्तराधिकारी हैं जिसने महान् आध्यात्मिक सत्यों की खोज की थी, जिसने मानव की आत्मा में स्थायी सौन्दर्य के सितारे खिलाने की योजना बनायी थी, जिसने युगों के मन्थन के बाद अध्यात्म का अमृत खोज निकाला था। मार्क्सवादी पद्धति से बाह्य संसार बदल देने के बाद भी आदमी के मन की दुनिया बदलने के लिए हमें कृष्ण की वंशी और कामायनी के मनु का आह्वान करना होगा।

मानव जीवन के आर्थिक पहलू का साम्यवादी पद्धति से निर्माण करने का जो विरोध करता है वह मानवता से विश्वासघात करता है। वह जहरीले पूँजीवाद के हाथ में खेलता है। लेकिन जो केवल आर्थिक साधनों से आदमी की आत्मा को तौलना चाहता है, जो उच्च आध्यात्मिक सौन्दर्य से आदमी को वंचित करना चाहता है वह सत्य से विश्वासघात करता है।

युग केंचुल बदल रहा है। मगर डरने की कोई बात नहीं। कलाकार को हर तरह की संकीर्णता, हर तरह के रूढ़िवाद के प्रति विद्रोह करना है। आज का कलाकार दांते और गेटे, बाल्जक और ह्यूगो, डिकेन्स और शेले, टाल्स्टाय और डास्टावस्की, कबीर और तुलसी का प्रतिनिधि है। विद्रोह और सत्य की वह अग्निशिखा उसे पीढ़ियों से मिली है और अपने को खतरे में डालकर उसे वह अग्निशिखा भविष्य के अन्धकार में स्थापित करनी है।

क्षणिक प्रशंसा या राजनीतिक प्रलोभन जिस कलाकार के कदम डगमगा देते हैं उसकी कला को समय का अजगर निगल जाता है। हमें स्थायी निर्माण करना

रचनावली

है। हम हिन्दी के कलाकार हैं। हिन्दी उस महान् जाति की भाषा है जिसका जन्म ही विद्रोह की घड़ियों में हुआ था। हिन्दी उस महान् देश की भाषा है जिसमें ईश्वर को भी मानव बनना वदा था। हिन्दी उस सांस्कृतिक परम्परा की आवाज है जिसकी गोद में महान् सत्य अनादि काल से पलता रहा है, वह सत्य जो बँधा हुआ, गतिरुद्ध सत्य नहीं था, जो प्रवहमान मानवता के साथ सन्तुलन करना जानता था।

सोवियत क्रान्ति ने मानवता को आगे बढ़ाया। भारत में क्रान्ति आनेवाली है वह सर्वतोमुखी होगी। केवल आर्थिक नहीं, वह सांस्कृतिक और आध्यात्मिक क्रान्ति होगी। उस क्रान्ति के बाद आदमी की आत्मा में पूर्णता मुस्करानेवाली है। उस क्रान्ति की भाषा हिन्दी होगी। उस आगे आनेवाले पूर्ण मनुपुत्र की अभिव्यक्ति हमारे साहित्य में होगी।

लेकिन क्या हमने अपनी भाषा, अपने साहित्य को उस महान् भविष्य के लिए तैयार किया है ? हम सस्ते प्रचार, गन्दी दलबन्दियाँ, क्षुद्र गुटबाजी और छिछले गाली-गलौज में फँसे हुए हैं। प्रगतिवादी हो या अ-प्रगतिवादी, सत्य को कोई नहीं समझना चाहता। शायद सत्य को समझने का किसी में साहस नहीं, क्योंकि सत्य दोनों की संकीर्णताओं का विरोध करता है।

लेकिन हम तरुण कलाकार हैं। तरुणाई निष्पाप होती है, निष्पक्ष होती है, निष्कलंक होती है। तरुणाई में आग की सुनहरी लपटों की पवित्रता होती है। जिस सत्य को हमारे पूर्वाधिकारी नहीं ग्रहण कर पाये उसे हम अपनी निगाहों के भोलेपन में समेट लेंगे।

हमारे सामने भ्रम का कोहरा हो, विरोध के काँटे हों, असुविधाएँ हों, सम्भव है कि सुकरात की तरह हमें जहर का प्याला पीना पड़े, लेकिन हम मरेंगे नहीं। हम उस संस्कृति के राजकुमार हैं जहाँ वरदानी शिव ने जहर पीकर अमरता जीती थी।

हमें मानवता से प्यार है। हमारी निगाहें क्षितिजों की सीमा के परे देखती हैं, हमारे कदमों ने सूर्य से जलन छीन ली है, हमारी साँसों ने आकाश से तूफान छीन लिए हैं, हमारी नसों में जिन्दा सितारे काँप रहे हैं, और बिना डरे हुए सत्य का सम्बल लेकर हमें अकेले बढ़ना है–नये तबस्सुम की ओर जहाँ आदमी की आत्मा पर सत्य का संगीत जगमगाता है !

रचनावली

रचनावली

परिशिष्ट

सोवियत साहित्य में वैयक्तिक चरित्र-चित्रण और मनोविज्ञान

हमने पीछे "क्या व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं ?"—नामक अध्याय में यह बतलाया है कि पहले सोवियत कथा-साहित्य में चरित्रों की वैयक्तिकता की पूर्ण उपेक्षा कर दी गयी थी और केवल जनता और जन-भावनाओं को ही उपन्यासों का मूल आधार स्वीकार कर लिया गया था। लेकिन बाद में सोवियत साहित्यकारों ने चरित्रों की वैयक्तिकता का महत्त्व पहचाना और साथ ही उनके अन्तर्जगत के चित्रण की दिशा में भी उन्होंने अपनी प्रतिभा को मोड़ा। इस सम्बन्ध में हम प्रिश्विन का महत्त्वपूर्ण उद्धरण भी दे चुके हैं।

इधर इस विषय में एक और महत्त्वपूर्ण वक्तव्य आया है। कुछ अंग्रेजी लेखकों ने कुछ प्रश्न सोवियत लेखकों के पास सोसायटी आफ कल्चरल रिलेशन्स के माध्यम से भेजे थे। उसमें से एक प्रश्न था श्रीमती सैसिल चेस्टरटन का, "क्या यह कहना उचित है कि आधुनिक सोवियत उपन्यास मुख्यतया जन-मनोविज्ञान से सम्बद्ध है, या वैयक्तिक मनोविज्ञान की ओर भी झुकाव बढ़ रहा है ?" इसके उत्तर में एक सोवियत लेखक इगोर साट्ज ने जो कुछ कहा वह बहुत महत्त्वपूर्ण है—"सोवियत साहित्य और विशेषतया सोवियत उपन्यास जन-मनोविज्ञान (मास साइकालॉजी) और व्यक्ति मनोविज्ञान के बीच किसी भी अन्तर्विरोध की भावना से सर्वथा अपरिचित है। 'मानव का रूप जनता का ही रूप है, बस' यह विचार तो प्रथम महायुद्ध के बाद अन्स्र्ट टालर तथा अन्य जर्मन अभिव्यक्तिवादियों का था और हमारी राय में वे लोग साम्यवाद, श्रमजीवी वर्ग, जनता और जनता के जीवन और आदर्श से बहुत दूर थे। सामूहिकता को ही अपने में पूर्ण लक्ष्य मानने के आग्रह और इस विषय पर एक ठोस ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अभाव के ही वातावरण में कोई लेखक वैयक्तिकता विहीन जनता स्तुति गा सकता था। आगे चलकर व्यक्ति की उपेक्षा करनेवाले इसी जर्मन अभिव्यक्तिवादियों में से बहुत से लेखक प्रशियन सैनिक समूहवाद और अन्ततोगत्वा नाजीवाद के गीत

गाने लगे थे।

इन बोर्जुआ बौद्धिकतावादियों के ठीक उल्टे, सोवियत लेखकों में एक दृढ़ता थी जो जन-जीवन में ही उगी और पनपी थी। वह विश्वविख्यात लेखक मैक्सिम गोर्की कभी इस जन-मनोविज्ञान के नीरस सिद्धान्त की कल्पना भी नहीं कर सकता था। इसके प्रमाण स्वरूप गोर्की की 'माँ' और 'कोनोवैलोव' कहानियाँ ही काफी हैं।

1918 और 1920 में 'प्रोलेटकल्ट' नामक एक छोटा लेखकों का दल था जिसके अगुआ मार्क्सवादी नहीं थे बल्कि अलैक्जेण्डर बोग्दैनव के अनुयायी थे। बोग्दैनव नियो-पाजिटिविस्ट अर्न्स्ट माश का रूसी शिष्य था। माश-वाद के साथ-साथ इस दल ने पच्छिम से फ्यूचरिस्ट और एक्सप्रेशनिस्ट प्रवृत्तियाँ सोवियत भूमि पर फैलाने का प्रयास किया। लेकिन इन्हें सफलता नहीं मिली। कोई भी श्रमजीवी अपने को व्यक्तित्वहीन, जनता का एक अंश मात्र नहीं समझना चाहता था।"

राजनीति और साहित्य

(प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक जे. बी. प्रीस्टले की अध्यक्षता में, एस. सी. आर नामक संस्था के माध्यम से कुछ अंग्रेज़ लेखकों ने रूसी लेखकों के पास एक प्रश्नों की सूची भेजी थी। उन प्रश्नों और उनके उत्तरों पर प्रसिद्ध लेखक राबर्ट ह्यूज ने एक वार्ता रेडियो पर दी जिसका सारांश यहाँ दिया जाता है।)

"अभी कुछ ही दिन पहले अंग्रेजी लेखकों ने रूसी लेखकों के पास प्रश्नों की एक लम्बी सूची बनाकर भेजी थी। प्रमुख सोवियत लेखकों ने उन पर अपनी कमेटी में विचार-विनिमय किया और हरेक प्रश्न का विस्तृत उत्तर लिख भेजा। यह निश्चित है कि ये ईमानदार उत्तर हैं और उनमें किसी भी अधिकारी का हाथ नहीं है। लेकिन इन उत्तरों से यही मालूम होता है कि रूसी लेखक में और हम लोगों में कितनी गहरी खाई बन चुकी है।

हमारे सभी प्रश्नों के मूल में एक भावना थी–'आखिर आप, रूसी लेखक लोग कैसे यह बर्दाश्त करते हैं कि केवल उन्हीं वस्तुओं पर लिखें जो आपको शासन की ओर से सुझाए जायँ और केवल वे ही विचार व्यक्त करें जो शासन के विचार हों ?' और रूसी लेखकों ने जो उत्तर दिये थे उनकी मूल भावना यह थी–'कैसे कोई लेखक दूसरी छोटी-मोटी चीजों पर लिख सकता है जब उसे इतनी महत्त्वशाली चीजों पर लिखने का पूरा अवसर और सुविधा मिले और कैसे वह कोई अन्य विचार व्यक्त कर सकता है जब कि वह जानता है कि उसके शासक सही-सही सोचते हैं।'

सिवा धर्म के ऐसे विश्वास का उदाहरण और कहीं नहीं मिलता ! सोवियत लेखक वास्तव में अपने को मानसिक गुलाम नहीं समझता, क्योंकि उसके लिए प्रचार और साहित्य के बीच में कहीं कोई सीमारेखा है ही नहीं। वास्तव में वह भाग्यशाली है। वह अपनी मनःस्थिति को उस अवस्था में ले गया है जब दुनिया पर मानवता

रचनावली

का विकास नहीं हुआ था और आदम और हब्बा अदन के बाग में घूमते थे। लेकिन हम अभागों के मन में प्रचार और साहित्य के बीच में एक रेखा बनी हुई है और वह अन्तर्रेखा हमारे लिए पूर्णतया वास्तविक है। प्रचारकर्ता अपनी जगह पर है, सृजनकर्ता अपनी जगह पर।

उदाहरण के लिए आर्थर केस्टलर* को ही लीजिए। हम सभी उसके बारे में वादविवाद कर चुके होंगे। मैं उसे मुख्यतया एक राजनीतिज्ञ मानता हूँ। उसके कुछ राजनीतिक विचार हैं। वह उनकी ओर पाठकों को प्रेरित करता है। उसके लिए उपन्यास एक साधन मात्र है। जहाँ तक मेरा सवाल है अगर मैं अपने उपन्यास में राजनीति का समावेश करूँ तो मैं दूसरे ढंग से करूँगा। मैं राजनीति को साधन बनाऊँ, उपन्यास या साहित्य को साध्य। मैं राजनीतिक घटनाओं का इसलिए प्रयोग करूँगा कि वे रसपरिपाक में सहायक थीं।

यह ठीक है कि राजनीतिज्ञ यह समझ गये हैं कि प्रचार के लिए लेखक की कलम बड़ी ही शक्तिशाली साबित होती है। वे हमेशा लेखक का उपयोग करने के लिए उत्सुक रहते हैं। उनका कहना है कि इस समय कोई भी व्यक्ति राजनीति से भाग नहीं सकता। फिर लेखक ही अपने हाथीदाँत की मीनार में कैसे बैठ सकता है ?

मैं समझता हूँ इस दलील का उत्तर भी स्पष्ट है। आप राजनीतिज्ञ से पूछिए–"यह आप कह किससे रहे हैं ? जान नामक नागरिक से, या जान नामक लेखक से ? यदि जान नागरिक से कह रहे हैं तो ठीक है वह राजनीति में भाग नहीं लेता तो उसकी उत्तरदायित्व-हीनता है, लेकिन जान लेखक; उससे तुम बात करने वाले कौन हो ?"

जो लोग किसी गैर राजनीतिक लेखक पर असामाजिक होने का दोष लगाते हैं, या कहते हैं कि उसमें सामाजिक उत्तरदायित्व नहीं है वे क्या कहते हैं यह खुद ही नहीं समझते। कहने की बात दूसरी है, यदि लेखक स्वान्तः सुखाय में ही विश्वास करता तो वह लिखता ही क्यों ? अपना सुख-दुःख अपने तक ही रखता।

मानव की समस्याओं का समाधान राजनीति ही नहीं है, इस पर मुझे एक कहानी याद आती है। दो आदमी एक झील के किनारे टहल रहे थे। उनमें यह बहस चल रही थी कि आस-पास के दृश्य को कौन ज्यादा बदल सकता है। उनमें से एक ने सामने से पड़ा हुआ पत्थर उठाया और झील में छोड़ दिया। बहुत जोर से पानी उछला, बड़ी-बड़ी लहरें उठीं और फिर सब शान्त हो गया।

उसके बाद दूसरे आदमी ने सिर्फ इतना किया कि जेब से एक मुट्ठी बीज

---

* आर्थर केस्टलर एक चेकोस्लोवाकियन लेखक है जिसके राजनीतिक उपन्यासों की पिछले दिनों बहुत चर्चा रही है।

निकाले। उन्हें चारों ओर की नम जमीन में फेंक दिया और चुपचाप आगे चला गया। लेकिन दूसरे व्यक्ति के बोए पेड़ आज तक पथिकों को शीतलता प्रदान करते हैं।"

मार्क्सवादी कूपमण्डूकता

साहित्य जीवन को समझता है, उसका विश्लेषण करता है और उसकी समस्याओं का एक व्यापक समाधान प्रस्तुत करता है, या कम से कम इस दिशा में ईमानदार प्रयास अवश्य करता है। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि मार्क्स ने जीवन और उसकी प्रगति को समझने के लिए एक नया और गम्भीर दृष्टिकोण दिया है और विश्व-दर्शन के इतिहास में मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। लेकिन कम्यूनिस्टों की गलती यह है कि वे ऐसा स्वीकार करने लगते हैं कि मार्क्सवाद के अलावा जीवन और साहित्य की और कुछ कसौटी ही नहीं हो सकती और सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक का समस्त संचित मानव ज्ञान केवल मार्क्स के कुछ ग्रन्थों में ही सीमित है। कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो के प्रथम प्रकाशन को आज ठीक 100 वर्ष हो गये किन्तु आज भी कम्यूनिस्ट विचारक 100 वर्ष पहले की विचारधारा को साहित्य और जीवन पर ज्यों का त्यों लादने का आग्रह करते हैं। यह मनोवृत्ति एक स्वस्थ मनोवृत्ति न होकर उस पाण्डु रोग के रोगी की मनोवृत्ति है जो स्वयं सभी चीजों को पीला देखता है, सारी दुनिया को मजबूर करना चाहता है कि वह भी पीले रंग के अलावा किसी और रंग में विश्वास ही न करे।

लेकिन इस तरह की कट्टरवादी मानसिक बीमारियाँ प्रगति के लिए सबसे ज्यादा घातक होती हैं क्योंकि वे मानव-ज्ञान के स्वच्छतम विकास की राह उन्मुक्त न कर उसमें बाधक ही होती हैं। यह मार्क्सवादी बीमारी भी कुछ इसी प्रकार की है और जैसे नया मुसलमान ज्यादा अल्ला अल्ला पुकारता है, उसी तरह हमारे देश के कम्यूनिस्ट आलोचकों में भी मार्क्सवाद की मौके बेमौके दुहाई देने की अनोखी आदत है। दिनोंदिन यह मार्क्सवादी दायरा इतना संकीर्ण होता जा रहा है कि अब उनमें डॉ. रामविलास शर्मा और उनके गुट के अलावा किसी और को भी स्थान मिल पायेगा इसमें गम्भीर सन्देह है।

क्रान्ति के बाद रूस में भी इस तरह की मनोवृत्ति बहुत जोर पकड़ रही थी। 1932 तक यही परिस्थिति रही लेकिन 1932 के बाद की परिस्थितियों ने कुछ ऐसा रुख अख्तियार किया रूस में कुछ व्यापक विचारों को भी प्रश्रय मिलने लगा। उसी समय एक प्रमुख रूसी विचारक ए. आई. स्टेट्स्की ने 5 जून 1932 के प्रवदा में इस संकीर्ण मार्क्सवादी मनोवृत्ति के विरुद्ध बड़ा ही जोरदार लेख लिखा। उस लेख में इस बात का बड़ा ही दिलचस्प वर्णन था कि कैसे उस समय रूस के विभिन्न विचारकों और सांस्कृतिक क्षेत्रों में प्लेग के चूहों की तरह मार्क्सवादी परिभाषाएँ फैल रही थीं।

रचनावली

उसने लिखा "अभी हाल में मास्को के डाक्टरों की एक सभा में हमारे बहादुर कामरेड पैपोवियन ने एक लेख पढ़ा 'मार्क्सवाद और शल्य चिकित्सा' इस निबन्ध में न तो एक शब्द मार्क्सवाद पर ही था और न एक शब्द शल्य चिकित्सा पर।" (प्रवदा, 5, जून 1932) उस समय कुछ लहर चल पड़ी थी और मार्क्सवाद को हर चीज पर लादने का हास्यास्पद प्रयास किया जा रहा था। 'द जर्नल फार मार्क्सिस्ट लेनिनिस्ट नेचुरल साइन्सेज' का नारा था–'गणित में भी पार्टी के सिद्धान्तों का उपयोग होना चाहिए।' 'हम चिकित्सा शास्त्र में से बोर्जुआ तत्त्वों को बिना निकाले चैन नहीं लेंगे।' यह सनक इस सीमा तक पहुँच गयी थी कि सोवियट हेराल्ड आफ वेनरालाजी एण्ड डर्मेटालाजी (चर्म तथा गुप्त रोगों पर सोवियत मुख पत्र) ने घोषित किया कि वे भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के ही आधार पर इन यौन रोगों की चिकित्सा करेंगे। मार्क्सवाद को अपने सौ साल के जीवन में शायद इतना बड़ा सम्मान कभी न मिला होगा और न इतने पवित्र कार्य के लिए उसका उपयोग किया गया होगा।

ये विश्लेषण भी कभी-कभी कितने हास्यास्पद होते थे इसका एक उदाहरण स्टेट्स्की ने दिया है। उसने किसी पत्रिका के एक लेख का उद्धरण दिया है जिसमें लेखक ने मछलियों के व्यापार की पूरी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या करते हुए मछलियों की वृद्धि और विकास को भी वर्गसंघर्ष पर आधारित बताया है।

ये विश्लेषण कितने हास्यास्पद हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं। सारी दुनिया को वर्गसंघर्ष की सीमित कसौटी पर नापने के आग्रह को प्रगति नहीं कहा जा सकता। वह तो निरी कूपमण्डूकता है।

इस विषय में हमें लेनिन के ये शब्द याद रखने चाहिए–"मार्क्स के सिद्धान्तों को हमें कभी भी अपने में पूर्ण और किसी प्रकार के नये परिवर्तन से परे नहीं मानना चाहिए। उसने तो केवल वे आधारशिलाएँ रख दी हैं जिनके आधार पर साम्यवादियों को जीवन के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विस्तृत निर्माण करना चाहिए। मेरा विचार है कि रूसी साम्यवादियों को विशेष तौर से मार्क्स के सिद्धान्तों पर स्वाधीन ढंग से कार्य करना चाहिए। क्योंकि मार्क्सवाद तो केवल एक सिद्धान्त मात्र देता है। वह सिद्धान्त रूस में दूसरे ढंग से लागू होगा। इंगलैण्ड में दूसरे ढंग से, फ्रांस में दूसरे ढंग से, जर्मनी में दूसरे ढंग से!" (लेनिन, रूसी संस्करण, दूसरा भाग, पृष्ठ 492)।

काश कि हमारे प्रगतिवादी बन्धु इसे ध्यान में रखकर भारतीय परिस्थितियों और ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुरूप ढलने का प्रयास करते!

रचनावली

सहायक पुस्तकें

स्टडीज इन डाइंग कल्चर —क्रिस्टोफर काडवेल

नावेल एण्ड द पीपुल —रैल्फ फाक्स

लिटरेचर एण्ड मार्क्सिज्म —एंजेल्स ल्फोरेस

सोवियत लिटरेचर : एन एन्थालॉजी —रीवी एण्ड स्लोनिम

सोवियत लिटरेचर टुडे —जार्ज रीवी

माडर्न रशन एन्थालॉजी —यारमोलिन्स्की

ट्वेन्टीफाइव ईयर्स आफ रशन लिटरेचर —ग्लब स्ट्रव

लाइफ एण्ड लिटरेचर —मैक्सिम गोर्की

आई विल नाट रेस्ट —रोमा रोलाँ

रेलीजन इन यू. एस. एस. आर. —विल्फ्रेड ई. स्मिथ

सोवियत कम्यूनिज्म : ए न्यू सिविलिजेशन —बीएट्रिस एण्ड सिउने बेव

रशा एट वार —ईल्या एडरेनबुर्ग

मदर —मैक्सिम गोर्की

रेमिनिसेन्सेज आफ लेनिन —क्लारा जेटकिन

मायकावस्की एण्ड हिज पोएट्री —हरबर्ट मार्शल

सोशलिस्ट सिक्थ आफ द वर्ल्ड —डीन आफ कैन्टरबरी

मार्क्सिज्म एण्ड इण्डिविजुअल —डीन आफ कैन्टरबरी

रोल आफ इण्डिविजुअल इन हिस्ट्री —प्लेखनाव

मैटीरियलिस्ट कन्सेप्शन आफ हिस्ट्री —प्लेखनाव

कम्यूनिज्म : रेलीजन एण्ड मोरल्स —टी. ए. नैक्सन

टास्क आफ सोवियत राइटर —ज्डैनव

गोल्डन बुक आफ टैगोर —रामानन्द चटर्जी

सोवियत राइटर्स रिप्लाई —एडगेल रिकवर्ड

समाज और साहित्य	—अंचल
प्रगतिवाद	—शिवदानसिंह चौहान

पत्रिकाएँ

सोवियत लिटरेचर

स्लावोनिक रिव्यू

न्यूयार्क टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट

हंस

न्यू टाइम्स

रशन रिव्यू

माडर्न क्वार्टरली

प्रार्टिजन रिव्यू

सोवियत यूनियन न्यूज

रचनावली

मानव मूल्य और साहित्य

रचनावली

भूमिका
(प्रथम संस्करण से)

जब हम मानव मूल्य की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य क्या है, यह समझ लेना आवश्यक है। अपनी परिस्थितियाँ, इतिहास-क्रम और काल-प्रवाह के सन्दर्भ में मनुष्य की स्थिति क्या है और महत्त्व क्या है–वास्तविक समस्या इस बिन्दु से उठती है। समस्त मध्यकाल में इस निखिल सृष्टि और इतिहास-क्रम का नियन्ता किसी मानवोपरि अलौकिक सत्ता को माना जाता था। समस्त मूल्यों का स्रोत वही था और मनुष्य की एकमात्र सार्थकता यही थी कि वह अधिक से अधिक उस सत्ता से तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा करे। इतिहास या काल-प्रवाह उसी मानवोपरि सत्ता की सृष्टि था–माया रूप में या लीला रूप में।

ज्यों-ज्यों हम आधुनिक युग में प्रवेश करते गये त्यों-त्यों इस मानवोपरि सत्ता का अवमूल्यन होता गया। मनुष्य की गरिमा का नये स्तर पर उदय हुआ और माना जाने लगा कि मनुष्य अपने में स्वतः सार्थक और मूल्यवान् है–वह आन्तरिक शक्तियों से सम्पन्न, चेतन-स्तर पर अपनी नियति के निर्माण के लिए स्वतः निर्णय लेनेवाला प्राणी है। सृष्टि के केन्द्र में मनुष्य है। यह भावना बीच-बीच में मध्यकाल के साधकों या सन्तों में भी कभी-कभी उदित हुई थी, किन्तु आधुनिक युग के पहले यह कभी भी सर्वमान्य नहीं हो पाई थी।

लेकिन जहाँ एक ओर सिद्धान्तों के स्तर पर मनुष्य की सार्वभौमिक सर्वोपरि सत्ता स्थापित हुई, वहीं भौतिक स्तर पर ऐसी परिस्थितियाँ और व्यवस्थाएँ विकसित होती गयीं तथा उन्होंने ऐसी चिन्तनधाराओं को प्रेरित किया जो प्रकारान्तर से मनुष्य की सार्थकता और मूल्यवत्ता में अविश्वास करती गयीं। बहुधा ऐसी विचारधाराएँ नाम के लिए मानववाद के साथ विशिष्ट विशेषण जोड़कर उसका प्रश्रय लेती रही हैं।

किन्तु मूलतः वे मानव की गरिमा को कुण्ठित करने में सहायक हुई हैं और मानव का अवमूल्यन करती गयी हैं।

सांस्कृतिक संकट या मानवीय तत्व के विघटन की जो बात बहुधा उठायी जाती रही है। उसका तात्पर्य यही रहा है कि वर्तमान युग में ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी हैं जिसमें अपनी नियति के, इतिहास-निर्माण के सूत्र मनुष्य के हाथों से छूटे हुए लगते हैं–मनुष्य दिनोंदिन निरर्थकता की ओर अग्रसर होता प्रतीत होता है। यह संकट केवल आर्थिक या राजनीतिक संकट नहीं है वरन् जीवन के सभी पक्षों में समान रूप से प्रतिफलित हो रहा है। यह संकट केवल पश्चिम या पूर्व का नहीं है वरन् समस्त संसार में विभिन्न धरातलों पर विभिन्न रूपों में प्रकट हो रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक में साहित्य को इसी वर्तमान मानवीय संकट के सन्दर्भ में देखने की और जाँचने की चेष्टा की गयी है। साहित्य मनुष्य का ही कृतित्व है और मानवीय चेतना के बहुविध प्रत्यन्तरों (Responses) में से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रत्युत्तर है। इसलिए हम आधुनिक साहित्य के बहुत-से पक्षों को या आयामों को केवल तभी बहुत अच्छी तरह समझ सकते हैं जब हम उन्हें मानव मूल्यों के इस व्यापक संकट के सन्दर्भ में देखने की चेष्टा करें।

अभी तक हिन्दी साहित्य के तमाम अध्ययनों में दो दृष्टिकोण लिए जाते रहे हैं। या तो हिन्दी साहित्य को अपने में एक सम्पूर्ण वृत्त मानकर उसका अध्ययन इस तरह किया जाता है जैसे वह शेष सभी बाहरी सन्दर्भों से विच्छिन्न हो। या इसका स्वरूप यह था कि उस पर बाहरी शक्तियों और धाराओं के प्रभावों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाता रहा है गोया वह केवल निष्क्रिय तत्व है जिसे दूसरे केवल प्रभावित कर सकते हैं। किन्तु वह केवल दूसरे साहित्यों से 'प्रभावित' ही नहीं हुआ है वरन् विश्व इतिहास की समस्त प्रक्रिया में स्वयम् एक स्वतन्त्र शक्ति के रूप में उसने संकट का सामना किया है; नये मूल्यों के विकास की भूमिका प्रस्तुत की है और तमाम साहित्यों के बीच वह केवल दूसरों से प्रभावित होने की वस्तु ही नहीं रहा है वरन् उन तमाम आधुनिक परिस्थितियों के बीच उसका अपना सहज स्वाभाविक उन्मेष हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक में इसीलिए पहले व्यापक सांस्कृतिक संकट का सर्वेक्षण किया गया है और तब उसके सन्दर्भ में हिन्दी साहित्य की बात कराई गयी है। हिन्दी के प्रसंग में लेखक ने छायावाद और प्रगतिवाद दोनों के प्रति असन्तोष व्यक्त किया है क्योंकि उसके विचार में एक ने मूल समस्या का सामना ही नहीं किया और दूसरे ने समस्या को गलत परिप्रेक्ष्य में उठाकर उलझनें बढ़ा दीं। अपनी सहमति असहमति

रचनावली

को लेखक ने स्पष्ट और बलपूर्वक रखने की चेष्टा की है क्योंकि उसका विश्वास हे कि चिन्तन के क्षेत्र में यह आवश्यक भी है और उपयोगी भी।

यह पुस्तक लगभग तीन वर्ष पूर्व ही पाठकों के सामने आ जानी चाहिए थी लेकिन परिस्थितियों वश इसके प्रकाशन में विलम्ब होता गया। इसके लेखन के दौरान में सर्वश्री लक्ष्मीकान्त वर्मा, डॉ. रघुवंश, फादर आई. ए. एक्स्ट्रास, विजयदेव नारायण साही तथा डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी से अक्सर विचार-विनिमय होता रहा है जिससे मेरे चिन्तन को बहुत प्रेरणा मिली है। मैं उन सबों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

–धर्मवीर भारती

बुधवार, 9 मार्च, 60

मानवीय तत्व का विघटन

अन्तरात्मा के ध्वंसावशेष

अपने हृदय पर कीलों से ठुकी हुई जैसे सलीब पर चोर
मैं लटक रही हूँ बीचोबीच–जीसस् के और उस खाई के–जहाँ इस संसार
का अन्त हो गया है !...
....
जीवित अन्धे और द्रष्टा मुर्दे एक साथ पड़े हुए हैं
जैसे प्रेमी... और न अब नफरत रही है
और न प्रेम है। लुप्त हो गया है मनुष्य का हृदय।"

(एडिथ सिटवेल : 'अणुबम पर तीन कविताएँ')

एडिथ सिटवेल की ये पंक्तियाँ सन् 1947 में लिखी गयी थीं और इसका शीर्षक था 'नये सूर्योदय का मरसिया'। लगभग समस्त पाश्चात्य साहित्य में, द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद जो साहित्य आया उसमें उसी विषाद, निराशा, दुश्चिन्ता, बेचैनी की प्रतिध्वनि मिलती है जो इन पंक्तियों में है। पश्चिम ने यह अनुभव कर लिया था कि वह एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया है जिसके आगे अँधेरा है, अनिश्चय है, दिग्भ्रम है। यह सिटवेल नहीं बल्कि यूरोप का मानस बोल रहा था जो "लटक रहा था बीचोबीच–जीसस् के और उस खाई के जहाँ इस संसार का अन्त हो गया है।"...और जहाँ भले-बुरे की दीवार टूट गयी है। जहाँ शब्द कुछ और हैं, अर्थ कुछ और। धारणा कुछ और है, आचार कुछ और हैं; कर्म कुछ है, परिणाम दूसरा। पश्चिम की समस्त व्यवस्था तूफान में पड़े हुए ऐसे जहाज की तरह हो गयी है जिसके पाल फट चुके हैं, पतवारें टूट चुकी हैं, माझी बेकाम हो चुके हैं। उत्ताल लहरों पर निरुद्देश्य डोलता हुआ एंक विशाल पोत। द्वितीय महायुद्ध के बाद जिस अस्तित्ववादी विचारधारा का आकस्मिक प्रसार पश्चिम में हुआ, उसमें बार-बार जो प्रतीक प्रयुक्त हुआ है, वह इसी तूफान में ध्वस्त जहाज का !

रचनावली

पिछली शताब्दी में ही यूरोपीय-साहित्य में ध्वस्त होती हुई इस अन्तरात्मा का स्पष्ट आभास मिलने लगा था। विशेषतया डास्टावस्की की कथाकृतियों में मानवीय अन्तरात्मा का जो विराट् मानचित्र प्रस्तुत किया गया था वह एक विशाल पैमाने पर घटित होते हुए विघटन का सूचक था, एक बहुत बड़े आसन्न संकट का द्योतक था। पश्चिम के कथा-साहित्य और नाटकों में कर्मठ नायकों का स्थान दिनोंदिन ऐसे नायक ले रहे थे जो अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त थे, निष्क्रिय थे। एक अजीब से दिग्भ्रम और जड़ मूर्छना के शिकार थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे इतिहास के सूत्र बुरी तरह उलझ गये थे। उनके बीच में अन्तरात्मा का कोई जोर नहीं चल पाता था। इतिहास से उसकी कोई संगति नहीं बैठ पाती थी। जैविक विकास के नियमों के अनुसार जैसे जिन पक्षियों के पंख काम नहीं आते हैं, वे दिनोंदिन उड़ने की शक्ति खोते जाते हैं, छोटे होते जाते हैं, नाममात्र के रह जाते हैं उसी प्रकार दिनोंदिन मानवीय अन्तरात्मा सर्वथा निश्शक्त होकर विलुप्त होती जा रही थी। या यदि रह भी गयी थी तो ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे यह अन्तरात्मा केवल कुछ अव्यावहारिक अन्तर्मुखी स्वप्नदर्शियों का अनावश्यक मानसिक उद्वेग बनकर रह गयी है, जिसका बाह्य यथार्थ से कोई मेल नहीं बैठ पाता।

यह स्थिति धीरे-धीरे कैसे विकसित हुई और क्रमशः किन अवस्थाओं से गुजरकर पाश्चात्य-चेतना इस बिन्दु तक पहुँची इसका एक बहुत लम्बा इतिहास है किन्तु यहाँ पर केवल इतना संकेत कर देना यथेष्ट होगा कि विज्ञान के उदय ने पुरानी मान्यताओं के समक्ष गहरे प्रश्न-चिह्न लगा दिये थे और मनुष्य पहले जिन धर्म-ग्रन्थों में प्रणीत नियमों या आचार-विधानों को अन्तरात्मा की आधार-भूमि मानता था, वे धीरे-धीरे निरर्थक सिद्ध हो चुके थे। मानववाद के उदयकाल में ईश्वर जैसी किसी मानवोपरि सत्ता या उसके प्रतिनिधि धर्माचार्यों को नैतिक मूल्यों का अधिनायक न मानकर मनुष्य को ही इन मूल्यों का विधायक मानने की प्रवृत्ति विकसित होने लगी थी। इसी समय पहली बार यह स्पष्ट हो सका था कि 'अन्तरात्मा' मानवीय अन्तर में स्थित कोई दैवी या अतिप्राकृतिक शक्ति न होकर वस्तुतः मानवीय गरिमा के प्रति हमारा संवेदनशीलता का ही दूसरा रूप है और मनुष्य के गौरव को प्रतिष्ठित करने और उसकी निरन्तर रक्षा करने के प्रति हमारी जागरूकता ही हमारी जाग्रत् अन्तरात्मा का प्रमाण है। उसी समय पहली बार यह भी स्वीकार किया गया था कि पुराने मूल्य अब मिथ्या पड़ने लगे हैं। ऐसी श्रद्धा और आस्था जो हमें नरबलि तक के लिए विवश करे और वह करुणा जो दान-दया के द्वारा व्यक्त हो पर समाज के वैषम्य को विधि का विधान मानकर स्वीकार कर ले—इस प्रकार की श्रद्धा और करुणा अमानवीय वृत्तियों को जन्म देते हैं। वे मानवीय गौरव को प्रतिष्ठित करने की बजाय उसको विकलांग बनाते हैं। उसी समय पहली बार यह भी स्पष्ट होने लगा कि विवेक अन्तरात्मा के सहायक तत्त्वों में सम्भवतः सबसे प्रमुख और सबसे विश्वसनीय है।

रचनावली

मानवीय गौरव के अर्थ यह हैं कि मनुष्य को स्वतन्त्र, सचेत, दायित्वयुक्त माना जाय जो अपनी नियति, अपने इतिहास का निर्माता हो सकता है। इसके लिए उसके विवेक और मनोबल को सर्वोपरि और अपराजेय माना जाय।

कहा जाता है कि मृत्यु के कुछ पहले न केवल व्यक्तियों वरन् संस्कृतियों को भी एक विचित्र-सी दृष्टि प्राप्त हो जाती है। वे जीवन के आरपार देखने लगते हैं। ऐसा लगता है कि मानववाद के उदयकाल में यूरोप को कुछ वैसी ही दृष्टि प्राप्त हो गयी थी। दीपक बुझने के पहले जैसे अन्तिम लौ फेंक रहा था और उसके बाद ही जैसे उसकी शिखा काँपने और टिमटिमाने लगी। एक ओर यह नवोपलब्ध दृष्टि और दूसरी ओर अकस्मात् पूरी सांस्कृतिक व्यवस्था का सहसा चरमरा उठना ! यह नहीं कि उसमें उत्साह की कमी थी। एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसा ही था जो सन्निपातग्रस्त रोगी की भाँति बेहद आवेश में था, उत्साह में था, अदम्य आशावादी था, जो यूरोपीय संस्कृति की आन्तरिक असंगतियों और उसके आसन्न विनाश को केवल निराशावादियों का प्रलाप समझते हुए यूरोप की विश्वविजय के स्वप्न देख रहा था, जैसे किपलिंङ; या इस समस्त उथल-पुथल को किसी महामानव के अवतरण की भूमिका मान रहा था, जैसे नीत्शे ! यथार्थ की घोर उपेक्षा कर प्रवंचना के कल्पित स्वप्न-जगत् में निरन्तर निवास करने वालों के ऐसे ही आशावाद को देखकर किसी विचारक ने यह कहा होगा कि "आशावादी का उपयुक्त आश्रयस्थल है–पागलखाना !"

अविवेक और असंगति की उपेक्षा कर, या यह कहना बेहतर होगा कि उन्हें नजर-अन्दाज कर, एक कल्पित मनोजगत् के सौन्दर्य में डूबने की प्रवृत्ति का सबसे उदात्त रूप हमें यूरोप के उन स्वच्छन्दतावादी (रोमाण्टिक) विचारकों और कवियों में मिलता है जो हिन्दी के छायावादियों के दिशा निर्देश कर रहे हैं। उन्होंने इन तमाम स्थितियों के लिए एक महामहिम शब्द का प्रयोग किया था। रहस्य (मिस्ट्री) और उस युग की वृत्ति का नामकरण किया था 'विस्मय का पुनर्जागरण' (रेनेसाँ ऑफ बण्डर)। ये बड़ी ही काव्यात्मक मनोहारी धारणाएँ थीं, पर अफसोस, संस्कृति में जो आन्तरिक विघ्न आ रहा था उसे यथार्थ स्तर पर ग्रहण करने में यह नितान्त असफल सिद्ध हुई। स्वच्छन्दतावादी चिन्तन और साहित्य का कुछ अंश ऐसा है जो मानवीय चिन्तन के एक आयाम को निरन्तर उद्‌बुद्ध और प्रेरित करता रहा। पर उसका यह 'रहस्य' और 'विस्मय' वाला तत्त्व कुछ दिनों बाद ही अस्वीकृत हो गया और 'रहस्य' से वे जिन असंगतियों को एक प्रभामण्डल से आच्छादित करना चाहते थे, अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ और अधिक यथार्थदर्शी यूरोप ने उसके लिए 'रहस्य' जैसे महामहिम शब्द की अपेक्षा एक अधिक प्रत्यक्ष, अधिक यथार्थबोधक शब्द प्रयुक्त करना शुरू किया अविवेक (इर्रेशनल)। यह जो मनुष्य के अन्दर उसके व्यक्तिगत व्यवहार में, मानसिक प्रतिक्रियाओं में, संस्कृति में, समाज-व्यवस्था में, इतिहास में जो अहेतुक है, जो अविवेकी है, असंगत है, 'इर्रेशनल' है, वह इनके लिए एक आसन्न संकट बन गया

रचनावली

था, ऐसी शिला बन गया था जिससे टकराकर यूरोपीय संस्कृति के 'दीनपोत' का मरण अवश्यम्भावी प्रतीत होने लगा था और वह 'इर्रेशनल' अब इनके लिए मात्र विस्मय और पूजा की वस्तु न बनकर चिन्ता और आशंका की वस्तु बन गया था, जीवन-मरण का प्रश्न बन गया था। यदि ध्यान से पिछले दो सौ वर्षों की यूरोपीय चिन्तनधारा का विश्लेषण किया जाय तो हम यह पायेंगे कि लगभग समस्त आधुनिक यूरोपीय चिन्तन इसी इर्रेशनल की व्याख्या का प्रयास है। और यह प्रवृत्ति केवल अविवेक तक ही सीमित नहीं रही बल्कि यह अविवेक जो उचित-अनुचित, सत्-असत् को यकसाँ मानता है उसके प्रति एक गहन आकर्षण में बदल गयी। नीत्शे ने तो यहाँ तक कहा कि 'असत्य को जीवन की एक अनिवार्य शर्त मानना होगा' (बियाण्ड गुड एण्ड ईविल) और विभिन्न पगडण्डियों से यूरोप की विभिन्न चिन्तनधाराएँ इसी परिणाम तक पहुँचीं। यह बात दूसरी है कि उनकी तर्क-प्रणाली चाहे पृथक् हो और उनकी इस अविवेक-भक्ति की परिणति अन्ततोगत्वा नाजियों की-सी अमानुषिक और निरंकुश मनोवृत्ति में हुई हो, पर मूलतः यह सारी अविवेक-भक्ति स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसिज्म) से ही उद्भूत हुई थी—"अविवेक के आधुनिक भक्त जैसे नाजीवाद के कई समर्थक चाहे इन रूमानी चिन्तकों से बहुत आगे निकल गये हों, पर इस धारणा की जड़ रोमाण्टिसिज्म में ही है।" क्रेन ब्रिण्टन—'आइडियाज एण्ड मेन'

हम पहले ही कह चुके हैं कि अन्तरात्मा वस्तुतः आधुनिक सन्दर्भ में मानवीय गौरव के प्रति हमारी जागरूक संवेदना का पर्याय है, और मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा इसी में है कि मनुष्य को हम विवेक और संकल्प-शक्ति से युक्त इतिहास का निर्माता और अपनी नियति का अधिनायक मानें। स्वच्छन्दतावाद ने पहली बार भावना के सामने विवेक का पूर्ण तिरस्कार कर (गेटे तक ने कहा था—'भावना ही सब कुछ है !') अविवेक के लिए जो द्वार खोल दिया उस चिन्तनधारा ने ऐसे तत्त्व प्रविष्ट करा दिये जो बार-बार मनुष्य के विवेक और उसकी संकल्पशक्ति को निरर्थक मूल्यहीन सिद्ध करते गये और मानवीय गौरव के मूल पर ही कुठाराघात करते रहे !

आवर्तमान मनुष्य—इस मानवीय गौरव, और उसको प्रतिष्ठित करने वाले सद्-असद् विवेक पर सबसे तीखा आघात नीत्शे का था। नीत्शे ने ही पहली बार बड़े बल से यह प्रतिपादित किया कि वह मनुष्य जो आज है, जो वर्तमान है वह निरर्थक है, वह मूल्यों का उद्‌गम स्रोत नहीं है, क्योंकि वह अखिल सृष्टिविकास का परम लक्ष्य नहीं है, वह तो एक सेतु मात्र है—पिछली जीव सृष्टि और आगे आने वाले एक महामानव (सुपरमैन) के बीच का सेतु। इसीलिए इसका हित-अहित, इसके प्रति उचित-अनुचित का मापदण्ड स्वतः यह वर्तमान मनुष्य नहीं है, उसका वास्तविक मापदण्ड अ-वर्तमान मनुष्य है जो महामानव है। इस प्रकार नीत्शे ने विकासवाद के कतिपय तर्कों का उपयोग कर मानवीय मूल्यों के निर्धारण की कसौटी आज का मानवीय यथार्थ न मानकर वर्तमान मनुष्य से उसके गौरव का अपहरण कर उसे एक

रचनावली

मरणासन्न जाति का जीव सिद्ध कर दिया।

इसका परिणाम यह हुआ कि नीत्शे ने नैतिक मूल्यों के निर्धारण की जो परिपाटी अपनाई उसमें मानवीय गौरव को प्रतिष्ठित करने वाली अन्तरात्मा का कोई स्थान नहीं था। उसने स्पष्ट कहा–"किसी भी मत का असत्य होना उसको हमारे आक्षेप के योग्य नहीं बना देता···प्रश्न यह नहीं कि कोई मत सत्य है अथवा असत्य, प्रश्न यह है कि वह कहाँ तक जीवन को विकास देने वाला है, जीवन का रक्षण करने वाला है, (जाति का रक्षण करने वाला है) जाति की वृद्धि करने वाला है और मूलतः हम यह मानते आये हैं कि सबसे असत्य मत ही हमारे लिए सबसे अनिवार्य सिद्ध हुए हैं···उनके बिना हम रह नहीं सकते–असत्य मत का तिरस्कार वस्तुतः जीवन मात्र का निषेध बन जायेगा।"

अन्तरात्मा की व्यर्थता और इसी सन्दर्भ में नैतिक मूल्यों की निरर्थकता के बारे में नीत्शे से कई शताब्दी पूर्व लगभग ऐसी ही बातें प्रख्यात या कुख्यात मैकियावेली ने कही थीं। उसने भी स्पष्ट यह कहा था कि शासक को अपने किये हुए वायदे नहीं निभाने चाहिए–यदि स्थितियाँ बदल जायें। उसे दिखना चाहिए करुणायुक्त, स्नेहशील, क्षमाशील···होना चाहिए कठोर, निर्मम, आतंककारी। उसे मनुष्य के अन्दर के पशु को पहचानना चाहिए और उस पर नियन्त्रण कर उसे उन्हें हँकाना चाहिए। मैकियावेली ने जब यह बातें कही थीं तो मनुष्य जाति के कल्याण का दावा नहीं पेश कर रहा था, वह केवल शासक कैसे सत्ता हस्तगत करता है, कैसे अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा पूरी करता है, और सत्ता की तृष्णा के क्षण में कैसे उसके लिए अन्तरात्मा निरर्थक सिद्ध हो जाती है इसका विवरण मात्र कर रहा था, बिना एक पैगम्बर का लबादा ओढ़े हुए। पर नीत्शे का दावा था कि वह जरथुस्त्र की तरह पैगम्बर है जो आगामी महामानव की उद्घोषणा कर रहा है, और वास्तविकता यही थी कि वह अन्तरात्मा और सद्-असद् विवेक को उतना ही निरर्थक मान रहा था जितनी मैकियावेली अपने सत्ताखोर शासक के लिए !

स्पष्ट है कि नीत्शे का यह अवर्तमान को प्रतिपादित करने वाला दर्शन सामान्य मानवीय गौरव का विरोधी था। फलस्वरूप उसने ऐसी प्रवृत्तियों को प्रश्रय दिया जिसमें अपने को सामान्य जन से बहुत ऊँचा समझने वाले कतिपय अहंकारग्रस्त लोग अन्तरात्मा का सर्वथा तिरस्कार कर रक्त की शुद्धता या जातिगत श्रेष्ठता के आधार पर विश्व-विजय का स्वप्न देखने लगे। उनके सामने सत्य-असत्य का कोई प्रश्न कैसे उठ सकता था। (छायावाद युग ने इसी महामानव की उपासना शुरू की थी, इसी को अपना आदर्श माना था।) स्पष्ट है कि वह वर्तमान मनुष्य के यथार्थ को अपना मान ही कैसे सकता था ? वह तो वर्तमान मनुष्य के सत्य और असत्य से बहुत ऊपर, नैतिक मूल्यों से सर्वथा परे एक ऐसा प्राणी है जो असत्य को भी एक सेतु मानता है–महत्त्वाकांक्षा का, सत्ता प्राप्त करने का जिसके लिए नैतिकता की धुरी निरर्थक

है। अन्ततोगत्वा वह मैकियावेली की ही शिष्य-परम्परा में है क्योंकि मैकियावेली और नीत्शे का आग्रह एक ही बात पर है—अन्तरात्मा की निरर्थकता। इसीलिए जो आज ध्वस्त मानवीय अन्तरात्मा को पुनः स्थापित करना चाहता है उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह इस अवर्तमान महामानव की प्रतिमा को तोड़ने का प्रयास करे क्योंकि वह झूठे मूल्यों की जननी है, क्योंकि वह सामान्य मानवीय यथार्थ और मानवीय गौरव का निषेध करती है और अन्तरात्मा के ध्वंसावशेषों पर अपनी महत्त्वाकांक्षा का प्रासाद खड़ा करना चाहती है।

विच्छिन्न मनुष्य—नीत्शे शक्ति का उपासक था। पर मानवीय अन्तरात्मा की निरर्थकता की उद्घोषणा एक दूसरे वर्ग के चिन्तकों द्वारा भी हुई जो अपने को सौन्दर्य का उपासक मानते थे। डिकैडैण्ट नाम से अभिहित किये जाने वाले ये लेखक और विचारक, सौन्दर्यानुभूति या सुख के एक क्षण को ही परम मानते थे और उनकी दृष्टि में जीवन की चरम सार्थकता यह है कि वह सुखानुभूति के विभोर क्षणों की एक अटूट शृंखला बन जाय। इन सुखानुभूति के ह्रासोन्मुख अन्वेषकों के लिए नैतिक मूल्यों को प्रश्रय देने वाली अन्तरात्मा की कोई सार्थकता नहीं थी। उनकी दृष्टि में (आस्कर वाइल्ड के शब्दों में)—"कलाकार सुन्दर कृतियों का निर्माता होता है…वे श्रेष्ठ हैं जिनके लिए सौन्दर्य का अर्थ केवल सौन्दर्य होता है। नैतिक या अनैतिक जैसी कोई कृति नहीं होती या कृतियाँ या कलात्मक होती हैं या कलाहीन। बस !…किसी कलाकार में कोई नैतिक मूल्यानुराग नहीं होता। नैतिक मूल्यानुराग लेखक की शैली का एक अक्षम्य आडम्बर हैं।" इन ह्रासोन्मुखी सुखान्वेषी कलाकारों ने भी अन्तरात्मा को एक निरर्थक वस्तु मान लिया था और नैतिक मूल्यों के सम्बन्ध में चिन्ता करने को ये कलाकार अक्षम्य अपराध मानते थे।

किन्तु यदि हम इनकी मनोवृत्ति का सूक्ष्मता से विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि किसी न किसी अंश में ये अपने युग की नैतिक संकीर्णताओं के विरुद्ध विद्रोही थे और विद्रोह का जो रूप इन्होंने अपनाया था वह बड़ा ही विचित्र था। जैसे नीत्शे ने गौरव को वर्तमान मनुष्य से छीनकर उसकी प्रतिष्ठा आगामी महामानव में कर दी और वर्तमान मनुष्य और उसकी अन्तरात्मा को निरर्थक मान लिया, उसी प्रकार इन्होंने गौरव को केवल अपने कला-व्यक्तित्व में स्थापित कर शेष समस्त मानव-समाज को उससे रहित कर दिया था। उन्होंने विच्छिन्न मनुष्य की स्थापना करनी चाही जो समस्त सामाजिक सन्दर्भों से रहित अपनी एकान्त सुखानुभूति में गहरा डूबा हुआ अपने में ही पूर्ण है।

इस राह में एक खतरा था। वह मनुष्य जो अपने को विच्छिन्न मानकर ही अपने गौरव की रक्षा करता है, वह धीरे-धीरे इस परिणाम पर पहुँचने को विवंश हो जाता है कि यदि उसे अपने गौरव की रक्षा करनी है तो वह दूसरों के गौरव के ह्रास के द्वारा ही सम्भव हो सकती है। इस प्रकार विच्छिन्न मनुष्य के गौरव का अर्थ

है दूसरों के गौरव का क्षरण ! और इस प्रकार यह पद्धति भी हमें सामान्य मनुष्य के गौरव के ह्रास की ही ओर ले जाती है।

वस्तुतः मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा किसी एक व्यक्ति की सुखानुभूति या उसके कला व्यक्तितत्व की मौज की समस्या नहीं है। अन्ततोगत्वा वह भी एक व्यापक सामाजिक तत्त्व है और इसीलिए यदि व्यापक मानवीय गौरव की स्थापना हो सकती है तो उसी स्थिति में कि समाज के प्रत्येक छोटे-से-छोटे व्यक्ति के गौरव को वही महत्त्व दिया जाय जो बड़े-से-बड़े व्यक्ति को मिलता है। जब महामानव और लघुमानव का भेद कर एक के गौरव का बलिदान कर दूसरे के गौरव की वृद्धि न की जाय। किसी को भी विशिष्ट मानव मानकर चाहे वह आर्थिक आधार पर हो, चाहे सौन्दर्यानुभूति के आधार पर, चाहे जाति के विकास के आधार पर, उसे सामान्य नैतिक धरातल से परे का जीव मान लेना वस्तुतः व्यापक मानवीय गौरव और अन्तरात्मा की प्रतिष्ठा के विरुद्ध पड़ता है। उसकी स्थापना तो तभी हो सकती है जब हम सामाजिक समानता के सिद्धान्त को प्राथमिक मान्यता प्रदान करें, मनुष्य और मनुष्य को समान मानें, महाजन के समकक्ष लघु जन को रक्खें और दोनों के लिए समान नैतिक मूल्य और समान अधिकार और समान गौरव की घोषणा करें !

विकल्पहीन मनुष्य : संकल्पहीन मनुष्य—मार्क्स ने इसी तत्त्व को पहचाना था और उसने जो दर्शन प्रतिपादित किया उसने उसमें स्पष्ट रूप से यह कहा कि यह सारा दोष वस्तुतः इस व्यवस्था का है जिसमें वर्ग-वैषम्य के कारण प्रत्येक मूल्य मिथ्या सिद्ध हो रहा है। स्वातन्त्र्य, गौरव, करुणा, सौन्दर्य और सुख, ये शब्द निरर्थक हैं, असंगतियों से भरे हुए हैं और केवल तभी इनमें अर्थ की प्रतिष्ठा हो सकती है जब समाज का वैषम्य दूर हो जाय और वर्ग-वर्ग का भेद मिट जाय।

किन्तु वर्ग-वैषम्य के निराकरण के लिए मार्क्स ने जो राह बताई थी, उसमें इतिहास की द्वन्द्वात्मक गति की जो अनिवार्यता थी, उसमें पार्टी का जो अनियन्त्रित महत्त्व था और उसके आगे मनुष्य के निजी विकल्प की जो निरर्थकता थी, उसने भी मनुष्य की अन्तरात्मा को व्यर्थ ही सिद्ध किया और किसी न किसी रूप में 'नीति कौशल' को वर्ग-संघर्ष के लिए अन्तरात्मा से अधिक महत्त्व प्रदान किया। साथ ही मनुष्य से चिन्तन-स्वातन्त्र्य और विकल्प का आधार छीनकर, उसे इतिहास का नियन्ता न मानकर उसको गौरव से रहित बनाने में सफल हुआ। उसका परिणाम भी शीघ्र ही दृष्टिगोचर हुआ और जिस आन्तरिक नैतिक असंगति में मार्क्सवाद उलझ गया, उसके कारण दिनोंदिन मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा के सूत्र उसके हाथों से छूटते गये। मार्क्स ने इतिहास की अनिवार्यता का माध्यम बनाने के प्रयास में वस्तुतः जिस विकल्पहीन मनुष्य की सृष्टि की वह भी अन्तरात्मा और दायित्व की भावना को स्थापित नहीं कर पाया।

यूरोपीय चिन्तन में मार्क्सवाद के बाद फ्रायड का महत्त्व है। जहाँ मार्क्स ने

बाह्य इतिहास की द्वन्द्वात्मक गति की अनिवार्यता को स्थापित कर मनुष्य की अन्तरात्मा को व्यर्थ सिद्ध कर दिया था, वहाँ फ्रायड ने मनुष्य के अन्तर्मन का विश्लेषण कर यह स्थापित किया कि वह तो न जाने किन अज्ञात दमित वृत्तियों, अचेतन आकांक्षाओं से परिचालित होता रहता है। वह अपने अधिकांश कृत्यों का उत्तरदायी ही नहीं है क्योंकि वह उनको चेतन स्तर पर करता ही नहीं। उसका संकल्प मिथ्या है क्योंकि वस्तुतः उसके तर्क उसके विवेक से प्रेरित नहीं हैं। वे तो उसकी अचेतन आकांक्षाओं से प्रेरित हैं। सद्-असद् का विचार कर वह संकल्प करता ही नहीं है—कर ही नहीं सकता—वस्तुतः वह संकल्पहीन मनुष्य है, वह अचेतन वृत्तियों द्वारा परिचालित एक मशीन मात्र है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त यूरोपीय चिन्तन ने किसी-न-किसी रूप में किसी ऐसे तत्त्व को स्थापित किया है जिसकी आधारशिला विवेक और अन्तरात्मा का अभाव है। कभी उसने रहस्य के नाम पर अविवेक और असंगति को एक प्रभा-मण्डल से आच्छादित करने का प्रयास किया, कभी उसने किसी आगामी महामानव के अवतरण की कल्पना कर इस असंगति को उसके लिए आवश्यक मानकर उसका औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया, कभी मानवीय गौरव का गलत अर्थ लेकर मनुष्य की सभी से विच्छिन्न स्थिति की भ्रान्ति को प्रश्रय दिया, कभी "भविष्य के समाज में मानवीय गौरव स्थापित हो सकेगा। इसलिए आज उसका अभाव है तो होने दो"—ऐसे तर्क दिये। और कभी मनुष्य को मूलतः बर्बर असंस्कृत पशु मानकर उसकी पाशविक अचेतन वृत्तियों को ही सर्वोपरि मान्यता प्रदान की। ये सभी पद्धतियाँ अन्तरात्मा की व्यर्थता सिद्ध करती गयीं, और परिणाम यह हुआ कि एक दिन मनुष्य ने अपने को सिटवेल की पंक्ति के अनुसार "जीसस् और उसकी खाई के बीचोबीच लटके हुए पाया, जहाँ संसार का अन्त हो जाता है।"

क्रम और क्रमभग्न मनुष्य—सिटवेल, ईलियट और न जाने कितने कवियों और लेखकों ने इस संसार का अन्त होने की जो धारणाएँ कीं उसका ऐतिहासिक सन्दर्भ में एक विशेष अर्थ था। एक ओर मूल्यों का सम्पूर्ण विघटन था और दूसरी ओर मनुष्य में नूतन मूल्यान्वेषण का साहस और चेतना दोनों समाप्त होती जा रही थीं। इस प्रकार चेतना की वह परिधि जो संसार है वस्तुतः पूर्णतया विशृंखल और विघटित हो गया था और उसका केन्द्रबिन्दु मनुष्य अन्दर से बिलकुल रिक्त था। अपने गौरव और अपनी सार्थकता की प्रतिष्ठा और रक्षण के प्रति उसकी यह संवेदना जिसे हम अन्तरात्मा कहते हैं वह भी इस नये परिवेश में निश्शक्त और अक्षम थी।

यह नहीं कहा जा सकता कि जैविक विकास के नियम अन्ततोगत्वा अन्तरात्मा पर भी लागू होते हैं या नहीं, पर न उड़ने के काम आने वाले पंखों की भाँति अन्तरात्मा भी अन्त में चाहे संकुचित अक्षम हो जाये पर वह केवल शोभा बनकर नहीं रह जाती। वह अन्दर-ही-अन्दर विक्षुब्ध होती रहती है, कसकती रहती है, अन्दर जाकर चक्कर खानेवाली गोलियों की तरह यह समस्त मानवीय संस्कृति के अन्तराल को छिन्न-भिन्न

रचनावली

कर डालती है। इस आन्तरिक और बाह्य संकटों के द्विविध पाटों में पिसा हुआ मनुष्य कभी टूटे साधनों से गौरव की तुष्टि करने की प्रवंचना में भटकने लगता है, कभी गलत समझौते करता है और उसकी समस्त गति से प्रेरित एक अन्दर से रिक्त प्राणी की गति बन जाती है, उसका जीवन अन्तरात्मा द्वारा सुनियोजित, नैतिक मूल्यों द्वारा मर्यादित, निजी गौरव द्वारा सशक्त और सार्थक न रहकर–उत्तेजित आवेशपूर्ण क्षणों की एक असम्बन्ध और असंगत विशृंखल क्रमभग्नता बनकर रह जाता है।

संसार संसरणशील है, क्रम-प्रवाह ही उसकी वास्तविक प्रकृति है। अतः इस क्रमभग्नता का उल्लेख बार-बार यदि पश्चिमी लेखक 'संसार के अन्त को प्रतीक बनाकर करता है तो यह स्वाभाविक ही है।' अन्तरात्मा की धारणा इस क्रमभग्नता के सर्वथा विरुद्ध है। वह कारण-कार्य दायित्व और नियति की सुसम्बद्धता को स्थापित करती है। मनुष्य में विवेक दृष्टि होनी चाहिए, विकल्प की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, संकल्प की क्षमता होनी चाहिए, अपने विवेक के अनुसार आचरण उसे करना चाहिए, अपने आचरण के प्रति वह उत्तरदायी होता है और इस प्रकार वह अपनी नियति का निर्माण करता चलता है। किन्तु इस क्रमभग्नता के दौर में स्थिति बिलकुल विपरीत होती है, निरर्थक विशृंखल क्षणों का एक सीमाहीन सैलाब मनुष्य के चारों ओर है, मनु के जलप्लावन जैसा, और उसमें चारों ओर जो भी बहाव है वह उसे कहीं ले नहीं जाता, इधर से उधर थपेड़े देकर बहाता रहता है, तोड़ता रहता है। सैलाब में बहकर जो भी आता है वह उसे छूता हुआ, घायल करता हुआ, डँसता हुआ निकल जाता है, उससे मनुष्य का कोई मूल्यवान् सम्पर्क नहीं बन पाता, अपने चारों ओर की इस असम्बद्ध, निरर्थक उथल-पुथल में सारे सन्दर्भ टूट जाते हैं। एक अस्पष्टता की कुहेलिका उन्हें आच्छन्न कर लेती है, वस्तुतः मनुष्य के अन्दर न अन्तरात्मा रह जाती है जो संसार का मूल्यांकन कर सके और न उसके बाहर कोई व्यवस्था रह जाती है जिसका मूल्यांकन किया जाय। ऐसा लगता है जैसे एक शून्य दूसरे शून्य के सैलाब में फँस गया हो।

इस आन्तरिक और बाह्य क्रमभग्न मनुष्य की समस्या पर विचार करते हुए मैक्स पिकार्ड ने इसके कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण पक्ष उद्घाटित किये हैं। जर्मनी में नाजीवाद के उदय पर विचार करते हुए उसने स्पष्ट कहा है कि ऐसा भयानक अमानुषिक जीवन-दर्शन पनप नहीं सकता था यदि मनुष्य क्रमभग्न होकर अन्तरात्मा-रहित न हो गया होता। केवल ऐसे सन्दर्भहीन, मूल्यहीन, व्यवस्थाहीन परिस्थिति में ही हिटलर जैसा 'सारहीन व्यक्ति' इतना बड़ा अधिनायक बन सकता था। इस सैलाब में हरेक चीज हमारे सामने आती है, बिना किसी पूर्ण सन्दर्भ के, बिना किसी भावी अर्थ के और जिस क्षण वह हमारे सम्मुख आती है, चूँकि हम शून्य हैं अतः हमें पूर्ण रूप से उस समय भर देती है और दूसरे ही क्षण जब वह व्यतीत हो जाती है तब हम फिर शून्य के शून्य रह जाते हैं। ऐसी स्थिति में अन्तरात्मा को आबद्ध रखने वाली स्मृति

का पूर्ण विनाश हो जाता है। मनुष्य के अन्तर में उसके अतीत का कुछ भी शेष नहीं रहता। दर्पण की भाँति सामने से हटने पर परिस्थिति की छाया भी उस पर से हट जाती है, वह धुल-पुँछकर फिर शून्य का शून्य रह जाता है, वह भयानक-से-भयानक दुष्कर्म करता है और उसके बाद फिर उसकी आत्मा विस्मृति की अथाह खाई में डूब जाती है। उसे कुछ भी याद नहीं रहता। मैक्स पिकार्ड के ही शब्दों में–नाजीवाद की भयानकता उसका अत्याचार या उसकी हत्यावृत्ति नहीं है, बल्कि हत्या और अत्याचार भी तुरन्त भुला दिया जाता है। जो नाजी कल यहूदियों को गैस-चैम्बर में डालकर उनका दम घोट रहा था, सम्भव है आज वह डाकखाने की खिड़की पर बैठकर डाक-टिकट बेच रहा हो–और अपने कल के वधिक रूप को बिलकुल भूल चुका हो। यह नहीं कि अब वह सुधर गया है। वह कल फिर हत्या कर सकता है। जो अन्दर-बाहर सब शून्य है वहाँ मानव-जीवन का महत्त्व भी शून्य ही हो जाता है। यह सारा अमानुषिक व्यापार भुला दिया जाता है–हृदय की विराटता के कारण नहीं, बल्कि उस शून्य की विराटता के कारण जिसमें सब कुछ सोख लिया जाता है। ('हिटलर इन अव सेल्व्ज')

नाजीवाद की मनोभूमि के इस विश्लेषण से अकस्मात् मुझे याद आ गया कि पिछले दिनों 'धुरीहीनता' शीर्षक लेख से क्षुब्ध होकर किसी ने, जहाँ तक मुझे याद आता है शायद मेरे आदरणीय तथा प्रिय मित्र नलिनविलोचनजी ने लिखा था कि साहित्यकार को किसी प्रकार की भी संगति का विरोध करना चाहिए, और–शब्द तो याद नहीं, आशय यह था कि सर्वथा असंगत और परस्पर-विराधी बातें करना उसका अधिकार है। इसी प्रसंग में उन्हें शायद धुरी शब्द से फासिस्ट राष्ट्रों की भी याद आ गयी थी। यदि उनकी इस सलाह को साहित्यकार मानकर चले तो वह सचमुच फासिस्ट या नाजी के कितना निकट पहुँच जाय जिसका वर्णन ऊपर मैक्स पिकार्ड ने किया है। आगे और भी इस अन्तर्विरोधपूर्ण असंगत फासिस्ट का विश्लेषण करते हुए वह कहता है–"इस खण्डित यांत्रिक जगत् में–यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि गेस्टापो का सरदार हिमलर बाख का कुशल व्याख्याकार था या चेकोस्लोवेकिया का जल्लाद नाजी हैंड्रिल संगीत-कक्ष में मोजार्ट का संगीत सुनकर सिसक-सिसककर रोया करता था। वध और संगीत, गैस-यन्त्रणालय और संगीत-कक्ष दोनों साथ-साथ। वही कक्ष है–अभी संगीत की लहरियों से गूँजता हुआ, अभी मृत्यु की हिचकियों से कम्पित। गैस खोलकर कैदियों को घोटकर मार डालने के पहले मोजार्ट के संगीत में करुणाविभोर वधिक, या नाजी भेदिये की थैली में होल्डरलिन की कविताएँ यह केवल उसी संसार में सम्भव है जहाँ वस्तुएँ अपनी संगति में स्थित नहीं हैं वरन् खण्डित और विघटित हैं।··· केवल एक शून्य क्षण मात्र सत्य है। यह सोचना व्यर्थ है कि उसकी पूर्ति कौन कर रहा है–हत्या या बाख, गैस का जहर या होल्डरलिन की कविताएँ।···यहाँ संगीत और हत्या की संगति नियम के विरुद्ध नहीं है–वस्तुतः वही

रचनावली

संसार का नियम (?) बन चुकी है।"

अन्तरात्मा के पूर्ण विघटन के बाद, असंगति ही जगत् का नियम लगने लगती है, तथा विवेक और दायित्व, संगति और क्रमबद्धता से पूर्णतया मुक्त होने का वैसा ही आग्रह उठने लगता है जैसा नलिनविलोचनजी की टिप्पणी में मिलता है। इसका कारण यह है कि "नाजी बिना यथार्थ वाला मनुष्य होता है। वह किसी यथार्थ, किसी देश या किसी व्यक्ति को पदाक्रान्त कर सकता है, उसे दबोच सकता है, पर विघटित और क्रमहीन होने के कारण उसे आत्मसात् नहीं कर सकता अतः उसे नष्ट कर देने की कोशिश करता है।" और इसी यथार्थ से रहित व्यवस्था में उस प्रकार के मनोभावों का उदय होता है जो अन्दर से शून्य हैं क्योंकि शून्य में पनपे हैं–"एक विराट् शून्य में से कहीं कोई चीख उठता है, यह नहीं पता चलता कि (सेनानी या अनुयायी)–और तुरन्त हथियार उठ जाते हैं, (यह नहीं पता चलता कि) आक्रमण में या आत्मरक्षा में ! और इन हिटलरों और गोबेल्सों की यह चीख सिर्फ भीड़ के लिए नहीं होती, उनके अपने लिए भी होती है, मानो एक खाली कनस्तर, यह भुलाने के लिए कि वह नहीं है, अयथार्थ है, जोर से खड़खड़ाने लगे कि मैं हूँ ! मैं हूँ ! इस नाजीवाद में शून्य यह जानते हुए कि वह नहीं है, चीख-चीखकर कहता है कि उसका अस्तित्व है। और इस विराट् अव्यवस्था में कोई भी महामानवों की श्रेणी में अपना स्थान बना सकता है, एडोल्फ हिटलर तक।"

पर यह महामानव भी अन्ततोगत्वा उस विराट् शून्य की ही केन्द्रीभूत अभिव्यक्ति है जिसका नियम (?) ही असंगति है। परस्पर-विरोधी धर्म केवल शून्य में रह सकते हैं इसका प्रतिपादन तो शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन तक ने किया था। 'प्रतीत्यसमुत्पाद' की प्रणाली और है ही क्या ? पर कठिनाई यह है कि जहाँ तक सृजन और साहित्य-रचना का प्रश्न है जो क्रमहीन और असंगत है, वह भाषा की शक्ति का उपयोग नहीं कर सकता। भाषा का आधार ही आन्तरिक संगति है, एकसूत्रता जो कर्ता को क्रिया से आबद्ध करती है, क्रिया को कर्म से आबद्ध करती है। जहाँ जीवन में विघटन हुआ कि भाषा भी उसी विघटन को प्रतिबिम्बित करने लगती है।

सृजन का क्षण

सृजन का क्षण वस्तुतः इस रिक्तता, विघटन और विच्छिन्नता के क्षण से बिलकुल पृथक् होता है। उसमें हम क्षण को एक संगति, एक अर्थ, एक क्रम प्रदान करते हैं। झूठी शाश्वतता और निश्चयात्मकता के अन्धविश्वासपूर्ण आश्वासनों का तिरस्कार कर हम मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा और मानव-मूल्यों की खोज और उन्हें आत्मसात् करने की प्रक्रिया द्वारा क्षण को अर्थवान् बनाते हैं। वे जो ये सोच लेते हैं कि मानव-मूल्यों की खोज एक बार हो चुकी है, वे प्रतिष्ठित हो चुके हैं, अब हमें क्या

करना है–वे अन्तरात्मा को भुला देना ही सुविधाजनक मान लेते हैं, फलस्वरूप वे कभी भी सृजन के क्षणों का साक्षात्कार नहीं कर पाते। वे जो यह सोच लेते हैं कि मानव-मूल्यों की वास्तविक प्रतिष्ठा आज हो ही नहीं सकती, वह तो भविष्य की किसी समाज-व्यवस्था में होगी अतः आज हम जो कुछ भी मानव-विरोधी करें वह सर्वथा उचित है, संगत है–वे भी अन्तरात्मा को आगे के लिए स्थगित कर देते हैं। दोनों ही वर्तमान के प्रति अपने दायित्व से भागते हैं। वस्तुतः मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा प्रत्येक क्षण हो सके, यही हमारा दायित्व है। पूर्वजों ने किया था, या भावी पीढ़ियाँ उसे करेंगी, अगर इस आशा में हम वर्तमान को विवेकहीन, असंगत क्रमहीन क्षणों का एक विराट् जलप्लावन बना देते हैं तो इस अन्तरात्मा की पुनर्निर्माण कभी भी नहीं हो पायेगा। वस्तुतः मानवीय गरिमा के प्रति संवेदनाजन्य अन्तरात्मा की पुनः प्रतिष्ठा का एक वेदनापूर्ण दायित्व है जिसका निर्वाह हमें प्रतिक्षण करना पड़ता है। वे ही अर्थवान् क्षण हैं, आत्मोपलब्धि के क्षण हैं, आत्मोपलब्धि के–क्योंकि उन्हीं में हम अपने को पाते हैं–अर्थात् अर्थहीन शून्यता या अयथार्थमूलक अनस्तित्व से मुक्त कर अपने को सार्थक पाते हैं।

यह आत्मोपलब्धि डिकैडैण्ट कलाकारों की उस आत्म-रति से बिलकुल पृथक् है जो मानवीय गरिमा को केवल अपने में केन्द्रित मानती है और सभी से विच्छिन्न होकर अपने ही गौरव की रक्षा में तल्लीन रहती है। और उस गौरव की स्थापना के लिए कभी मात्र सुख की खोज में तल्लीन रहती है या अपनी असंगति को अपनी वैयक्तिकता मानने लगती है। यह आत्मोपलब्धि रहस्यवादियों की उस साधना से भी पृथक् है जिसमें वे ये मानते हैं कि सामान्य मनुष्य की नियति से उसे क्या लेना-देना, वे तो उसका अतिक्रमण कर सीधे किसी विराट् ब्रह्म से साक्षात्कार कर उसी में पूर्णत्व की प्राप्ति कर लेंगे। मानवीय गरिमा की वास्तविक प्रतिष्ठा के लिए 'समानता' की शर्त, पहली शर्त है। कोई भी दूसरे से बड़ा नहीं है, यदि किसी की भी गरिमा में हमारी गरिमा बाधक है, तो हम किसी अयथार्थ धरातल पर खड़े होकर वस्तुस्थिति का आकलन कर रहे हैं। नैतिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, तमाम धरातलों पर इस समानता की स्थापना के लिए निरन्तर संघर्षशील रहकर ही इसकी स्थापना का प्रयास हो सकता है। मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा की एक शर्त यह भी है कि हम मानवमात्र की नियति से अपने को आबद्ध समझें। केवल निजी मुक्ति या सामान्य मानवीय नियति का अतिक्रमण कर सीधे किसी अलौकिक सत्ता से साक्षात्कार कर पूर्णता प्राप्त करने की 'साधना' भी अन्तरात्मा के क्षरण और सामान्य मानवीय गौरव की उपेक्षा का द्योतक है। साथ ही वे समस्त सिद्धान्त जो मानव-नियति को पूर्वनिर्धारित मानते हैं वे मनुष्य से विकल्प की स्वतन्त्रता और संकल्प की गरिमा छीन लेते हैं। क्यों फिर मनुष्य के अपने निर्णय का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है, अपने विवेक की कोई सार्थकता नहीं रह जाती–वह केवल भारवाही पशु की भाँति जुए में कन्धे

रचनावली

डालकर ही अपना सहयोग दे सकता है। इसलिए बार-बार इस बात पर बल देना आवश्यक है कि "नियति नहीं है पूर्वनिर्धारित, उसको प्रतिक्षण मानव निर्णय बनाता-मिटाता है।" (अन्धायुग) हम अपनी अन्तरात्मा से निर्देशित होकर अपने विवेकपूर्ण आचरण के द्वारा जिस अंश तक उस नियति का साक्षात्कार करते हैं उसी अंश तक मानव नियति वास्तविक होती है। इसलिए प्रगति की जो धारणा पिछली दो-तीन शताब्दियों से प्रचलित रही है वह आज के सन्दर्भ में सार्थक नहीं हो सकती। उन धारणाओं के अनुसार प्रगति एक ऐसी प्रक्रिया है जो हमारे बाहर, हमसे स्वाधीन घटित हो रही है। या तो हम उस प्रक्रिया के साथ हैं, और यदि साथ नहीं हैं तो उसमें बाधक हैं, उसके विरोधी शिविर में हैं। यह एक खण्डित युद्धजन्य दृष्टि है जिसकी मूल प्रेरणा है राजनीतिक उपयोगितावाद। सृजन, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में प्रगति की धरणा अन्ततोगत्वा आन्तरिक ही हो सकती है। प्रगति (नियति का क्रमिक साक्षात्कार) हमसे निरपेक्ष नहीं है। वह हमसे आबद्ध है, उसके निर्णायक तत्त्व हम ही हैं। इसीलिए प्रगति के प्रसंग में, समानता की स्थापना और मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा 'अन्योन्याश्रित' हैं, अविच्छिन्न मूल्य हैं। इसे समझकर इसी दिशा में अन्तरात्मा की पुनःप्रतिष्ठा इस आसन्न संकट से मानव-मात्र का उद्धार कर सकती है। विवेक और साहस का यह मार्ग थोड़ा दुस्तर अवश्य है, किन्तु इसके अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं। बाकी सब पश्चिम में झूठे पड़ चुके हैं।

अवरुद्ध सृजनात्मकता : पुंस्त्वहीन नायक और सामाजिक अयथार्थ

अन्तरात्मा के ध्वंस के कारण मानवीय तत्त्व में जो सर्वांगीण विघटन समुपस्थित था उसका एक पक्ष यह भी था कि मनुष्य अपने को सृजन और निर्माण के लिए असमर्थ पाता था। उसकी आन्तरिक कुण्ठा और बाह्य सीमाएँ इस सीमा तक उसे पंगु और क्लीव बना रही थीं कि नियति का साक्षात्कार करने में अग्रसर होना तो दूर–वह अपनी निर्वीर्यता का ही करुणाजनक उद्घोष और लज्जाजनक प्रदर्शन करने के लिए विवश था। परिणाम यह हुआ कि सृजनात्मकता का ह्रास होता गया और दिनोंदिन मानवीय तत्त्व अनुर्वरता, अवरोध और निष्क्रियता का शिकार बनता गया।

नये सृजन की इस असमर्थता का सबसे स्पष्ट आभास हमें कथा-नायकों में मिलता है। वास्तव में कथा-नायक अपने-अपने समय के स्वीकृत समाजव्यापी प्रतिमानों के प्रतीक रहे हैं और ज्यों-ज्यों परम्परागत प्रतिमानों में अनिश्चय, विघटन और ह्रास आता गया, त्यों-त्यों कथा-नायक भी पंगु, क्लीव और पुंस्त्वहीन होते गये।

कथा-नायकों के माध्यम से यह जो संस्कृति का आसन्न संकट प्रतिभासित होता है, इसके द्विविध कारण थे–बाह्य और आन्तरिक। आन्तरिक कारणों पर हम विचार कर चुके हैं, अब बाह्य-व्यवस्था के अन्तर्गत पूँजीवाद के उदय ने किस प्रकार मानवीय तत्त्व के इस क्रमिक विघटन को लाने में मदद की इस पर हम विचार करेंगे।

19वीं सदी के उपन्यासों में हमें संघर्ष मिलता है, लेकिन उसमें हमें विजय-घोष की प्रतिध्वनियाँ भी मिलती हैं। उन्नीसवीं सती में उपन्यास के क्षेत्र में फ्रांस अग्रणी था। फ्रांसीसी कलाकारों ने धूमकेतु जैसे ज्वलनशील, चट्टान जैसे कठोर और दानवों जैसे अदम्य शक्तिशाली नायकों का निर्माण किया, ह्यूगो के 'नात्रीदेम' का कुबड़ा 'कासीमीडो' और 'ले मिजराब्ज' का जा वाल्जाँ अद्भुत चरित्र हैं। यदि उनमें से एक, अकेला चर्च, पेरिस के डाकू, चोर और जिप्सी तथा फ्रांस की समस्त राज्यसत्ता का

रचनावली

मुकाबला करने में समर्थ था तो 'ले मिजराब्ज' का नायक स्वयं एक पुराना पापी होते हुए भी जीवन के समस्त संघर्ष, घात-प्रतिघात, घृणा और प्रतिहिंसा के ऊपर प्रेम और मानवता की विजय घोषित करने में समर्थ था। बालजाक के 'फादर गोरियो' का नायक पेरिस के कब्रिस्तान पर खड़े होकर सारी सामन्तवादी और पूँजीवादी संस्कृति को चुनौती देने का साहस रखता था। स्टेण्डल का किशोर नायक अपने विकृत जीवन की प्रतीक नायिका को बड़े साहस से जीवन से निकाल फेंकता है, जोला के उपन्यासों में हमें बार-बार क्रान्ति का निर्घोष सुनाई पड़ता है और उसके 'जर्मिनाल' के पात्र नयी दुनिया के सृजन में संलग्न हैं। ब्रिटिश उपन्यासकार यद्यपि न तो उतने शक्तिशाली थे, जितने फ्रांसीसी, और न उतनी गहराई तक ही उतर पाते थे, फिर भी डिकेन्स आदि में मानवता की पराजय के स्वरों का आभास भी नहीं था। लेकिन आज के उपन्यासों के नायक बिलकुल दूसरी ही तरह के जीव हैं। उनमें न साहस है न शक्ति, न विध्वंस है न सृजन; न उनमें चुनौती देने की हिम्मत है न चुनौती स्वीकार करने की। जैसा कि ब्लैकमूर ने कहा है–

"इनमें विद्रोह का ठीक-ठीक सिलसिला नहीं जम पाता। इसकी बजाय परेशानी की भावना जोर पकड़ती जा रही है। निराशा की अनुभूति का चित्रण अधिकाधिक के साथ हो रहा है और कष्टभरी परिस्थितियों के गुम्फन की प्रवृत्ति बढ़ रही है। हमारी कृतियों के नायक का स्थान क्लीव, पंगु या विकृत-मना व्यक्तियों अथवा स्वयं कलाकार ने ले लिया है।"

इस वक्तव्य का अन्तिम वाक्य न केवल पाश्चात्य उपन्यास वरन् हिन्दी उपन्यासों पर भी लागू होता है। यशपाल के 'दादा कामरेड' और 'देशद्रोही' का नायक हो या 'अज्ञेय' के 'शेखर' का, जैनेन्द्रकुमार की 'सुनीता' का या इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित' का–अपने-अपने ढंग से हर एक क्लीव,पंगु, विकृत-मना या स्वयं कलाकार है।

यदि हम ध्यान से इतिहास के पन्ने उलटें तो हम देखेंगे कि विश्व-उपन्यास और पूँजीवाद का विकास लगभग समान्तर ही चला है। अट्ठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में ही पूँजीवादी और आधुनिक उपन्यास, इन दोनों के बीज पड़े। सामन्तवाद की तुलना में उस समय पूँजीवादी विचारधाराएँ मानवता को अधिक ग्राह्य मालूम पड़ीं। पूँजीवाद भी उस समय विकास की नयी दिशाएँ प्रदान कर रहा था और गतानुगतिक अन्धपरम्पराओं से निकालकर विश्व संस्कृति की एक नये स्तर पर स्थापना कर रहा था। चूँकि उसे मशीन और नये आविष्कारों की जरूरत थी अतः वह विज्ञान का हामी था, चूँकि अपने कारखानों में स्वतन्त्र मजदूरों की आवश्यकता थी अतः वह सामन्तवादी गुलामी के खिलाफ वैयक्तिक स्वतन्त्रता का पक्षपाती था। चूँकि उसे मशीनों के साथ काम करने के लिए पढ़े-लिखे मजदूरों की जरूरत थी अतः वह शिक्षा-प्रसार में संलग्न था। साथ ही साथ आरम्भ में उसका शिकंजा इतना मजबूत

नहीं हुआ था कि व्यक्ति अपने को इतना बेबस और लाचार महसूस करता और अपनी परिस्थितियों पर बिलकुल काबू खो बैठता। उस समय मनुष्य यह समझ रहा था कि वह अँधेरे में से निकलकर एक नयी संस्कृति का निर्माण कर रहा है, उसने सही रास्ता ढूँढ़ निकाला है, कुछ ही शताब्दियों की देर है और उसके बाद वह सत्य का विजेता हो जायेगा। इन्हीं कारणों से तत्कालीन उपन्यासों में पुरुषत्व का ओज, नये सृजन का विश्वास था। वह रोमाण्टिसिज्म का युग था और व्यक्ति के आधार पर विश्व-संस्कृति का सपना बुना जा रहा था। यद्यपि व्यक्ति और उसकी परिस्थितियों में संघर्ष उठ खड़े हुए थे, मशीनों की फौलादी निर्जीवता भी मनुष्य की आत्मा में प्रवेश कर रही थी, लेकिन अभी पूँजीवादी चक्र की निर्ममता इतनी तीखी नहीं हुई थी कि साहित्य की आत्मा को झकझोर दे। डिकेन्स के अधिकांश पात्र यद्यपि शैशव में निर्धन और निम्न वर्गों के थे लेकिन परिस्थितियों से लगातार संघर्ष के बाद वे किसी तरह उच्च वर्ग में स्थान पा जाते थे और उपन्यासों का सुखमय अन्त हो जाता था। इस प्रवृत्ति का सबसे कलात्मक निर्वाह विक्टर ह्यूगो के 'ले मिजराब्ज' में हुआ था। इस अन्तर्विरोध का समाधान एक सहज मानवता और करुणा भावना तथा आत्म-त्याग से हो सकता है, उसका ऐसा विश्वास था।

लेकिन व्यक्ति और व्यवस्था के इस भयानक अन्तर्विरोध और उसके फलस्वरूप मानव-आत्मा में पैदा होने वाले विकारों का सबसे पहला मर्मस्पर्शी चित्रण हमें बालजाक में मिलता है। वह स्वयं निम्न वर्ग का था, एक वकील का मुहर्रिर था, वह जानता था कि रुपये के आधार पर चलने वाला वह जीवन-संघर्ष इस समय मानव-स्वभाव की समस्त विकृतियों को उभाड़कर सामने ला रहा है। उसके अधिकांश पात्र रुपये के लिए किसी तरह का नीच से नीच अपराध करने में नहीं हिचकते, उनकी आत्मा में पाशविकता का आवेश आ चुका है, जीवन-संघर्ष ने उन्हें स्वार्थी और खूँख्वार बना दिया है। यह प्रतिहिंसा, विकृति निर्माता, स्वार्थ और पाशविकता, सभी पूँजीवादी शोषण की प्रतिक्रियाएँ थीं। पूँजीवाद ने मानवीय सम्बन्धों का आधार पारस्परिक प्रेम और सहयोग नहीं रहने दिया। उसने धन-संचय को ही प्रमुख स्थान दिया। और अब व्यक्ति की स्वतन्त्रता के आन्दोलन का अर्थ समझ में आने लगा। उसने व्यक्ति को इसीलिए स्वतन्त्र किया था, ताकि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण कर सके, दूसरा व्यक्ति भी तीसरे का शोषण कर सकने में समर्थ बन सके। आपस का सहयोग और सहानुभूति नष्ट होकर सभी भूखे जानवरों की तरह एक-दूसरे पर अपने दाँतों की तेजी की आजमाइश कर सकें। ईश्वर की जगह मशीनों ने ले ली थी और प्रेम की जगह रुपये ने।

यह एक गुनाह था। भयानक पाप जो मानव-आत्मा के विरुद्ध दिन-प्रतिदिन किया जा रहा था। परिणामस्वरूप तत्कालीन उपन्यासों में भी अपराधी पात्रों की बहुलता थी। कुछ उपन्यासकार ऐसे भी थे जिन्हें इन गुनाहों में ही स्वाद आने लगा

रचनावली

था जो इन्हीं को एक जीवन-दर्शन की ऊँचाई तक ले जाना चाहते थे। इन उपन्यासकारों को ह्रासशील, डिकैडैण्ट के नाम से पुकारा गया, यद्यपि गाटियेर, फ्लाबेयर, मोपासाँ और आस्कर इन सबों में पूँजीवादी संस्कृति के प्रति बेहद अरुचि और घृणा थी, लेकिन इनका विरोध समन्वयात्मक नहीं था और उसमें आत्म-रति की मात्रा बहुत अधिक थी। पर जैसा संकेत किया जा चुका है वे 'विच्छिन्न' लेखक थे और समस्त मानवता में समानता की प्रतिष्ठा न कर मानवीय गौरव की एकान्त प्रतिष्ठा का स्वप्न देखते थे। फिर भी फ्लाबेयर के पत्रों में जगह-जगह पूँजीवाद के विरुद्ध भयानक घृणा का आभास मिलता है। एक पत्र में तो उसने लिखा–"तीन दिन से मेरे सीने पर जैसे कुछ इकट्ठा होता जा रहा है। शायद बलगम हो। या शायद वह एक अदम्य और तीखी घृणा है जिसे अगर मैं इस सम्पूर्ण पूँजीवादी व्यवस्था पर थूक सकूँ तो मुझे बहुत चैन मिले।" मोपासाँ ने भी बड़ी निर्भयता से उच्चवर्गीय नैतिकता का पर्दाफाश किया और आस्कर वाइल्ड का एकमात्र उपन्यास 'पिक्चर ऑफ डोरियन ग्रे' स्वयं उसकी योजना के विरुद्ध उसके समस्त जीवन की एक कड़ी आत्म-विश्लेषणपूर्ण आलोचना बन गया और उसका भी अन्त एक गम्भीर नैतिक स्तर पर हुआ। पर जैसा मैंने पहले कहा कि इन डिकैडैण्ट उपन्यासकारों के नायक यद्यपि काफी आकर्षक थे, उनमें आवेश था लेकिन वे बाह्य जीवन और सामाजिक सन्तुलन के स्तर पर न उठकर केवल आत्मरति में ही तल्लीन रहे अतः उनमें वह सृजनात्मक चेतना बिलकुल विनष्ट हो गयी। उसका सबसे गम्भीर प्रतीक हमें मोपासाँ की मौत में मिलता है। मोपासाँ रोज अपना चेहरा शीशे में देखता था। एक दिन अपने भयानक अन्तर्द्वन्द्व के क्षणों में उसे लगा कि उसकी छाया शीशे से गायब हो गयी है और उसी दिन वह पागल हो गया। यह घटना इन डिकैडैण्ट कलाकारों की मनोवृत्ति की पूर्ण परिचायक है। वे सभी चीजों में अपनी प्रतिच्छाया ढूँढ़ते फिरते थे। बाह्य सत्य को ग्रहण करने की सामर्थ्य उनमें नहीं थी। और यही शक्ति के ह्रास, पतन, आत्मविश्वास की कमी, बेबसी और पुंस्त्वहीनता की ओर विश्व-उपन्यासों का पहला कदम था। और पुंस्त्वहीनता की ओर इस पहले कदम के साथ ही साथ हम बीसवीं शती में कदम रखते हैं।

जैसा हम पहले संकेत कर चुके हैं कि इस लाचारी और बेबसी का मुख्य कारण यह था कि मानवता पूँजीवाद के आश्वासनों पर अपना विश्वास खो बैठी थी, उसका दम पूँजीवादी शिकंजे में घुट रहा था लेकिन वह विद्रोह कर पाने में सर्वथा असमर्थ थी। उसमें केवल एक नपुंसक गुस्सा था, एक बेबसी और लाचारी की खीज, जो बेहद कटु होती है, बेहद तीखी होती है, लेकिन सृजनात्मक बिलकुल नहीं होती। 19वीं शती और 20 वीं शती की संक्रान्ति के जो उपन्यासकार डिकैडैण्ट नहीं थे उसमें भी असफल असन्तोष की कटुता और निश्शक्त असमर्थता मिलती है, यह बात दूसरी है कि हार्डी चूँकि अत्यधिक भावना-प्रवण और सुकुमार था अतः उसने इस लाचारी

को भाग्यवाद के रूप में रखा हो, और अनातोल फ्रांस चूँकि बड़ा ही गहरा बुद्धिवादी था अतः उसने इस कटुता का इजहार जीवन के समस्त आदर्श और गहराइयों का मखौल उड़ाने वाली शैली के रूप में किया हो, लेकिन यह स्पष्ट था कि मानव के आत्म-विश्वास की, विद्रोह की, निर्माण की और सपनों की रीढ़ टूट चुकी थी। एक अजब-सी अपराध-चेतना, किसी आनेवाली भयानक विपत्ति की आशंका, अन्दर का भयानक खोखलापन, पूँजीवाद की विकृतियों द्वारा उभाड़ी गयी हिंसक पाशविकता—ये सभी किसी भयानक विस्फोट की बाट जोह रही थीं। आदमी के दिमाग पर एक पागलपन चढ़ता जा रहा था और वह इस खूनी शिकंजे से छूटने के लिए हाथ-पैर पटक रहा था, लेकिन कुछ समझ नहीं पाता था। इंग्लैण्ड तो बनिया देश था जिसकी जनता की आँखों पर वहाँ के शासकों ने अब भी भारत तथा अन्य उपनिवेशों के सोने का पर्दा डाल रखा था, लेकिन यूरोप के सांस्कृतिक केन्द्र फ्रांस के साहित्य और चित्रकला में एक अकुलाहट, बेचैनी और दीवनापन पूरी तौर से झलक आया था। प्रसिद्ध डच चित्रकार वान गाघ ने अपने भाई के नाम लिखे गये एक पत्र में दक्षिणी फ्रांस के एक कस्बे का जिक्र करते हुए जो लिखा था वह आज समस्त पूँजीवादी संस्कृति के लिए सच साबित हो रहा था। उसने लिखा था—

"मैं इन लोगों को पिछले तीन महीनों से देख रहा हूँ, मैं तुम्हें बतलाता हूँ—ये सभी लोग विक्षिप्त हैं। उनकी आँखों को देखो। इस सारी आबादी में एक भी साधारण, स्वस्थ, तर्कसंगत व्यक्ति नहीं। मेरी अपनी राय तो यह है कि यह सारा नगर मिरगी के रोग से पीड़ित है। अपनी चेतना को कोड़े मार-मारकर ये भावावेश की चरम सीमा तक पहुँचा देते हैं कि मालूम होता है कि अब फिट आया और इनके मुँह से झाग निकलने लगा। लेकिन क्या वह फिट आता है ? ताज्जुब तो इसी बात का है। लगता है कि अब चरम सीमा आयी, अब चरम सीमा आयी, पर वह चरम सीमा आती नहीं। मैं तीन महीने से प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि अब कोई क्रान्ति हुई, अब कोई क्रान्ति हुई, अब कोई ज्वालामुखी फूटा। कितनी बार मैंने सोचा कि क्या शहर में रहने वाले यकायक पागल हो जायेंगे और एक-दूसरे की गर्दन उतारने के लिए व्याकुल हो उठेंगे। वह प्रथम प्रलय की घड़ी आ रही है। आयेगी और बहुत जल्दी। उस समय एक भयानक दृश्य उपस्थित होगा। हत्याएँ होंगी। आगजनी, बलात्कार, सर्वनाश क्या नहीं होगा ?"

लेकिन यह केवल दक्षिणी प्रान्त के एक कस्बे का हाल नहीं था, यह फोड़ा समस्त पूँजीवादी व्यवस्था के सीने में पल रहा था और जिस भयंकर विस्फोट की ओर वान गाघ ने इशारा किया था वह विस्फोट आया। 20वीं शती की पहली दशाब्दी बीतते-बीतते ही यूरोप की धरती सेनाओं की परेडों से काँप उठी, यूरोप के महासागर पनडुब्बियों से मथ गये और कैसर की तोपों ने गरजकर प्रथम पूँजीवादी प्रलय की घोषणा कर ही दी। उसके बाद आदमी पागल हो उठा एक-दूसरे का गला काटने

को और पूँजीवाद के गुलाम विज्ञान का भूखा कंकाल संस्कृति और मानवता की नींवें खोद फेंकने के लिए उतारू हो गया। लगातार पाँच साल तक यह नरमेध होता रहा। जब किसी तरह युद्ध रुका और तोपों का मुँह बन्द हुआ तो आदमी ने देखा कि उसकी आत्मा में इस भयानक नरसंहार के कारण एक ऐसा आतंक प्रवेश कर गया है जिसने उसका रहा-सहा पुंस्त्व भी छीन लिया है। उसकी नसों में विस्फोट का इतना तीव्र आघात पहुँचा है, उसकी आत्मा इतनी कुचल गयी है, उसकी पसलियाँ इतनी कमजोर हो गयी हैं कि उसके मन पर इतना गहरा धक्का लगा है कि युग-युगों से जमे हुए उसके मनोविकार, पशु-प्रवृत्तियाँ उभरकर ऊपर आ गयी हैं। संस्कृति का पूरा ढाँचा चूर-चूर हो चुका है, उसके सभी आदर्श बिलकुल खोखले और बेमानी साबित हुए हैं। जहाँ तक फ्रांस के साहित्य का प्रश्न था, उपन्यास क्षेत्र की उर्वरता समाप्त हो गयी थी। फ्रांस के तत्कालीन कथा-साहित्य में केवल ऐसे अपरिपक्व लेखक रह गये थे जिनकी मिठास के बारे में लारेन्स बिन्सो का कहना है कि–

"उनकी रचनाओं को एक स्थगित वयःसन्धि की गाथा कह सकते हैं। वे मनसा सम्पूर्णतः वयःसन्धि काल में रहते हैं और इसी में गौरव समझते हैं।"

इसके अलावा काफ़्का जैसे उपन्यासकारों में भी बेबसी और घुटन का बड़ा ही मार्मिक चित्र मिलता है, और जहाँ तक इंग्लैण्ड का प्रश्न है तत्कालीन संस्कृति की इस पुंस्त्वहीनता और दिवालियापन को सबसे मार्मिक चोट के साथ उपन्यासों में डी. एच. लारेंस ने रखा। वह स्वयं एक खान के मजदूर का लड़का था और अपनी अदम्य शक्ति और पैनी प्रतिभा के बल पर उच्च वर्ग में आ गया था। उसके पत्र, कविताएँ, यात्रा-विवरण और उपन्यास सबों में इस बात का स्पष्ट विवेचन मिलता है कि मानवता की सृजन-शक्ति पर पूँजीवाद का कितना भयानक प्रभाव पड़ा है और किस तरह उसने हमें निर्वीर्य कर दिया है। किस तरह मशीन की सभ्यता ने मानव के मन में ऐसी ग्रंथियाँ डाल दी हैं, उसकी सामाजिक चेतना और काम-प्रवृत्ति दोनों को इतना विकृत कर दिया है कि वह भयानक उलझन में पड़ गया है। प्रथम महायुद्ध के बाद का लगभग समस्त उपन्यास-साहित्य आन्तरिक उलझन और काम-विकृतियों का साहित्य रहा है। उसके नायक भी उतने ही उलझे हुए और विकारग्रस्त रहे हैं। इसके मूल में किस तरह पूँजीवादी व्यवस्था और महायुद्ध था, इसका स्पष्ट विवेचन स्वयं लारेन्स ने बर्टेड रसेल के नाम लिखे गये पत्रों में किया है। ये पत्र सन् 1915-16 में लड़ाई के ही दौरान में लिखे गये थे। लारेन्स कहता है–

"अपने दैनिक जीवन के लिए हमें आर्थिक आधार के अलावा कोई दूसरा आधार ढूँढ़ना पड़ेगा। हमें आर्थिक प्रश्न से तो छुटकारा पाना ही है। शासन पद्धति में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना होगा··· इस तरह की कोई न कोई बात करनी ही पड़ेगी। 'मानव की आत्मा मुक्त हो', इस पुकार का कोई अर्थ नहीं है यदि उसके जूते पाँव

रचनावली

को इस बुरी तरह काट रहे हों कि वह चल भी न पाये। हमारे सब आदर्श ढोंग हैं यदि हम पूँजी की शृंखलाएँ तोड़ नहीं डालते।"

ये लारेन्स के विचार थे—पूँजीवाद और उसके विरुद्ध क्रान्ति के विषय में। लेकिन पूँजीवाद ने मनुष्य को किस प्रकार मनसा क्लीव बना दिया, इस विषय में उसने प्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकार ई. एम. फार्स्टर का जिक्र किया। फरवरी, 1915 में फार्स्टर आकर लारेन्स के साथ ठहरा था। फार्स्टर अविवाहित था, उसका उल्लेख करते हुए लारेन्स ने लिखा—

"हमारे तन को मुक्त करने के लिए सचमुच एक क्रान्ति होनी चाहिए। अतृप्त मन में कभी मुक्त आत्मा का निवास हो सकता है यह सफेद झूठ है···फार्स्टर का ही उदारहण लो। क्या दुनिया का समस्त काव्य फार्स्टर के पुरुषत्व की प्यास बुझा सकता है, जब कि वह जानता है कि उसकी तृप्ति तो तत्कालीन शारीरिक समागम से हो ही सकती है। वह अपने को बहलाने की कोशिश करता है। यह देखकर तरस आता है।

"लेकिन वह हिचकिचाता क्यों है ? वह क्यों नहीं किसी नारी को ग्रहण कर अपनी मूल आदिम प्रवृत्ति को तृप्त कर लेता ?···क्योंकि वह जानता है कि केवल अपनी प्रवृत्ति अपनी प्यांस की तृप्ति पा लेना, उससे साक्षात्कार ही उसका ध्येय नहीं है। उसका अन्तिम ध्येय तो वह लगातार चलने वाली प्रक्रिया है जिसे सामाजिक भावावेश का नाम दिया जाता है—मानवता के प्रति प्यार, मानवता के लिए कुछ करने की इच्छा।··· लेकिन आपने यह शैतानी चक्कर देखा ! क्या मैं अपनी मानवता, अपने चिरपीड़ित प्रामेथ्यूज के पास जाऊँगा और उसे सुन्दर कहानियाँ सुनाऊँगा जबकि गीध उसकी अंतड़ियाँ नोचकर खा रहे होंगे। मैं शर्म से सर झुका लूँगा। मुँह फेर लूँगा। अपने बेकार, निरर्थक और निकम्मे शब्दों पर बेहद शर्मिन्दा होकर···फिर मैं किसी स्त्री के पास क्यों जाऊँगा ? पहले अपने-आपको जानने के लिए ? ठीक है ! लेकिन अपने को तो केवल तैयार करना है। किसलिए ? उस अज्ञात प्रदेश की खोज के लिए जिसे नारी का नाम दिया गया है। लेकिन फिर मेरा हृदय स्पष्ट कह उठता है, 'नहीं, नहीं !' मैं उस दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता। क्योंकि ऐसे अज्ञात प्रदेश की खोज करने वाले साहसी यात्री तो किसी देश की जनता की ओर से आते हैं, उनके ज्ञान की परिधि को और भी विस्तीर्ण करने के लिए। लेकिन मेरी जनता तो हिल भी नहीं सकती, उसे तो लकवा मार गया है।

"फिर मैं किसी नारी को क्यों आलिंगन करता हूँ ? क्यों उसे हृदय से लगा लेता हूँ ? आत्मखोज की अनुभूति को दोहराने के लिए ? पर मैं अपने को खोज चुका हूँ। मैं सीमाहीन नहीं हूँ। फिर भी जब मैं यौन-अनुभूति को दोहराता हूँ तो वह कोई नयी अनुभूति नहीं रहती। इसलिए जब कोई पुरुष किसी को ग्रहण करता है तो वह केवल पूर्वास्वादित अनुभूति को दोहराता है, कोई नयी अनुभूति की खोज

रचनावली

नहीं करता ! और यह स्व-स्खलन से किसी हालत में बेहतर नहीं।···

"जब ऐसी अवस्था आती है तो पुरुषों के पारस्परिक अप्राकृतिक व्यभिचार का प्रचलन बढ़ जाता है। क्योंकि वह स्व-स्खलन के अधिक समीप है··· लेकिन सशक्त आत्मा वाला व्यक्ति दूसरे के शरीर के प्रति बहुत आदर की भावना रखता है। चाहे वह व्यक्ति स्त्री हो या पुरुष। अतः वह यौन-क्रिया से तटस्थ निष्क्रिय रहता है। ऐसा, बिलकुल ऐसा ही फार्स्टर !"

लेकिन यह मानसिक पुंस्त्वहीनता केवल फार्स्टर में नहीं थी, यह उस समय की समस्त संस्कृति पर छा गयी थी। 13 वर्ष बाद लारेन्स ने अपना सबसे प्रसिद्ध उपन्यास 'लेडी चैटर्लेज लवर' लिखा जिसमें उसने उसके नायक लार्ड क्लिफर्ड चैटर्ले को एक उच्च वर्ग में उत्पन्न कहानी-लेखक के रूप में प्रस्तुत किया है जो फ्लैंडर्स में लड़ने जाता है और जब लौटकर आता है तो महायुद्ध में एक बम-विस्फोट के कारण उसकी कमर के नीचे का सारा हिस्सा बेकाम हो गया है। वह सन्तानोत्पत्ति के सर्वथा अयोग्य है। उसकी पत्नी अत्यन्त सुन्दरी है और पति को बहुत प्रेम करती है, किन्तु उसका मातृत्व भूखा रहता है जिसके कारण वह अपने पति के बागों की रखवाली करने वाले एक श्रमिक मेर्लस से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेती है और अपने पति को छोड़ देती है। उसके इस अत्यन्त शक्तिशाली उपन्यास के मूल में एक रूपक है जिसमें क्लिफर्ड उस बुद्धिवादी नपुंसक पूँजीवादी वर्ग का प्रतीक है जो अपना समस्त पुरुषत्व खो बैठा है और जिसमें सृजन की ताकत बाकी नहीं रही है। कोनी या लेडी चैटर्ले उस सांस्कृतिक परम्परा की प्रतीक है जो नये मानव, नये मनु-युग को जन्म देना चाहती है अतः उस श्रमिक से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेती है, जिसमें अभी पुरुषत्व बाकी है और अपने उच्चवर्गीय, पूँजीपति, बुद्धिवादी कहानी-लेखक पति से सम्बन्धविच्छेद कर लेती है। यह समस्त उपन्यास एक गम्भीर रूपक है जिसमें आधुनिक उपन्यासों के उच्चवर्गीय, बुद्धिजीवी लेखक और नायकों की मानसिक नपुंसकता का गम्भीर विवेचन है। जगह-जगह लारेन्स ने पूँजीवादी संस्कृति को उलट देने को चुनौती दी थी। जिस पत्र का जिक्र हमने ऊपर किया है, उसी के अन्त में लारेन्स ने लिखा था—

"इसलिए या तो हमें इस खोल, इस बाहरी आवरण, इस चौखटे को तोड़ डालना है या अन्दर ही अन्दर मुँह छिपाकर घुटते जाना है।··· लेकिन हम इस चौखटे को मिसमार कर देंगे। धरती, उद्योग, यातायात के साधन, आमोद-प्रमोद सभी जनता के होंगे, राष्ट्र के होंगे—तभी, केवल तभी हम सच्चे अर्थ में जिन्दगी जीना आरम्भ करेंगे।"

प्रथम महायुद्ध के समाप्त होते-होते पूर्वी यूरोप के एक देश में महान् क्रान्ति हुई जिसने पहली बार 'धरती, उद्योग, यातायात के साधन, आमोद-प्रमोद' सभी राष्ट्र की सत्ता के अन्तर्गत कर दिये—पर मुश्किल से 10-15 बरस तक यह नयी व्यवस्था

चली कि यह स्पष्ट होने लगा कि यह आशा कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य सच्चे अर्थों में जिन्दगी जी सकेगा, यह व्यर्थ है। यह ठीक था कि भौतिक उत्पादन और समृद्धि की दृष्टि से इस क्रान्ति ने कुछ प्रगति की किन्तु मनुष्य का आन्तरिक विघटन और मूल्यगत संकट ज्यों का त्यों कायम रहा। प्रारम्भ में न केवल यूरोप वरन् समस्त संसार के जागरूक बुद्धिजीवी बड़ी तेजी से इस क्रान्ति की ओर आकर्षित हुए, किन्तु उसमें अधिकांश का भ्रम टूटा और वे इस क्रान्ति के कड़े आलोचक बन गये। इस क्रान्ति का सूत्रपात, उसके आरम्भिक दिनों में बुद्धिजीवियों का उसके प्रति उत्साह, उसके बाद धीरे-धीरे उसकी असंगतियों का उभरकर आना, उसका सोवियत साहित्य पर प्रभाव–इसकी विवेचना बहुत विस्तार में अन्यत्र की जा चुकी है। (दे. प्रगतिवाद : एक समीक्षा) किन्तु उसका एक विशेष पक्ष है जिस पर अभी हमने विचार नहीं किया है।

जिन क्लीव, निराश, पंगु, असमर्थ नायकों का चित्रण हमें यूरोपीय साहित्य में मिलता है इसके सर्वथा विरुद्ध सोवियत साहित्य में बराबर इस बात पर आग्रह किया जाता रहा कि नये कथा-साहित्य में नकारात्मक नायक का बहिष्कार हो। सक्रिय नायक (पॉजिटिव हीरो का) चित्रण हो। सोवियत रूस अपनी पंचवर्षीय योजनाएँ पूरी करने में लगा था। वह चाहता था कि ऐसा नायक जो केवल चिन्तन और आत्मविश्लेषण में डूबा रहता है उसके किसी उपयोग का न होगा अतः वह सक्रिय नायक की तलाश में था जो बाँध बनाये, टैंक चलाये, पैदावार बढ़ाये। वह दृष्टिकोण कितना खोखला और सतही था, इसको किस प्रकार पार्टी के फरमानों के द्वारा लागू कराने की चेष्टा की जाती रही, उसके कितने भयंकर विनाशकारी परिणाम निकले; इसके विस्तार में यदि न जायँ तो मूलतः कहाँ पर इसमें भ्रान्ति आ गयी थी इसको समझ लेना आवश्यक है।

जैसा स्टीफेन स्पेण्डर ने, जो काफी दिनों तक खुद कम्यूनिस्ट पार्टी का सदस्य रहा है, स्थिति का विश्लेषण करते हुए कहा है कि कम्यूनिस्ट सिद्धान्त में सबसे पहली भ्रान्ति यही आती है कि वह मनुष्य की स्वाधीनता और व्यक्ति के महत्त्व की पूर्णतया उपेक्षा करता है। मानवीय मूल्य अन्ततोगत्वा मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में ही पनपते हैं और उनका विकास व्यक्ति से समूह या समाज की ओर होता है। कम्यूनिज्म व्यक्ति को पूर्णतया अस्वीकृत कर केवल एक अमूर्त निराकार समूह को प्रतिष्ठित करता है। फिर उस समूह के दायित्व को निर्धारित करने का काम राज के हाथ में होता है। परिणाम यह होता है कि मानवीय मूल्यों का स्थान राजनीतिक दुराग्रह ले लेता है और मनुष्य के बहुआयाम वाले विराट् जीवन को केवल राजनीति के छोटे से पैमाने से मापने की कोशिश की जाती है।

आर्थर केस्लर ने इसमें एक अधिनायक की असंगति को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है, वास्तविकता यह है कि जैसे आध्यात्मिक साधक (योगी) सामान्य मानवीय

रचनावली

नियम से पृथक् केवल अपनी पूर्णता का साक्षात्कार सीधे ब्रह्म में लीन होकर करने का दावा करता है, उसी प्रकार कमिसार वास्तविक प्रजाजनों या व्यक्तियों को कोई भी महत्त्व न देकर सीधे अधिनायक का अनुशासन स्वीकार कर और उसे प्रजाजनों से स्वीकार करवाकर अपने दायित्व की इतिश्री समझता है। सोवियत लेखक का सबसे बड़ा संकट यह रहा है कि पिछले 30-35 वर्षों तक वह केवल कमिसार के निर्देशन में रहा और अधिनायक से मिलने वाले संकेतों और आदेशों को ही वह जनता का यथार्थ समझने की भूल करता रहा। वस्तुतः सामाजिक अयथार्थ का सबसे विस्तृत साहित्य अगर देखना हो तो सोवियत साहित्य देखना चाहिए। और यह मत केवल मेरा नहीं है। अभी जब स्टालिन की मृत्यु हुई और ख्रुश्चेव ने बहुत-से रहस्योद्घाटन किये तो उसी समय पार्टी कांग्रेस में प्रख्यात सोवियत लेखक शोलोख़व ने कहा–"पिछले दिनों लिखा गया अधिकांश सोवियत साहित्य निष्प्राण है। ये लेखक यथार्थ से कोसों दूर हैं। ये सोवियत जनता के यथार्थ जीवन को जानते ही नहीं।"

सोवियत रूस के सरकारी लेखक, अधिकतर उस 'पॉजिटिव' नायक की प्रतिष्ठा में लगे हुए थे जो सक्रिय तो था पर स्वाधीन मनुष्य की भाँति नहीं, यन्त्र की भाँति–और यन्त्र कभी भी एक समर्थ सृजनशील नायक की कमी पूरी नहीं कर सकता।

यह सोवियत प्रयोग भी असफल रहा और पश्चिम के सामने उत्पन्न बौद्धिक संकट और भी गहराने लगा। क्या पश्चिम की सृजनात्मकता सचमुच पूर्णतया अवरुद्ध हो गयी है और अब केवल एशिया, अफ्रीका का भूभाग ही मानवीय मूल्यों की प्रगति में कुछ योग दे सकेंगे जो अभी तक प्रसुप्त रहे हैं। यह प्रश्न बार-बार संसार के चिन्तकों के सामने प्रस्तुत होने लगा।

रचनावली

एक भव्य अतीत का अनिश्चित भविष्य

यूरोप की दोनों व्यवस्थाओं के गहन आन्तरिक संकट का आभास बार-बार यूरोप के इतिहासकारों को होता रहा है। स्पेंगल से लेकर ट्वायनबी तक बार-बार इस बात की चेतावती देते रहे हैं कि यूरोपीय संस्कृति की उन्नति का चक्र अब पूरा घूम चुका है और अब मानवीय जाति के विकास की सम्भावनाएँ यूरोप के बजाय एशिया, अफ्रीका आदि महाद्वीपों में अधिक हैं। दोनों महायुद्धों के बीच यूरोप के कई लेखक, चिन्तक और बुद्धिजीवी एशिया की ओर आकर्षित हुए पर वस्तुतः द्वितीय महायुद्ध की परिसमाप्ति के उपरान्त एशिया की ओर अधिक ध्यान केन्द्रित हुआ। किन्तु यह देखने के पूर्व कि एशिया वस्तुतः मानवीय विकास में क्या योग दे सकता है हम उन अवधारणाओं का परीक्षण कर लें जो एशिया की परिकल्पना के साथ जुड़ी हुई हैं।

राजनीति, सैन्य संचालन या शीत युद्ध के धरातल पर 'एशिया' का चाहे जो भी अर्थ हो पर वह जो साहित्य या संस्कृति के धरातल पर सोचता है उसके लिए एशिया केवल विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ एक विविध जलवायु और जातियों वाला महाद्वीप मात्र न होकर एक ऐसी अवधारणा भी है जिसके अर्थ इतिहास के साथ-साथ बदलते रहे हैं, विकसित होते रहे हैं। लेखक और बुद्धिजीवियों के लिए उस निरन्तर विकसित होती हुई अवधारणा के रूप में एशिया को समझना आवश्यक है; बिना उसके हम एशियायी लेखक न तो अपनी परम्परा का सही-सही आकलन कर सकेंगे और न इंतिहास के इस गहन आकस्मिक मोड़ पर अपने दायित्व को ठीक-ठीक समझ सकेंगे।

इतिहास का यह एक अजीब व्यंग्य है कि आधुनिक युग में एक सूत्र में आबद्ध एशिया की अवधारणा का सूत्रपात यहाँ न होकर पश्चिम में हुआ। उद्योग-व्यापार और विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ जब उपनिवेशों की स्थापना शुरू हुई तो पश्चिम वालों ने एक विभाजक रेखा खींच ली। उस रेखा के एक ओर पश्चिम (Occident)

रचनावली

था और दूसरी ओर पूर्व (Orient)। एक उपनिवेश कायम करने का अधिकारी था और दूसरा उपनिवेशों की स्थापना के योग्य भूमि। एक शासन का अधिकारी था और दूसरा शासित होने का। उन उपनिवेश कायम करने वाले सुसभ्य विजेताओं की दृष्टि में अफ्रीका अपनी असुविधाओं के कारण 'अँधेरा महाद्वीप' था, पर एशिया आकर्षक था। वह था शानदार पूर्व (Magnificient Orient) जहाँ मणि, माणिक्य, मोती, रेशम, सोना, संगमरमर के राजमहल, विलासी बादशाहों के हरम, अर्द्धनग्न बेगमें और वीर योद्धाओं की भरमार थी। उन्हीं के साथ-साथ नटों, बाजीगरों और बहुरूपियों के शिविर भी थे। एशियाविषयक यह धारणा बड़ी ही दिलचस्प थी। एक ओर इन पाश्चात्य सौदागरों के सामने एशिया के सामन्तों और शासकों की अथाह दौलत की चकाचौंध थी और दूसरी ओर यहाँ की धार्मिक परम्पराओं और साहित्यिक विरासत से पूर्णतया अनभिज्ञ होने के कारण वे एशिया को अर्द्धसभ्य बर्बरों का देश समझते थे। कुछ मिलाकर उनके सामने जो एशिया था वह 'अरेबियन नाइट्स' का एशिया था। फ्रांस से तो जिस 'डिकैडेन्स' का सूत्रपात हुआ उसको यह कल्पित एशिया बड़ा ही मनोनुकूल लगा। घोर ऐन्द्रिक सौन्दर्य और साथ-साथ खूँख्वार बर्बरता भी। और इसीलिए, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि जब अन्तोई गैलां ने पहली बार सरल फ्रेंच में अरेबियन नाइट्स का अनुवाद प्रस्तुत किया तो रातोंरात सारे फ्रांस में सनसनी फैल गयी और तदुपरान्त एक के बाद दूसरी यूरोपीय भाषा का सामान्य पाठक वर्ग 'अरेबियन नाइट्स' के मोहपाश में आबद्ध हुआ और फिर तो अरेबियन नाइट्स के अनुकरण का सिलसिला बँध गया। ईरान की प्रेम-कथाएँ, भारत की सनसनीखेज प्रेम-कथाएँ, चीन के सामन्तों की अगणित उपपत्नियाँ और उनके विलास और उनके षड्यन्त्रों की कथाएँ यूरोप के बाजारों में सस्ते कामुक चित्रों से अलंकृत होकर बिकने लगीं। वह एशिया उपनिवेशवादियों के मस्तिष्क का एशिया था, ऐसा मस्तिष्क जो विलास का प्यासा था, जो एशिया के आर्थिक शोषण को न्यायोचित समझता था और सभ्यता के क्षेत्र में अपने को श्रेष्ठतर मानना चाहता था। अन्दर से रिक्त हो रहा था, अभिरुचियों के क्षेत्र में ह्रासोन्मुख था।

इसके बाद इतिहास के पन्ने पलटते जाइये, वारेन हेस्टिंग्स ने लूटपाट के साथ-साथ संस्कृत के अध्ययन की परम्परा शुरू की, गेटे ने अभिज्ञानशाकुन्तल पढ़ा, रूसी विद्वानों ने बौद्ध धर्म का अध्ययन किया, जर्मन विद्वानों ने वैदिक साहित्य का अध्ययन शुरू किया, ब्रिटिश म्यूजियम और अन्य यूरोपीय संग्रहालयों में एशियाई पाण्डुलिपियों, चित्रों तथा मूर्तियों का विशाल संग्रह पहुँचा—और साहस पश्चिम के सामने एशिया का एक नया अर्थ उद्घाटित हुआ—न जाने कितना पुराना महाद्वीप—जो यूरोप में सभ्यता के आरम्भ होने के युगों पूर्व से अगणित संस्कृतियों के उत्थान और पतन की लीलाभूमि रहा है। एक रहस्यमय महाद्वीप जो जाने कितनी विस्मृत जीवन-पद्धतियों का भेद छिपाये शान्त बैठा है। अथाह, रहस्यमय, गहन, भेदभरा।

विद्वानों, पुरातत्त्ववेत्ताओं और शोधकर्ताओं के सामने जो भी चित्र हो, पर सामान्य यूरोपीय मस्तिष्क में परिवर्तन और भी रोचक ढंग से घटित हुआ। एशिया सम्बन्धी पुरानी धारणा के जो नट और बाजीगर थे, वे रातोंरात ऋषि, महात्मा, द्रष्टा और पूर्वीय सन्त मान लिए गये और एक औसत यूरोपीय दिमाग में जादूगरी और रहस्य-दर्शन दोनों ही अध्यात्म के कक्ष में घुल-मिलकर एक हो गये। जो महान् चिन्तक है वह जरूर अतिप्राकृतिक चमत्कारों का अधिष्ठाता होना चाहिए। मैडम ब्लैवेट्स्की से लेकर आल्डुअस हक्सले तक इसी पगडण्डी पर चलकर एशिया के निकट आये। एशिया जो अरेबियन नाइट्स का एशिया था, वह अकस्मात् प्रेत-विद्या और वेदान्त-दर्शन का एशिया हो गया।

एशिया के बारे में पाश्चात्य मस्तिष्क की यह प्रतिक्रिया वस्तुतः यूरोपीय सभ्यता के एक आन्तरिक संकट की उपज थी। उपनिवेश स्थापना की प्रक्रिया जिस औद्योगिक क्रान्ति के साथ शुरू हुई थी वह औद्योगिक क्रान्ति अपनी उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच चुकी थी। यन्त्र-युग अपनी पूर्ण प्रखरता के साथ व्याप्त था और यूरोप का वह मनुष्य जिसने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का दुस्साहसपूर्ण अभियान किया था उसका प्रकृति पर पूर्ण आधिपत्य तो हो गया था पर कहीं-न-कहीं उसे यह लगने लगा था कि यह विजय उसे महँगी पड़ी है। ऐसी आन्तरिक उद्विग्नता, क्षोभ, असंगति, अशान्ति का संचार हो गया था जिसकी उसने कल्पना भी नहीं की थी। वह प्रयास करके भी उससे मुक्त नहीं हो पा रहा था और विजयी होकर भी वह पराजित अनुभव करता था। फलस्वरूप उसने एक नया आध्यात्मिक उपनिवेश खोजना शुरू किया जहाँ गहरी अज्ञात कन्दराओं में अथाह आध्यात्मिक सम्पत्ति भरी हुई हो जिसे जाकर वह हस्तगत कर ले। वह अब भी प्रकृति पर विजय प्राप्त करना चाहता था पर इस बार पाश्चात्य विज्ञान के माध्यम से नहीं, पूर्वीय योग-विद्या के माध्यम से। अनुसन्धानशालाएँ स्थापित करके नहीं, अध्यात्म-केन्द्र स्थापित करके। सौमरसेट माम से लेकर जेम्स हिल्टन तक के पात्र जब भारत या तिब्बत आते हैं तो इसी आशय से आते हैं। यही नहीं बल्कि यन्त्र-युग ने उनकी जीवन-पद्धति के जिन पक्षों पर विशेष दबाव डाला था उनका भी समाधान उनको एशिया में मिलता है। यन्त्र-युग का मनुष्य जो समय के अभाव से आतंकित है और काल के तीव्र विध्संक प्रवाह में हाथ-पाँव फेंक रहा है, डूब रहा है और पाँव टिकाने की जगह नहीं पा रहा है, उसे एशिया अद्भुत लगता है जहाँ समय के प्रवाह को बाँध लिया गया है—जहाँ यूरोपीय कथाकारों के कल्पना के अनुसार तिब्बत की रहस्यमयी घाटियों के बौद्ध मठों में काल-प्रवाह को जीतकर अमरत्व की उपलब्धि कर लेने वाले लामा निवास करते हैं, जहाँ आत्मा का अबाध प्रवाह जन्म-जन्मान्तर की सीमा को पार कर बहता रहता है, जहाँ उस विराट् शाश्वत एकरसता के आगे इसका कोई महत्त्व नहीं कि किसी युद्ध में कुछ देश उजड़ गये, या किसी अकाल में कुछ हजार लोग मर गये। विराट् प्रवाह में इसका

रचनावली

क्या महत्त्व ?

पर क्या सचमुच एशिया ऐसा था ? सच तो यह है कि लज्जाजनक वर्तमान की कटु अनुभूतियों से विक्षुब्ध, अपनी नियति का साक्षात्कार करने के लिए संघर्ष करती हुई एशियायी जनता को निकट से जानने वाला एशियायी लेखक जब यूरोपीय आईनों में प्रतिबिम्बित होने वाले एशिया के इन झूठे, रँगे-चुँगे—काल्पनिक चेहरों को देखता है तो उसे वे चेहरे कभी हास्यास्पद लगते हैं, कभी अपमानजनक। और उसे स्पष्ट दीख पड़ता है कि एशिया की परम्पराओं, उसकी वर्तमान विडम्बना और अपने भविष्य के सम्बन्ध में उसकी आकांक्षाओं का सही-सही आकलन अभी तक विश्व-साहित्य में नहीं प्रस्तुत हो सका। जो धारणाएँ फैली हुई हैं और मानी जाती हैं, वे भ्रमात्मक हैं और सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को एक अज्ञानपूर्ण कुहेलिका से ढँके हुए हैं। अगर एशिया सम्बन्धी इन यूरोपजन्य भ्रान्तियों को भूलकर हम सही ऐतिहासिक पीठिका में एशिया पर दृष्टिपात करें तो हमारे सामने एक बिलकुल दूसरा चित्र आयेगा। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही सारे एशिया में एक सर्वव्यापी जागरण के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे थे जिनका पूरा प्रभाव साहित्य के क्षेत्र में पड़ रहा था और नये सन्दर्भ में नये धरातल पर एक बौद्धिक विक्षोभ अपने को अभिव्यक्त करने लगा था। उसकी अपनी शक्ति भी थी पर उसकी अपनी सीमाएँ भी थीं। कहीं-कहीं उसमें कोई निश्चित दिशा नहीं थी, केवल विद्रोह था। कहीं-कहीं उसमें वास्तविकता को ठीक-ठीक न समझ पाने की उलझन भी थी। पश्चिम की टकराहट से एशिया ने चोट खाई थी और चाहे उसकी प्रतिक्रियाओं में प्रौढ़ता की कमी हो, उसकी कई अन्तर्धारणाएँ परस्पर मेल न खाती हों, कहीं-कहीं असंगतियाँ भी स्पष्ट दीखती हों, पर कुल मिलाकर वह बौद्धिक विक्षोभ एशियायी जागरण की भूमिका था, इसमें कोई सन्देह नहीं।

उदाहरण के लिए अगर भारत के ही तत्कालीन इतिहास को हम देखें तो हम पायेंगे कि उपनिवेशवाद के प्रति एक विशेष की भावना दिनोंदिन पनप रही थी। फलस्वरूप सुधारवाद का जो आन्दोलन चल पड़ा था उसके कई पक्ष ऐसे थे जिनकी इतिहास से संगति नहीं बैठती थी, पर मूलतः उस आन्दोलन का स्वर ही यह था कि हम पिछड़ गये हैं। अपने को सुधारेंगे नहीं तो नष्ट हो जायेंगे। इसकी दो प्रतिक्रियाएँ हम पर होती थीं—एक ओर तो हम सभी पाश्चात्य प्रभावों को घृणा, अविश्वास और आशंका की दृष्टि से देखते थे—नल के पानी से लेकर स्त्री-शिक्षा तक को, और दूसरी ओर हम प्रयत्न करते थे कि हमारे यहाँ भी वही भौतिक समृद्धि हो, यान्त्रिक उन्नति हो। इतना ही नहीं वरन् हम यह भी खोज निकालते थे कि हमारे यहाँ भी विमान थे और अगर जर्मनी वालों ने हवाई जहाज बनाया तो वह वेद पढ़कर। एक ओर हम मशीनों को राक्षसी सत्ताएँ भी मानते थे और पश्चिमी तौर-तरीकों को हानिकर भी मानते थे और दूसरी ओर हम तुर्की और जापान ऐसे राष्ट्रों को अनुकरणीय भी

मानते थे जिन्होंने सामाजिक क्षेत्र में या औद्योगिक क्षेत्रों में यूरोप को भी पछाड़ने में सफलता पा ली थी। दूसरे स्तर पर एक दूसरी प्रतिक्रिया थी। हम यह भी सिद्ध करने में लगे हुए थे कि हम भौतिक उन्नति में पिछड़ गये हैं तो क्या, आध्यात्मिक क्षेत्र में हमारा कोई मुकाबला नहीं है और जब यूरोपीय सभ्यता के कुछ थके, पराजित निर्वासितों को प्रेत-विद्या और रहस्य-दर्शन के प्रति अनुरक्त पाते थे तो हम इस अभिमान से फूल उठते थे कि अब भी हम जगद्‌गुरु हैं, अब भी संसार का उद्धार हमारी रहस्य-साधना से ही होगा। यह मानते हुए भी कि ये प्रतिक्रियाएँ केवल मानसिक कैशोर्य की सूचक थीं, हम यह नहीं भूल सकते कि उस ऐतिहासिक परिस्थिति में उपनिवेशवाद के विरुद्ध हमारे तीव्र बौद्धिक विक्षोभ के ही ये विभिन्न पहलू थे और इन्हीं परिस्थितियों में से गुजरकर धीरे-धीरे हमने आधुनिक युग की वास्तविकताओं को पहचाना और उनके सही ऐतिहासिक सन्दर्भ को समझा। इसीलिए आज ये जितनी भी अपरिपक्व लगें, पर उस समय इन्होंने अपनी ऐतिहासिक भूमिका का पूरा-पूरा निर्वाह किया।

उस समय अपनी परम्परा के प्रति हममें जो एक असाधारण आग्रह जाग उठा था, वह इसीलिए था कि अतीत का चिन्तन कर हम वर्तमान की क्षतिपूर्ति करते थे। इसका एक तात्कालिक महत्त्व तो अवश्य था क्योंकि हम एक निरंकुश विदेशी सत्ता से संघर्ष कर रहे थे, पर परम्परा के प्रति यह लगाव मूलतः भावोन्माद पूर्ण था, उसमें किसी भी गहरी दृष्टि का अभाव था। अतीत के प्रति केवल एक रूमानी भावोन्मादपूर्ण, या अन्य श्रद्धापूर्ण आग्रह के स्थान पर वैज्ञानिक दृष्टि रखने की चेतना हमें सबसे पहले मार्क्सवादियों ने दी, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतीत के गुण-दोष परखना और उनमें से दोषों को छोड़कर गुणों को ग्रहण करने की बात तो सुधारवादियों ने भी कही थी, पर मार्क्सवादियों, या प्रगतिवादियों ने एक अलग बात कही। वह यह कि परम्परा स्वतः एक गतिशील वस्तु है और वह भी ऐतिहासिक सन्दर्भ में समझी जानी चाहिए और उसमें बहुत कुछ ऐसा है जो सन्दर्भ के कारण कभी बहुत महत्त्वपूर्ण और अर्थवान् लगता हो, पर सन्दर्भ के अभाव में बिलकुल निरर्थक और महत्त्वहीन हो जाता है, केवल एक प्रतिक्रियापरक रूढ़ि के समान ऐतिहासिक प्रवाह में अवरोध बनकर अड़ जाता है। यह एक क्रान्तिकारी दृष्टि थी और अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक और वास्तविक थी। फलस्वरूप परम्परा के प्रति जो भी भावोन्मादपूर्ण रुख वाले लोग थे उनके मन में तीव्र प्रतिक्रिया हुई और काफी दिनों तक वे सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्र में जिस नयी धारणा को नापसन्द करते थे उसे 'प्रगतिवादी' कहकर उसके निन्दनीय और त्याज्य होने की घोषणा करते थे, किन्तु यह स्थिति अधिक दिन न रही। यह सचमुच ही समय का एक अत्यन्त निर्मम परिहास था कि कई कारणों से यह मार्क्सवादी बौद्धिक आन्दोलन स्वतः कतिपय ऐतिहासिक दायित्वों को अस्वीकार करता गया, कल्पित धारणाओं और भ्रान्तियों को प्रश्रय देता गया और अन्त में सारे

रचनावली

ऐतिहासिक सन्दर्भों से कटकर अलग जा गिरा और अक्सर यह विचित्र दृश्य देखने में आने लगा कि रूढ़िवादी और प्रगतिवादी एक सम्मिलित शिविर में एकत्र हैं क्योंकि वास्तविक ऐतिहासिक सन्दर्भ से दोनों ही विच्छिन्न हो गये हैं।

ज्यों-ज्यों मार्क्सवादी इस स्थिति में आते गये त्यों-त्यों अतीत के प्रति उनकी भी दृष्टि दोषपूर्ण होती गयी और बजाय निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टि के उनका आकलन केवल तात्कालिक नीति कौशल (Tactics) को प्रतिबिम्बित करने लगा। अगर उनके शिविर में जीवित प्रथम श्रेणी के स्वर्गीय लेखकों की कमी है तो कोई बात नहीं, वे प्रथम श्रेणी के लेखकों को अपने शिविर में ले आयेंगे और उनकी बैसाखी लगाकर दो हाथ ऊँचे खड़े होने का विज्ञापन करते रहेंगे। और इसके लिए अगर ऐतिहासिक तथ्यों को थोड़ा विकृत भी करना पड़े, या उनको नजर-अन्दाज भी करना पड़े, या कहीं-कहीं स्वतः मार्क्सीय नियमों की भी उपेक्षा करनी पड़े तो वह अपधर्म न गिना जा सकता है।

पता नहीं इससे प्रगतिवादियों को लाभ हुआ या हानि, पर इससे यह अवश्य हुआ कि परम्परा के बारे में एक स्वस्थ विवेकपूर्ण दृष्टि के विकास में क्षति पहुँची। यदि एशियायी परम्परा में सचमुच कुछ भी ऐसा न होता जो जीवन्त हो, प्राणदायी हो, तब तो बात दूसरी थी–पर दुखद यह था कि उसमें जो वास्तविक प्राणदायी तत्त्व थे, उनका उद्धार नहीं हो सका और बहुत जो कुछ रूढ़ था, प्राणहीन था, ऐतिहासिक सन्दर्भ से विच्छिन्न था, घातक था, उसे सर उठाने का मौका मिलने लगा।

इस गलती की शुरुआत वहाँ से हुई, जहाँ से मार्क्सवादियों ने यह भुला दिया कि मध्यकाल में एशियायी समाज संगठन की प्रकृति बिलकुल वही नहीं रही है जो मध्यकालीन योरोप की थी, और वर्ग-संघर्ष के सामान्य नियम और उनके परिणामों को जैसा यूरोप में लागू किया गया था, वैसा ही, बिलकुल वैसा ही हमने एशिया में लागू करना शुरू किया। फलस्वरूप हम यह पहचान ही नहीं पाये कि मध्यकाल में तमाम एशिया में विभिन्न क्षेत्रों में, विभिन्न चिन्तनधाराओं के अन्तर्गत मानवीय गौरव की जो धारणा विकसित हुई थी, वही उसकी मध्यकालीन सांस्कृतिक समृद्धि का कारण थी। किसी अलौकिक अतीन्द्रिय जगत् की ओर दिव्य-पलायन नहीं वरन् दिव्य की भी मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठा–यह एशिया की मध्यकालीन परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र रहा है। मानवीय गरिमा की इस प्रतिष्ठा की प्रकृति को और उसकी आधारभूमि को मार्क्सवादी चिन्तकों ने चाहे न समझा हो पर स्वतः मार्क्स ने इसको भली-भाँति पहचाना था और इसकी ओर स्पष्ट संकेत किया था। मार्क्स ने स्पष्ट कहा था कि यूरोप के विपरीत एशिया में ग्राम-संगठनों की एक ऐसी अद्वितीय परम्परा थी जिसने एशिया में सामन्तवादी व्यवस्था में भी साधारण जन के स्वाभिमान को और उसके अधिकारों को बनाये रखा। वह उस तरह विघटित नहीं हो गया जैसे यूरोप में हो गया था। पुनश्च चूँकि उस यूग में, गृहोद्योग की परम्परा एशिया में थी,

और यन्त्रों का विकास नहीं हुआ था, भूमिहीन कृषक-वर्ग विशेष नहीं था और प्रत्येक श्रमिक शिल्पी, उत्पादन के साधन अर्थात् अपने औजारों का स्वामी खुद ही था, अतः उसमें मानवीय गरिमा का तत्त्व बराबर बना रहता था। यही कारण था कि हमारे यहाँ दोनों प्रकार की चिन्तनधाराओं का निरन्तर संघर्ष रहा। रूढ़िवादी जो मानव-गरिमा के विरोधी थे—और विद्रोही चिन्तक जो बार-बार नये-नये सन्दर्भ में मानवीय गौरव की इस प्रतिष्ठा के ही प्रयासी थे।

इस दृष्टि से देखने पर सचमुच हमारे सामने अपनी परम्परा के पक्षों का बिलकुल नया अर्थ समझ में आने लगता है। बौद्ध धर्म एशिया का सबसे व्यापक धर्म रहा है और जब उसको लोक-परक रूप मिला तो उसके उस बोधिसत्त्व सिद्धान्त का ही विकास हुआ जिसके अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्य के अन्दर एक बोधि की कल्पना की गयी जो विकसित होकर बुद्धत्व के स्तर पर पहुँच सकती है। यही नहीं वरन् बोधिसत्त्व की इस सिद्धि को समाज से विच्छिन्न एकान्त तपस्या या किसी रहस्वादी की एकान्त साधना के रूप में न चित्रित कर उसका सम्बन्ध लोक-मंगल से जोड़ा गया। प्रख्यात बौद्ध कथा के अनुसार जब बोधिसत्त्व निर्वाण प्राप्त करने तुषित स्वर्ग को जाने लगे और जब उनके कानों में लोक का क्रन्दन-स्वर पड़ा तब वे रुक गये और अन्त में उन्होंने यह निर्णय किया कि वे स्वर्ग का परित्याग कर धरती पर ही रहेंगे और जब तक समस्त लोक का उद्धार नहीं होता तब तक वे स्वर्ग के अधिकारों का उपभोग नहीं करेंगे। इसी प्रकार मनुष्य की सम्पूर्ण प्रकृति को भोग के स्तर पर परिशोधित करने का व्रत लेनेवाली तन्त्र-साधना, 'मनुष्य से बड़ा कुछ नहीं है' की उदात्त घोषणा करनेवाली वैष्णव भक्ति साधना और कितनी ही अन्य मध्यकालीन धर्म-साधनाएँ इसी मानवीय गौरव को अपनी-अपनी सीमाओं के बावजूद प्रतिष्ठित कर रही थीं। इस समय में यह मानवीय गौरव जातीय संगठन के अन्दर बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे को बराबरी का दर्जा देने के रूप में विद्यमान था,[1] मुहम्मद ने इसे एक तीव्र भावावेश किया, सूफियों ने उसे दार्शनिक गहनता प्रदान कर दी—और इस्लाम का यह पक्ष इतना आकर्षक था कि रूढ़िवादी व्यवस्था के निरंकुश अत्याचार के कारण भारत की कई निम्न वर्ग की जातियों ने स्वेच्छा से इस्लाम स्वीकार किया था। मानवीय गौरव, स्वातन्त्र्य, समानता, स्वाधीन-चिन्तन, लोक-कल्याण, कर्मठता के ये तत्त्व

---

1. आ गया ऐन लड़ाई में अगर वक़्ते निमाज़
   किबला रू हो के खड़ी हो गयी सब फ़ौजे हिजाज़
   एक ही सफ़ में खड़े हो गये महमूदो अयाज़
   न कोई बन्दा रहा और न कोई बंदानवाज़
   मालिको ख़ादिमो मोहताजो गनी एक हुए
   उसकी दरगाह में पहुँचे तो सभी एक हुए।

   —इक़बाल

रचनावली

हमारी परम्परा के महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहे हैं, पर इन पर अभी तक समुचित आग्रह नहीं दिया जा सकता। एक ओर तो एशियायी समाज-व्यवस्था और इतिहास की मूल प्रकृति को मार्क्सवादी नहीं समझ पाये और दूसरी ओर जो अपनी परम्परा को केवल भावोन्माद का लक्ष्य समझते थे और यूरोपीय आँखों से अपनी परम्परा का आकलन करते थे उन्होंने यह मान लिया था कि 'रोपट्रिक' वाले बाजीगरों की तरह अधर में रस्सी फेंककर उस पर चढ़कर अन्त में, असीम में लीन हो जाना ही हमारी परम्परा की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा भी हमारी परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रही है, इसे हम लगभग भूल गये थे, क्योंकि यूरोप के बाजारों में तो माँग थी एशियायी रहस्यवाद की।

अपनी मध्यकालीन परम्परा की इस महत्तम उपलब्धि 'मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा' को भूल जाने का एक और कारण था। हमारे इस अतीत में और हमारे वर्तमान के बीच में जो लम्बी, गहरी और अँधेरी खाई थी, इतिहास था, उसका व्यवधान बहुत घातक था। उस मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा के बाद से लेकर कई ऐसे ऐतिहासिक अनुभव एशियायी अन्तरात्मा में पैठते गये कि हमें लगा कि वह सब आज हमारे लिए विशेष अर्थ नहीं रखता। एक तो इस अन्तर्विरोधों के महाद्वीप एशिया में मध्यकालीन परम्परा ने जहाँ मानवीय गौरव की एक दिशा में प्रतिष्ठा की, वहीं दूसरी दिशाओं में अगणित मानव-विरोधी रूढ़ियों को मान्यता दी और इन दोनों को इस प्रकार संलग्न कर दिया कि सारी परम्परा ही अन्ततोगत्वा असंगत लगने लगी। मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा करते हुए भी जो व्यवस्था स्त्री शूद्र को ज्ञान का भी अधिकारी न माने या शूद्र के तपस्या करने पर उसे वध का अधिकारी माने, या सवर्ण और अवर्ण में भेद करे, ऐसी व्यवस्था में सारी परम्परा का अर्थ कुण्ठित होने लगा और केवल रूढ़ियाँ ही चलती रहीं। दूसरे क्षेत्रों में सामन्ती महाप्रभुओं की कई शताब्दियों तक चलनेवाली निरंकुशता ने सामान्य जन के आत्मविश्वास को तोड़ा और जब देखा गया कि धर्मान्दोलन भी उन्हीं सत्ताशालियों का समर्थन कर रहे हैं तो धर्मान्दोलनों की सार्थकता में सन्देह होने लगा। और अन्त में जब पाश्चात्य उपनिवेशवादी आये और नये वैज्ञानिक अस्त्र और नयी पश्चिमी कूटनीति साथ लाये तब तो उस मानवीय गौरव की रही-सही सार्थकता भी समाप्त हो गयी और शोषण, दमन, निरंकुशता और अनैतिक सत्ताखोरी के जिन बर्बर युगों से होकर हम अपने वर्तमान तक पहुँचे उसमें हम यह लगभग भूल गये कि हम पहले किन शिखरों पर पहुँच चुके थे। सिर्फ रूढ़ियाँ थीं, हीन-ग्रन्थियाँ थीं जो फोड़ों की तरह साथ चली आयी थीं और विक्षोभ था और पराजय थी, पीड़ा थी पर उसके बावजूद इन समस्त शिकंजों से किसी तरह मुक्त होने की अदम्य इच्छा थी और उसके लिए संघर्ष करने की बलवती आकांक्षा भी।

उस समय जो स्वप्नों में डूबे रहे और वास्तविक एशिया से अपरिचित, पश्चिम

के थके हुए बुद्धिजीवियों की कल्पना के रहस्यवादी निष्क्रिय, शान्त एशिया को ही अपना वास्तविक चेहरा मानने लगे, उनकी बात जाने दीजिए—पर जो यथार्थदर्शी थे, वस्तुस्थिति को समझ रहे थे उन्होंने बड़ी वेदना से इस तथ्य को पहचाना कि हमारी परम्परा महान् है इसमें सन्देह नहीं पर संक्रमण की स्थितियों में पता नहीं कहाँ पर, क्या छूट गया कि वह हमें एक खुमार भले दे दे, या एक उत्तेजना भी दे दे, पर आज वह अपने-आप हममें प्राणदायक उष्ण रक्त का संचार कर सकने में अक्षम है। इतिहास के इस संकटपूर्ण क्षण में परम्परा हमको धारण नहीं कर सकती, परम्परा स्वतः हमको नहीं बचा सकती—सच तो यह है कि हम ही यदि चाहें तो अपने विवेकपूर्ण निर्णय से और साहसपूर्ण आचरण से परम्परा को बचा सकते हैं, परम्परा को—अनवरत प्रयास करके शायद फिर से जीवित भी कर सकते हैं अन्यथा यह समझना कि इतिहास के इस महाशून्य में जहाँ हम पहुँच गये हैं परम्परा अपने-आप हमको उसी तरह धारण किये रहेगी जैसे कच्छप पृथ्वी को धारण करता है, यह उस मानसिक कायरता और आलस्य का द्योतक है जो अपने गहन समसामयिक ऐतिहासिक उत्तरदायित्व को न समझना चाहती है, न उसको ग्रहण कर आचरण में उतारना चाहती है। इसके पहले कि हम इस गहन उत्तरदायित्व को भली भाँति हृदयंगम कर पाते, हमारे सामने एक दूसरी ऐतिहासिक चुनौती प्रस्तुत हो गयी।

एशिया अभी अपने मुक्ति-संग्राम में ही लगा हुआ था कि शासकों के शिविर से यह समाचार आने लगे कि पश्चिम का सर्वतोमुखी ह्रास प्रारम्भ हो गया है। विज्ञान, धर्म, दर्शन, नैतिक मूल्य, समाज गठन, जातीय श्रेष्ठता, साहित्यिक स्तर सभी तेजी से अस्त हो रहे हैं। और यह सब केवल बौद्धिक स्तर पर घटित हो रहा हो ऐसा भी नहीं, वहाँ का मनुष्य तो अकस्मात् भयभीत हो उठा है, अपने से, अपने पड़ोसियों से, अपने अतीत से, अपनी भावी नियति से—और उस भय ने उसका नैतिक बोध छीन लिया है और सारे यान्त्रिक विकास का उपभोग वह केवल इसीलिए कर रहा है कि कैसे अधिक-से-अधिक विघातक अस्त्र ढूँढ़ निकाले और सारी मानव-सभ्यता को नष्ट कर दे। पश्चिम में अकस्मात् इधर भी और उधर भी ऐसी व्यवस्थाएँ पनप आयी हैं जो आर्थिक सुविधाएँ देकर, या आर्थिक सुविधाएँ छीनकर मनुष्य को वस्तुधर्मी या पशुधर्मी बनाने पर तुल गयी हैं। और ऐसा लगने लगा कि पश्चिमी मनुष्य ने जो कुछ विकसित किया था वह सब गलत दिशा में था, और वह सब आज मानवीय गौरव को ध्वस्त करने पर तुल गया है। और न केवल इस ख्याल से कि अखिल मनुष्य जाति की नियति एक है, पृथक्-पृथक् खण्डों में विभाजित नहीं, हम एशिया के लेखक और बुद्धिजीवी यूरोप के इस संकट के प्रति जागरूक और संवेदनशील हो उठे, वरन् ठोस ऐतिहासिक वस्तुस्थिति ने इस बात का स्पष्ट संकेत दिया कि इस वात्याचक्र से एशिया बच नहीं सकता, और जब हिरोशिमा पर पहला अणुबम गिरा तब अकस्मात् हमने चौंककर अनुभव किया कि हम अब तक इतिहास की इस

रचनावली

चुनौती को अनसुनी करते रहे तो करते रहे पर अब इसे अनसुनी न कर सकेंगे।

वे जो राजनीतिक चिन्तक हैं, सैन्य-विशारद हैं, कूटनीतिज्ञ हैं, सत्ताधारी हैं, उनके लिए इस ऐतिहासिक चुनौती का अर्थ यह हो सकता है कि एशिया में अमुक व्यवस्था को अधिक-से-अधिक फैलाओ, या उससे उसे बचाओ। पर हम जो लेखक हैं, बुद्धिजीवी हैं, चिन्तक हैं, मानव आत्मा के शिल्पी हैं, हमारे लिए इस संकट का ज्यादा गहरा अर्थ है। हमारे लिए प्रश्न उस सैन्य-शिविर या उस सैन्य-शिविर का नहीं है, हमारे लिए तो प्रश्न यह है कि यह सम्पूर्ण सभ्यता जिन मूल्यों पर आधारित थी वे झूठे पड़ गये हैं, परिणाम यह है कि एक भयानक विघटन उपस्थित है, शब्द और अर्थ के बीच में विघटन है, आचरण और धारणा के बीच में खाई है, भाषा अशुद्ध और अक्षम हो गयी है, अनुभूति के धरातल विक्षुब्ध हो गये हैं और मिथ्या को प्रश्रय देने लगे हैं, और परिणाम यह है कि मानवीय गौरव को कभी प्रजातन्त्रवाद और कभी जनवाद और कभी अध्यात्मवाद और क़भी स्वातन्त्र्य, कभी दायित्व और कभी अलौकिकता के नाम पर प्रतिक्षण आहत और पददलित किया जा रहा है। यही नहीं, वरन् हमारे बन्धु तो एक ऐसे भयानक भ्रमजाल में उलझे दीख पड़ते हैं कि वे जिन मूल्यों का नारा लगाते हैं, ठीक उसी के विपरीत आचरण करते पाये जाते हैं। स्वातन्त्र्य और मनुष्य के मौलिक अधिकारों का प्रचार करनेवाले बसों में, स्कूलों में, सड़कों पर निहत्थे निरपराध नीग्रों का हनन करते पाये जाते हैं, और 'संसार के मजदूरो एक हो' का आह्वान देनेवाले मजदूरों की न्यायसंगत हड़तालों को तोड़ते हुए और हजारों निहत्थे विद्रोही मजदूरों और विद्यार्थियों की छाती पर टैंक चढ़ाते हुए दीख पड़ते हैं। और मानवीय गौरव के प्रति ये भयानक पाप जिन विचारधाराओं के नाम पर होते हैं वे मानव-कल्याण का दम भरती हैं। और उससे भी ज्यादा आश्चर्य और लज्जा की बात यह है कि हमारी अन्तरात्मा इसको सहन करने की अभ्यस्त होती जा रही है। हम इसे चुपचाप पीते हैं या अद्भुत तर्कों की अवतारणा कर असंगतियों को ढँकने का प्रयास करते हैं।

पिछले दिनों यूनेस्को के अधिवेशन में पण्डित नेहरू ने इसी स्थिति की ओर संकेत करते हुए इसे Collapsee of Conscience (अन्तरात्मा का विध्वंस) की संज्ञा दी थी। आज निस्सन्देह एशिया के चिन्तकों, लेखकों और बुद्धिजीवियों पर इतिहास का यह गहन दायित्व आ पड़ा है कि वे इस ध्वस्त अन्तरात्मा की पुनः प्रतिष्ठा करें। जब हम यह कहते हैं कि एशिया के लेखकों पर यह दायित्व आ पड़ा है तो हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमारा यह आशय कदापि नहीं है कि नैतिक स्तर पर हम अपने को यूरोपीय या किन्हीं अन्य बुद्धिजीवियों से आवश्यक रूप से उच्चतर मानें। जिन्होंने इस प्रकार की पारस्परिक स्पर्द्धा और हम ऊँचे हैं की झूठी अहंकार भावना फैलाई है, वे मूलतः उसी हीन ग्रन्थि के शिकार हैं जिसके फलस्वरूप एक समय में हम यह कहते थे कि हवाई जहाज हमने वैदिक युग में ही खोज निकाले

थे। पर फिर भी हम एशिया की ऐतिहासिक स्थिति को दृष्टि में रखकर कहते हैं, हम यह मानते हैं कि हमारे यहाँ अभी यान्त्रिक युग की वह निरंकुश अमानवीयता नहीं आयी है, उद्योगों का केन्द्रीकरण उस सीमा तक नहीं हुआ। भीड़ संस्कृति अभी सर्वव्यापी नहीं हुई है, साथ-ही-साथ पिछले शोषण, पराजय और अवमानना ने हमको गहरी वेदना दी हैं, उसने कुछ ऐसे संस्कार भी दिये हैं जो महत्त्वपूर्ण हैं। मानव-मूल्यों की नवप्रतिष्ठा की इस दिशा में यूरोपीय लेखकों को हम अपने से पृथक् नहीं मानते, क्योंकि यद्यपि यह सच है कि कुछ यूरोपीय लेखकों ने पूँजीवादी व्यवस्था की कतिपय असंगतियों और कुछ ने अधिनायकतन्त्र के दबावों और प्रलोभनों के कारण अन्तरात्मा को हिरण्यमय पात्र से ढँक दिया (यह एशिया में भी हुआ) पर अधिकांश अपनी सीमाओं और विवशताओं के बावजूद नैतिक स्तर पर संघर्ष करते रहे और मानव-विरोधी व्यवस्थाओं और प्रवृत्तियों से मोर्चा लेते रहे। पर यह भी ठीक है कि उनके सांस्कृतिक संकट का अतिरिक्त और बाह्य दबाव उन पर इतना अधिक था कि उन सबके प्रयास अधूरे रह गये—रेगिस्तान में जाकर खो जानेवाली नदियों की भाँति। हम एशियायी लेखक उनके उन अधूरे प्रयासों को भी पूर्णता दे सकते हैं क्योंकि हमें इतिहास ने एक आशाजनक भविष्य का नया उत्साह दे रक्खा है और अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता।

'अरेबियन नाइट्स' की एशिया से इस एशिया तक की यात्रा में कैसी अजीब मंज़िलें हैं, कितने अकल्पनीय फासले हैं, और ये सब फासले हमने तय किये हैं सिर्फ सौ, डेढ़ सौ वर्षों में। हममें ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो अब भी इस परिवर्तन के ऐतिहासिक अर्थ को समझ नहीं पा रहे हैं, वे उलझे हुए हैं। अस्पष्ट हैं। समस्याओं को गलत परिप्रेक्ष्य में उठाते हैं। पर यदि हमें अस्त होते हुए पश्चिम के साथ अस्त नहीं होना है तो हमें अपना ऐतिहासिक दायित्व सम्हालना ही होगा। पर इतना हमें अवश्य ध्यान में रखना है कि इस दिशा में भी हम वे गलतियाँ न अपनाएँ जो यूरोप ने की थीं। हममें यह गलत अहंकार कभी भी न आना चाहिए कि यूरोप तो क्या मानव जाति का कोई भी अंश अपनी सम्भावनाओं और धरातल में हमसे नीचा है। हममें प्रकृति-प्रदत्त श्रेष्ठता है, ऐसा अहंकार केवल आर्य-नाजी फैसिज्म के एशियायी संस्करण को जन्म देगा। हममें उस विजेता का गर्व भी नहीं होना चाहिए जिसे लगता है कि इतिहास की हवा उसकी ओर बह रही है अतः वह सक्षम है, समर्थ है—अतः निरंकुश है। हममें वह कट्टरता भी नहीं होनी चाहिए कि हम एक हाथ में अपने सम्प्रदाय ग्रन्थ और दूसरे हाथ में तलवार या हथौड़ा लेकर निकल पड़ें कि हमारा मत ही एकमात्र प्रामाणिक मत है। इसमें शामिल हो वरना तलवार के घाट उतरो। हममें वस्तुतः व्यापक संवेदना होनी चाहिए कि विश्वव्यापी मानवीय विघटन की चरम वेदना को हम आत्मसात् कर सकें चाहे वह एशिया में हो, या यूरोप में, या अफ्रीका में।

रचनावली

निर्माणपरक दायित्व और राष्ट्र

जब हम यह कहते हैं कि हमें विश्वव्यापी मानवीय संकट की वेदना को आत्मसात् करना चाहिए तो इसके पीछे केवल यही तर्क नहीं है कि विज्ञान ने समस्त विश्व के विस्तार को कम कर दिया है और एक क्षेत्र का संकट दूसरे क्षेत्र को अनिवार्यतः प्रभावित करता है, बल्कि यह भी है कि मानव की अन्तरात्मा एक ओर अविभाजित है और उसके किसी अंश में यदि पक्षाघात है, उसके कोष्ठकों में उष्ण प्राणदायी रक्त नहीं पहुँच रहा, तो दूसरे अंश का दायित्व है कि अपने साथ-साथ वहाँ भी रक्त पहुँचाये, उसे जीवन-दान दे। इसी दृष्टि से अभी तक पश्चिम में और पूर्व में–(और विशेषतया भारत तथा उसी प्रकार के पराधीन उपनिवेशों में और पश्चिमी शासकों में) जो मानव-विरोधी सम्बन्ध कायम था, जिसने मिथ्या मूल्यों को प्रश्रय दे रखा था, उसके स्थान पर हम सहज मानवीय धरातल पर अपने सम्बन्धों को पहचानें और ऐतिहासिक वेदना और नियति में सहभागी हों तथा मानवीय गौरव की व्यापक प्रतिष्ठा करें।

मानवीय गौरव की व्यापक प्रतिष्ठा करने की प्रक्रिया में हम यह पहचान सकेंगे कि यदि कहीं किसी भी मनुष्य के गौरव की क्षति होती है तो वह मनुष्य मात्र के गौरव की क्षति है। यहाँ पर यह बात समझ लेनी आवश्यक है कि लेखक के इस विशिष्ट दायित्व में राष्ट्र कोई निरपेक्ष इकाई नहीं है, राष्ट्र भी व्यापक मानव-नियति के प्रसंग में सार्थकता पाता है। साहित्य में राष्ट्र-निर्माण को व्यापक मानवीय नियति की पृष्ठभूमि में समझना श्रेयस्कर होता है। तभी यह सम्भव हो पाता है कि हम उस उच्चकोटि के राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण कर सकें जो मानव-मात्र की संवेदनाओं को स्पर्श कर सके। अक्सर लोग इसे भुलाकर केवल अपना राष्ट्र, अपनी जाति, अपनी परम्परा की बात कठमुल्लेपन के स्तर पर करने लगते हैं, तब वे वस्तुतः राष्ट्र-निर्माण के मौलिक प्रतिमान को ही भुला देते हैं। अभी कहीं पढ़ा था कि जैनेन्द्र से किसी ने पूछा–"आज भारत में साहित्यकार का क्या दायित्व होना चाहिए ?" जैनेन्द्र ने अपनी विलक्षण शैली में उत्तर दिया–"भारत में ? इसके क्या मानी ? साहित्यकार

का दायित्व भारत में कुछ और होना चाहिए, भारत के बाहर कुछ और, यह बात तो समझ में नहीं आती !"

इसी दृष्टि से वह राष्ट्रीय कठमुल्लापन जो राष्ट्र की परिधि को ही लक्ष्मण रेखा मान लेता है और विश्वव्यापी मानवीय चेतना के धरातल की उपेक्षा करता है, हमारे दृष्टिकोण को संकीर्ण बनाकर वास्तविक राष्ट्रीय निर्माण में बाधक होने लगता है। गह शताब्दियों की लम्बी गुलामी हममें दो विचित्र प्रतिक्रियाएँ छोड़ गयी है। या तो जो कुछ विदेशी है उस सबके प्रति हममें एक अन्धश्रद्धा जाग जाती है, या जो कुछ देशी नहीं है उस सबको हम अवश्यमेव गर्हित, निन्दनीय और अस्पृश्य मानने लगते हैं। ये दोनों ही अस्वस्थ प्रतिक्रियाएँ हैं, गुलामी के चिह्न हैं। जो हमारे चिन्तन और साहित्य का श्रेष्ठतम है, उसकी संगति उससे न बैठ पाये जो विदेशी चिन्तन और साहित्य का श्रेष्ठतम है, यह बात समझ में नहीं आती। अन्ततोगत्वा मनुष्य तो सभी जगह एक है और उसकी नियति भी राष्ट्रीय सीमाओं या राजनीतिक शिविरों में बँटी हुई नहीं है। इसीलिए उस व्यापक धरातल को आत्मसात् किये बिना अगर हम राष्ट्रीय चेतना का निर्माण करना चाहेंगे तो हम जाने-अनजाने एक ऐसी संकीर्णता के वृत्त में आबद्ध हो जायेंगे जिसके अन्दर से झूठे प्रतिमानों को प्रश्रय मिलने का खतरा पैदा हो जायेगा।

किन्तु यह तो एक गौण समस्या है। भारतीय साहित्यकार आज जब मानवीय नियति से सम्बद्ध अपने दायित्व का निर्वाह करने के लिए सन्नद्ध होता है तो उसे कुछ और कठिनाइयाँ महसूस होती हैं। उनका समाधान खोजना एक जटिल कार्य है। मध्ययुग में साहित्यकार मानवीय नियति से अपना लगाव और उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए जिन माध्यमों का आश्रय ग्रहण करता था, वे माध्यम उसके लिए भी उतने ही सार्थक थे जितने जनता के लिए, अतः उसे अपने दायित्व की दिशा खोजने और उसे जनता तक पहुँचाने में उतनी कठिनाई नहीं अनुभव होती थी। वे माध्यम थे वीरपूजा या धर्म। या तो उनका नायक कोई ऐसा महामानव पुरुष होता था जो समस्त मूल्यों को, मर्यादाओं को निज में समाहित किये रहता था, जनता उसे आदर की दृष्टि से देखती थी और उसी के सुख-दुःख से अपनी नियति को अनिवार्यतः आबद्ध मानती थी। या फिर धर्म को पीठिका के रूप में ग्रहण किया जाता था और प्रभु को जाति की नियति के प्रति संवेदनशील दिखाकर, उनके किसी अवतार के माध्यम से मर्यादाओं का विधान होता था, मूल्यों की नव-नव स्थापना होती थी। आज वीरपूजा का महत्त्व नहीं रहा, नायक विघटित हो चुके, धर्म के विषय में सन्देह उत्पन्न हो गये। जहाँ धर्म को ग्रहण भी किया गया वहाँ उसके नये मानव-परक अर्थ खोजने का प्रयास किया जाता रहा। उसे सफलता मिली या नहीं, यह बात और है।

वीरपूजा या धर्म के सन्दर्भ में जो प्रतिमान विकसित हुए थे जिनका आश्रय

रचनावली

इन आधुनिक धर्म के चिन्तकों ने भी ग्रहण किया है, उनके मिथ्या पड़ जाने के अन्य कारणों में से एक यह भी है कि वे या तो असामान्य, विशिष्ट मनुष्य (महामानव) को अपना केन्द्र-बिन्दु बनाते थे, या वे समस्त मानवीय नियति की चरम उपलब्धि लोकोत्तर सुख को मानते थे। सामान्य मनुष्य और उसका लौकिक जीवन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं माना गया। वैसे मध्ययुग में सन्तों और भक्तों ने इस बात का अवश्य प्रयास किया है कि वे दिव्य को भी मानवीय के धरातल पर खींच लावें। पर सीमाएँ उनकी भी थीं। सहज साधना पद्धति का सारा गुणगान करने के बावजूद सन्त वैराग्यवाद के घोर समर्थक रहे हैं और योग की जटिल साधनाओं के बिना वे मनुष्य को अपरिशोधित मानते थे, उनके कारण धीरे-धीरे भारतीय जीवन में अन्धविश्वास, पाखण्ड, आडम्बर और चमत्कारों को ही प्रश्रय मिला। भक्तों का संकट तो और भी गहरा था। उन्होंने सन्तों द्वारा तिरस्कृत बहुत-सी शास्त्रीय रूढ़ियों को भी मान्यता दे रक्खी थी। परिणाम उसका यह था कि जब ऋषियों की तपस्या में राक्षस बाधा पहुँचाते थे तब राक्षसों के विनाश के लिए प्रभु को अवतरित होना पड़ता था, पर जब वही तपस्या शूद्र द्वारा होने लगती थी तब प्रभु को स्वतः उसका विनाश कर तपस्या भंग करनी पड़ती थी। तपस्या महत्त्वपूर्ण नहीं थी, महत्त्वपूर्ण थी तपस्या करनेवाले की जाति। इस प्रकार मनुष्य और मनुष्य में भेद था। मनुष्य या उसकी नियति अपने में सार्थक नहीं थी, उसे सार्थकता तब मिलती थी जब उसे उच्च वर्ण का या शास्त्र-सम्मत होने का प्रमाणपत्र मिला हुआ हो। इस मनुष्य-विरोधी तत्त्व का परिशमन करने के लिए शबरी, गणिका आदि की कथाओं का भी विधान था, पर सामान्य मनुष्य की यह स्थापना उसी वृत्त के अन्दर करने की कोशिश की जानी थी जो मूलतः सामान्य मनुष्य के तिरस्कार और असाधारण दिव्य के प्रति अन्धश्रद्धा पर आधारित था। इस प्रकार इस आध्यात्मिकता में वह मनुष्य-पूजा भी थी जो हमारी सांस्कृतिक परम्परा की श्रेष्ठतम उपलब्धि है और मनुष्य की वह अवमानना भी थी जिससे सारा मध्ययुग बहुत प्रयास करने पर भी छुटकारा नहीं पा सका था।

इस प्रकार आधुनिक भारत को मध्ययुगीन भारत से विरासत में एक ओर तो यह असंगति और अन्तर्विरोधों से भरी हुई आध्यात्मिकता मिली और दूसरी ओर मिली शताब्दियों पुरानी गुलामी–तीसरी ओर आधुनिक भारत का सम्पर्क पश्चिम से हुआ जहाँ विज्ञान और भौतिक उन्नति ने मध्ययुग की अधिकांश मान्यताएँ ध्वस्त कर दी थीं। ऐसे विचित्र-से धरातल पर खड़े होकर हमारे साहित्यकार ने पहली बार अपनी नियति के प्रति चिन्ता व्यक्त करते हुए पूछा था–"हम कौन थे, क्या हो गये हैं–और क्या होंगे अभी ?" यह प्रश्न पूछा गया तब से लेकर स्वतन्त्रताप्राप्ति तक हमारा देश जिस राष्ट्रीय आन्दोलन में संलग्न रहा उसने निस्सन्देह हमारे साहित्य के पूरे स्वर को प्रभावित किया। यह प्रभाव केवल विषयवस्तु के चुनाव तक ही सीमित नहीं था, बल्कि जिन आदर्शों को, जिन मूल्यों को, मानव-नियति की जिन प्रक्रियाओं

को साहित्य में उठाया गया वे बहुत कुछ ऐसी प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करती हैं जिनका उद्गम हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की विभिन्न धाराओं और उपधाराओं में पाया जा सकता है। यह दशा केवल भारत की ही हो यह बात नहीं है। पश्चिम में भी यही दशा थी। टामस मैन ने कहीं कहा है कि "ऐसा ज्ञात होता है कि इस युग में मानव-नियति को राजनीति की परिभाषाओं में ही समझा जा सकता है।"

समस्त संसार में राजनीति ने एक काम किया था—आधुनिकता ने वीरपूजा और धर्म को तो तिलांजलि दे दी थी पर मध्ययुगीन वीरपूजा की मान्यता और धर्म का कट्टर भावावेश—इन दोनों को राजनीति ने अपने में समाहित कर लिया था। परिणाम यह हुआ कि राजनीति वीरपूजा और धर्म का स्थानापन्न बन बैठी और कई देशों में उसने धीरे-धीरे विज्ञान और दर्शन को भी अपना अनुचर बनाने का प्रयास करना प्रारम्भ किया। हमारे देश में महात्मा गांधी ने राजनीति को नैतिक प्रतिमानों से सम्बद्ध कर जो एक नया प्रयोग किया उसकी अपनी विशेष उपलब्धियाँ भी थीं और उसके अपने अभाव और सीमाएँ भी। उस युग का जितना साहित्य है उसकी उपलब्धियाँ और उसके अभाव आश्चर्यजनक रूप से उस गांधीवादी राजनीति की उपलब्धियों और अभावों से मेल खाते हैं। लेकिन पिछले दस वर्षों में, न केवल विदेशों में, वरन् भारत में भी राजनीति का महत्त्व घटा है। "मानव-नियति को केवल राजनीति की परिभाषाओं में ही समझा जा सकता है", सत्य इसके विपरीत ही सिद्ध हुआ। राजनीति की कई चिन्तनधाराओं ने बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में यह दावा पेश किया था कि वे मानव-मुक्ति को ही लक्ष्य बनाकर चल रही हैं पर उन्होंने जिन व्यवस्थाओं को स्थापित किया उनको जनतन्त्र का नाम तो अवश्य दिया, पर अधिकांश व्यवस्थाओं में तन्त्र औरों के ही हाथ में रहा, 'जन' तो ज्यों-का-त्यों दास बना रहा। यह बात केवल विदेशों पर ही लागू नहीं होती, दुर्भाग्यवश यह कटु सत्य हमारे देश पर भी लागू होता दीख रहा है।

इसीलिए आज भारत में भी जो साहित्यकार मानव-नियति के सन्दर्भ में राष्ट्र के नव-निर्माण के प्रति अपना दायित्व अनुभव करता है, उसके लिए सबसे प्रमुख चिन्ता हो जाती है—'सामान्य जन की मुक्ति।' भारत की स्वतन्त्रता तब तक सार्थक नहीं है जब तक सामान्य जन स्वतन्त्र नहीं है। सामान्य जन के स्वतन्त्र होने का अर्थ यही नहीं है कि उसे भरपेट भोजन, जरूरत के मुताबिक कपड़ा मिल जाय। यह भी है तथा इसके अलावा और बहुत कुछ भी है। उसके मानस में जो अन्ध रूढ़ियाँ, हैं, कुण्ठाएँ हैं, अविवेक है, मूर्च्छना है, मृत परम्पराएँ आदि प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके कारण वह युग-युग से दास बनता चला आया है—उनसे भी उसे मुक्त कराना है। इस दृष्टि से स्वातन्त्र्य न केवल एक बाह्य परिस्थिति है, वरन् एक आन्तरिक मूल्य भी है और जब साहित्यकार सामान्य जन के स्वातन्त्र्य का दायित्व लेता है तो वह सम्पूर्ण बाह्य और आन्तरिक जटिल मानवीय यथार्थ की पृष्ठभूमि में उसे ग्रहण करता है, केवल

रचनावली

सीमित राजनीतिक अर्थ में नहीं।

किन्तु सामान्य जन के प्रति उसका यह दायित्व और मानवीय यथार्थ को समस्त जटिलता में ग्रहण करने का उसका यह प्रयत्न अनिवार्य रूप से राजसत्ता के सर्मथन में ही हो यह आवश्यक नहीं। वैसे तो जनतन्त्र में प्रत्येक राजनीतिक दल और प्रत्येक राजसत्ता का दावा यही होता है कि वह भी सामान्य जन की मुक्ति के लिए यत्नशील है किन्तु राजनीति का मार्ग साहित्यकार के मार्ग से अभिन्न ही हो यह आवश्यक नहीं। यही नहीं, बल्कि राजसत्ताओं के द्वारा अनुमानित और प्रचारित जनहित की धारणा वही हो जो साहित्यकार की है, यह भी आवश्यक नहीं इसीलिए हर हालत में राजसत्ता के समक्ष लेखक को अपनी स्वतन्त्र स्थिति बनाये रखनी चाहिए, चाहे इसके लिए उसे जो भी मूल्य चुकाना पड़े। उसका दायित्व सामान्य जन के प्रति है, राजसत्ता के प्रति नहीं। वह प्रजातन्त्र का, जनतन्त्र का जागरूक लेखक है, राजसभा का उद्घोषक नहीं।

पर इस दायित्व की पूर्ति में एक तत्त्व और है जो बाधक होता है। काव्यसम्बन्धी भ्रान्तियों में से एक यह भी रही है कि कवि सामान्य जन से बहुत ऊपर एक असाधारण प्राणी होता है, मनीषी होता है, द्रष्टा होता है। यह मनीषी या द्रष्टा होना केवल उसी की नियति है, सामान्य जन उससे वंचित है। यह धारणा उस मानसिक कैशोर्य का आश्रय लेकर और भी पनपी जो छायावाद-युग का प्रमुख भावस्तर रहा है। उसका परिणाम यह हुआ कि उसने अपनी नियति को सामान्य जन की नियति से पृथक् माना, सामान्य जन का जो भी हो, वह तो अपने साधना कक्ष में सीधे असीम या अवतरित होती हुई दिव्य चेतना से अपने हृदय के तार जोड़कर पूर्णत्व की उपलब्धि कर लेता है। पूर्णत्व की प्राप्ति हुई हो या न हुई हो पर समवेत मानवीय नियति से अपना एकात्म न स्थापित करने से उसका समबन्ध सूत्र मानवीय यथार्थ से तो बुरी तरह कट गया।

छायावाद युग के इस अनुभव के बाद भी इधर अक्सर रहस्यवाद की आवाज फिर उठते हुए सुन पड़ती है। इधर एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य देखने में आया कि 'देश स्वतन्त्र हो गया, अब पटह रखकर मुरली उठा लेनी चाहिए और भौतिकता से आक्रान्त विश्व को रहस्यवाद का सन्देश देना चाहिए।' बड़ा आश्चर्य हुआ। पर फिर सोचने पर लगा, इसमें आश्चर्य की बात नहीं, यह थकान का स्वर है। बहुत लड़े भाई, अब तो थोड़ी बाँसुरी बजे। स्वाभाविक है। जहाँ लेखक ने सामान्य जन की नियति से अपनी नियति को पृथक् किया कि यथार्थ का सूत्र उसके हाथ से छूटा और जब जन के प्रजा के यथार्थ से वह विच्छिन्न ही हो गया तब उसके लिए दो ही रास्ते बचे—राज्याश्रय या रहस्यवाद। रहस्यवाद में जन की, लोक की नियति से आपको क्या लेना-देना, आप तो सीधे लोकोत्तर का साक्षात्कार करना चाहते हैं। राज्याश्रय में आपको प्रजा से क्या—राजा की कृपा मिलती जानी चाहिए। मध्यकाल में राजाश्रय

और रहस्यवाद में वैषम्य माना जाता था—संतन कहा सीकरी सन काम। लेकिन पंचवर्षीय आध्यात्मिक प्रगति ने इस अन्तर को भी मिटा दिया है। रहस्यवाद अब एक सुविधाजनक आरामदेह साधना है।

आन्तरिक मूल्यों की बात तो समझ में आती है, सामान्य जन की आन्तरिक मुक्ति की बात कही भी जा चुकी है, पर यह रहस्यवादी अध्यात्म, यह लोकोत्तर की साधना एक अयथार्थ काल्पनिक स्वप्नजाल का ही आभास देती है। वास्तव में इस लोक से परे कुछ है या नहीं, इसका निरूपण योगी और साधक करें पर साहित्य-सृजन का आधार तो मनुष्य का लौकिक यथार्थ ही है। मध्यकालीन साहित्य में भी वही अंश सजीव और सप्राण है जहाँ इस लोक का प्राणी बोल उठा है, परलोक का द्रष्टा नहीं।

पर इस रहस्यवाद की फिर से उठनेवाली आवाज का वास्तविक मर्म हम पहचान सकते हैं, यदि हम यह जान लें कि रहस्यवाद का प्रयोग अविवेक के अर्थ में भी किया जाता रहा है। इस विषय में हम पीछे संकेत कर चुके हैं। क्या कहीं ऐसा तो नहीं है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हम गांधीवादी युग की सारी उपलब्धियों और अभावों के समवेत प्रभाव से किसी ऐसे बिन्दु पर पहुँच गये हैं जहाँ से आगे हमें राह नहीं दीख रही है और यदि राह दीखती भी है तो हमारा कलाव्यक्तित्व अब इतना समर्थ नहीं रह गया है कि वह उस राह पर बढ़ सके। परिणामस्वरूप हम स्थिति का सामना न करके अविवेक की खोल में छिपने की कोशिश करते हैं और उसे 'रहस्यवाद' और 'भारतीय परम्परा' आदि की बड़ी-बड़ी संज्ञाएँ प्रदान करते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि विवेक और साहस के अभाव में हम योजना और निर्माण आदि का नाम तो बहुत लेते हैं पर वस्तुतः हम अपनी साहित्य-चेतना में केवल हाथी दाँत की ऐसी मीनारें निर्मित करते चले जा रहे हैं जिनमें हम आराम से बैठकर दायित्व, उसके संघर्ष और उसकी पीड़ा से बच सकें ?

रचनावली

हाथी-दाँत की भारतीय मीनारें

एक जमाना गुजर गया जब अपने एक अध्यापक के यहाँ आनेवाले एक अंग्रेजी साप्ताहिक में पहली बार यह फ़िकरा पढ़ा था–'आर्टिस्ट्स इन आइवरी टावर'–हाथी दाँत की मीनारों में बैठे हुए कलाकार। इसका सही अर्थ तो उस उम्र में क्या समझता, पर किशोर मन के आगे एक चित्र उभर आया–चिकनी चमचम, नक्काशीदार खिलौने जैसे हाथी दाँत की मीनार, जिसमें से झाँकता हुआ एक सुकोमल कलाकार। फिर देर तक सोचता रहा कि यह मीनार है कहाँ ? इसमें बैठा हुआ कलाकार है कौन ? वह उसमें पहुँचा किधर से ? उसके उतरने की सीढ़ियाँ कहाँ हैं ? आखिर उसे सूझी क्या कि मीनार में जाकर बैठ गया !

बाद में धीरे-धीरे यह जाना कि यह तो केवल एक रूपक है, कोई सचमुच की मीनार नहीं है। यह मीनार तो हर कलाकर के अन्तर्मन के चारों ओर बन जाती है, जब वह यथार्थ को न देखकर कल्पित स्वप्नजालों में उलझ जाता है, झूठे मूल्यों को प्रश्रय देने लगता है, आत्म-प्रवंचना की सीढ़ियों पर चढ़कर सहज धरातल को छोड़कर ऊपर टँग जाता है। अपनी बौद्धिक रिक्तता को सिद्धान्तों का जामा पहनाकर उसी को कल्याणकारी मानने की घोर चेष्टा में रत हो जाता है, तब कहीं-न-कहीं उसकी प्रेरणा और सृजन-प्रक्रिया दोनों ही झूठी पड़ने लगती हैं और परिणाम यह होता है कि उसके तर्क और कृतियाँ दोनों ही बाहर से गठन का आभास देते हुए भी अन्दर से बिलकुल निर्जीव पड़ने लगती हैं, उनमें दम नहीं रह जाता।

बाद में और विस्तार में पढ़ने पर यह भी जाना कि उन्नीसवीं शती के जिन कलाकारों के बारे में पहले-पहल यह हाथी दाँत की मीनारोंवाला फ़िकरा गढ़ा गया था, उनका पूनर्मूल्यांकन होने पर लोग इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि उनका 'कला कला के लिए' वाला सिद्धान्त तो वास्तव में बढ़ती हुई व्यावसायिकता के प्रति विद्रोह मात्र था–वे कला में जीवन्त प्रेरणाओं के उतने विरोधी नहीं थे जितने कला पर व्यावसायिकता के बढ़ते हुए पंजों के। उन्नीसवीं शताब्दीवाली वे मीनारें तो संकीर्ण,

समीक्षा-दृष्टि की गलतफहमी मात्र साबित हुईं; लेकिन बीसवीं शती में ऐसी मीनारें बनाने के नये-नये ढंग ईजाद हुए, और जहाँ तक हमारे हिन्दी-साहित्य का सवाल है, हम और किसी बात में चाहे पिछड़े हों पर इस दिशा में हम निस्सन्देह सबसे आगे साबित होंगे। यहाँ तो ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धिक क्षेत्र में भारी बहुमत से यह निश्चय कर लिया गया कि यथार्थ का, वास्तविकता का सामना तो हम नहीं ही करेंगे, जो युग की ज्वलन्त समस्या है उसे तो नहीं ही उठायेंगे, चाहे उससे कतराकर निकलने के प्रयास में हमें कितनी ही असंगतियाँ निभानी पड़ें, तर्कों की चाहे कितनी घुमावदार भूलभुलैया में भटकना पड़े, चाहे जैसे अप्रत्याशित समझौते करने पड़ें, चाहे जितने सिद्धान्तहीन अनुचित आग्रह प्रस्तुत करने पड़ें। एक सांस्कृतिक धुन्ध का दायरा अपने चारों ओर बनाकर, उस मीनार में अपने को बन्द कर–मूल्यों और प्रतिमानों की इस गहरी उथल-पुथल के जमाने में कैसे हम सबसे पहले अपने और अपने साहित्यिक कैरियर को सुरक्षित और पेटेण्ट करा लें इसकी चिन्ता आज युग की प्रमुख चिन्ता बन गयी है–और यह प्रवृत्ति जितने रूपों में अपने को व्यक्त करती है, उतनी ही नयी-नयी मीनारें चारों ओर उठती दीख पड़ती हैं। एक जमाना था किले और मीनारें बनवाने के लिए किसी-न-किसी की बलि देना आवश्यक होता था। आज ले-देकर एक वही मानव विवेक बाकी बच गया है और हर मीनारवाला पहले उसकी बलि चढ़ाता है।

आश्चर्य होता है। अभी-अभी हमने राष्ट्रीय जीवन का एक दौर देखा है, वह त्याग, तपस्या, निष्ठा, आत्मदान, सेवा, सत्य और आग्रह; विराट् के आत्मसात् और–"यदि तुम्हारी पुकार पर कोई नहीं आता, तबे एकला चलो रे" की जाज्वल्यमान परम्परा अकस्मात् इस रिक्तता, ह्रासोन्मुखता, निर्वीर्यता, पलायन, दिग्भ्रम और करुणोत्पादक विवेकहीनता में कैसे बदल गयी यह सहसा समझ में नहीं आता। लगता है जयद्रथ-वध के बाद गाण्डीव की टंकार अभी शान्त भी नहीं हुई कि अकस्मात् अर्जुन वृद्ध हो गया–और इतना ही नहीं, जब यदुकुल की स्त्रियों पर उसने अपनी आँखों से दस्युओं द्वारा अनाचार होते देखा और वह कुछ भी न कर सका तो वह ग्लानि और पश्चात्ताप से आहत नहीं हुआ वरन् उसने अपने विवेक और साहस को तिलांजलि देना श्रेयस्कर समझा और बोला–"मैं मानवतावादी हूँ, मेरी सहानुभूति तो दस्युओं से भी है, वे भी तो मनुष्य हैं।" या उसने कहा–"दस्युओं पर आक्रमण या स्त्रियों के क्रन्दन इन दोनों के अतिरिक्त कोई तीसरा रास्ता निकालना चाहिए।" या उसने कहा–"इस विवाद में पड़ने से क्या लाभ, हमें अपना काम करना चाहिए।" या उसे कायर न समझा जाय इसके लिए उसने दस्युओं से कुछ न कहा, अपने भाइयों को जोर-जोर से धमकियाँ देता हुआ, गालियाँ देता हुआ उन्हें कौरवों का एजेण्ट साबित करने पर तुल गया–और जब ये सभी मीनारें कमजोर साबित हुईं तो अन्त में वह आँख बन्द कर, नाक बन्द कर प्राणायाम की मुद्रा में बैठ गया और बोला–"हमारी

रचनावली

तो परम्परा रहस्यवाद की है, भौतिकवाद ने तो इन दस्युओं को पैदा किया है।" नये महाभारत के इस विचित्र समकालीन अध्याय को चारों ओर देखकर, पढ़कर, समझकर और अनुभव कर चुप रह जाना पड़ता है—यह सब दुःखद है या हास्यास्पद, नहीं कह सकता, पर यह सब विवेकहीन तो अवश्य है। बौद्धिक खोखलेपन का परिचायक अवश्य है।

पर यह बौद्धिक खोखलापन तथा इसके अनिवार्य परिणाम के रूप में पनपनेवाली ये असंगतियों और उनसे मुँह बचाने के लिए खड़ी की जाने वाली मीनारें ये सब अप्रत्याशित हैं, आकस्मिक हैं, रातोंरात साहित्य-क्षेत्र में पनप आयी हैं—ऐसा कहना ऐतिहासिक कारणों की उपेक्षा करना होगा। इन मीनारों की नींवें ज्यादा गहरी हैं। अपने राष्ट्रीय जीवन के जिस दौर से हम अभी-अभी गुजरे हैं—उसमें सब कुछ अच्छा-ही-अच्छा नहीं था, बहुत कुछ ऐसा भी था जिसने हमारी चेतना और अनुभूति में अजीब-सी दरारें डाल दी थीं, पर उस समय हम एक बहुत महत्त्वपूर्ण संघर्ष में लगे थे अतः हम उनकी ओर समुचित ध्यान न दे सके। पर विघटन की ये दरारें बढ़ती गयीं और उन्हीं में इन मीनारों की नींवें भी पड़ती रहीं। वे दरारें कैसी थीं, कैसे हमारी भावना और चिन्तन के क्षेत्रों में वे एक विघटन उत्पन्न करती रहीं, और क्यों उस समय हमें उन्हें दरगुजर कर जाना पड़ा और आज अकस्मात् वे कैसे अनावृत होकर अपने समस्त भयंकर परिणामों को साथ लेकर सामने खड़ी हो गयी हैं, इसका विश्लेषण जितना आवश्यक है उतना ही रोचक भी। उसके विस्तार में जा सकना तो कठिन है किन्तु उसके कुछ प्रमुख पहलू लिए जा सकते हैं जिन्होंने हमारे साहित्य के युगबोध को विशेष रूप से प्रभावित किया है।

इस विघटन का आधार-बिन्दु वह था जहाँ संघर्ष की जल्दबाजी में जन के सहज यथार्थ बोध को विकसित न कर हम नायक पूजा में लग गये थे। सत्याग्रह युग की इस नायक पूजा की प्रवृत्ति और उससे उद्भूत छायावादी और प्रगतिवादी हीरो, तथा नये साहित्य में हीरो के निर्वासन का संकेत कई लेखकों ने किया है। (विशेषतया श्री विजयदेव नारायण साही तथा स. ही. वात्स्यायन ने। देखिए 'युग परिवर्तन और हिन्दी की दो पीढ़ियाँ'—'राष्ट्रवाणी' और एशियायी लेखक सम्मेलन में वात्स्यायन द्वारा प्रस्तुत हिन्दी की रिपोर्ट।) पर प्रश्न यह उठता है कि यह विवेकहीन नायक पूजा जो आज इतनी विचित्र लगती है, उस समय क्यों इस व्यापक रूप से मान्य हुई ? वास्तव में उस समय उसकी एक उपयोगिता थी। हमारा देश राष्ट्रीय संघर्ष में लगा हुआ था। अपने राष्ट्रीय पुनरुत्थान की सही सांस्कृतिक भूमिका तो यह होती कि भारत का प्रत्येक नागरिक सजग होता, विवेकयुक्त होता, आर्थिक,

राजनीतिक और सामाजिक कुण्ठाओं से मुक्त होकर वह स्वतः सही मूल्यों की खोज करता, स्वतः अपने सिद्धान्त, अपने नैतिक प्रतिमान, अपनी विकास दिशा खोजता और उस ओर अग्रसर होता, पर यह एक लम्बा दुस्साध्य रास्ता था। भारत का सामान्य जन सदियों से गुलाम था, स्वतन्त्र चिन्तन और स्वाभिमान खो चुका था। आर्थिक और सामाजिक बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। तनकर खड़े होने में डरता था, फिरंगी को सर्वशक्तिमान् समझता था—और राष्ट्रीय संग्राम का वह दौर आ गया था कि राष्ट्र-नायक को बिजली की तेजी से इन्हीं गुलाम पुतलों में जान फूँककर इन्हें योद्धा बनाकर खड़ा कर देना था—और इतिहास की माँग थी कि इनके आन्तरिक विकास की लम्बी प्रक्रिया पूरी होने की प्रतीक्षा में समय नष्ट नहीं किया जा सकता, बिगुल बज चुका है। ऐसी स्थिति में एक शार्टकट समाधान के रूप में हमें नायक पूजा को स्वीकार करना पड़ा। साधारण जन में अगर खुद अपना कुछ नहीं है तो कम-से-कम नायक के असाधारण गुणों में ही वह गौरव कर सके, आत्मविश्वास नहीं है तो कम-से-कम नायक में ही विश्वास कर सके। इसकी एक तत्काल उपयोगिता थी, इसे न केवल राजनैतिक नेता, वरन् हमारे साहित्यकार भी स्वीकार करते थे। जयशंकर प्रसाद ने अपने एक नाटक की भूमिका में स्पष्ट स्वीकार किया था कि नाटकों में इतिहास का चित्रण वे इसलिए करते थे कि हमारी गुलाम जाति में आत्म-सम्मान जाग सके—और इतिहास के चित्रण के अर्थ थे महान् नायकों का चित्रण—गौतम बुद्ध, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, चाणक्य।

पर इस नायक पूजा का जो अनिवार्य परिणाम था, विवेक का ह्रास—उससे हमारी चेतना और भावभूमि कैसे बचती ? युग के सहज यथार्थ का रूप तो निखर नहीं पाया था, हाँ, उस पर भव्यता का घटाटोप जरूर छा गया। सामान्य जन की तो बात दूर—बुद्धिजीवी वर्ग भी इस नायक की छत्रछाया में अपना पूर्ण विकास नहीं कर पाया और केवल नायक के एक आरोपित महान् व्यक्तित्व को लबादे की तरह ओढ़कर बैठ गया। उसके व्यक्तित्व का विकास तो तब होता जब वह अपने को औरों की तरह एक अति सामान्य जन समझकर मात्र विवेक का सम्बल लेकर कठोर यथार्थ से खुलेआम टकराता और उसमें उसे जिन मूल्यों की उपलब्धि होती उन्हें आत्मसात् करता, फिर उन पर पूरी निष्ठा से टिकता और उनके लिए अपने को किसी भी खतरे में डालने में हिचकिचाता नहीं। इन साहसपूर्ण अभियानों में उसे जो दुःख और पीड़ा और अन्य अनुभव मिलते वे उसे आन्तरिक रूप से ठोस और समृद्ध बनाते चलते। उसमें एक धुरी होती, उसमें एक व्यक्तित्व होता। पर यह सब कुछ नहीं हुआ। उसने न मूल्यों की खोज की, न अपने व्यक्तित्व को खतरे में डाला। न कठोर यथार्थ से टकराया, न अपने को सामान्य जन माना। उसने तो एक महत्ता का लंबादा ओढ़ लिया जिसमें सलमेसितारों की तरह मूल्य और आदर्श और सिद्धान्त टँके हुए थे—चाहे उस लबादे के नीचे उसकी कुण्ठाएँ और विकृतियाँ ही क्यों न छिपी

रचनावली

मिलें। आज युग बदल गया है, हमें यह सब आडम्बर और साहसहीनता लगती है, रीढ़ और धुरी का अभाव लगता है, उस समय इसी के लिए हमने कवि को मनीषी, द्रष्टा और परिभू स्वयम्भू घोषित किया था।

यह व्यक्तित्वहीन लबादाधारी बुद्धिजीवी जो विकसित हो गया था, (वह लबादा चाहे बापू का हो या गुरुदेव का–) एक ओर तो वह स्वतः सामान्य जन के यथार्थ से पूर्णतः असम्पृक्त था, पर दूसरी ओर सामान्य जन भी एक विचित्र सांस्कृतिक संकट से ग्रस्त था। वह सदियों से सोया था, वह जागे, तनकर खड़ा हो, पूरी तरह आँखें खोलकर चारों तरफ देखे और अपने हर कदम को तौलकर विवेकपूर्वक रक्खे, इसका समय ही नहीं था, संघर्ष सर पर था, नतीजा यह था कि उसकी अर्द्धमूर्च्छित भावनाओं को वश में कर अधसोये, अधजागे हिप्नोटाइज्ड रूप में उसे आगे बढ़ा ही ले जाना था, किसी तरह भी हो। विवेक जागकर अपने मूल्य खोजे फिर उसके अनुसार कर्म में रत हो इसका मौका ही नहीं था–कर्म, मात्र कर्म–विवेक हो या न हो ! मूल्य सही हो या गलत हो ! संगति बैठे या असंगति उत्पन्न हो जाय, पर जो काम पूरा होना है वह हो ! हम राष्ट्रीय चेतना का निर्माण करने में लग गये थे और बुनियादी मूल्यों पर सोचने का अवसर ही नहीं था, हमने राष्ट्रीय अभियान की सीमाएँ तय कर दी थीं पर उन दिशाओं में हमें क्यों चलना है इस पर हमने विचार ही नहीं किया था, विवेक असहाय एक कोने में खड़ा था और इतिहास का जलूस तेजी से लहराता चला जा रहा था। यह एक खतरनाक स्थिति थी जिससे विवेक ध्वस्त हो गया था, हमारे कर्म और हमारी भावनाओं में एक विघटन उत्पन्न हो गया और हम केवल एक नायक के आरोपित व्यक्तित्व पर घमण्ड से फूल रहे थे। जिन पर मध्यकालीन भव्यता का घटाटोप छाया था वे तो इस जलूस की जयध्वनियों पर किलकारियाँ लगा रहे थे, उछाल-उछालकर लबादों का प्रदर्शन कर रहे थे पर जो बुद्धिजीवी उस युग के इस आन्तरिक असामंजस्य और विघटन के खतरे को पहचान रहे थे, साथ ही इसे अनिवार्य मान रहे थे, वे कभी-कभी बुरी तरह बेचैन हो उठते थे। एक बुद्धिजीवी ने उस समय के बारे में स्पष्ट लिखा है –"हम अपने को आधुनिक कहते थे और प्रगति और उद्योगीकरण और रहन-सहन के ऊँचे स्तर और सामूहीकरण की परिभाषाओं में सोचते थे–हम कैसे राजनीति में गांधीजी के साथ हो गये और हममें से कुछ तो उनके श्रद्धालु अनुयायी हो गये ? इस सवाल का जवाब देना कठिन है। जो गांधीजी को नहीं जानते, उनको तो कोई भी उत्तर सन्तुष्ट न कर सकेगा। व्यक्तित्व एक ऐसी वस्तु है जिसकी व्याख्या ही नहीं हो सकती। एक विचित्र शक्ति जो मनुष्य के हृदयों पर कब्जा कर लेती है–और उनमें यह शक्ति प्रचुर मात्रा में है। वे जो सब उनके सम्पर्क में आते हैं उनको उसका एक और पहलू दीख पड़ता है।···वे उनके जीवन-दर्शन से और उनके विभिन्न आदर्शों से भी सहमत नहीं हो पाते थे। कभी-कभी वे उनको समझ नहीं पाते थे, पर वे काम करने का जो सुझाव रखते

थे वह ग्राह्य प्रतीत होता था जिसको दिमाग से भी सोचा और समझा जा सकता था। हम उस वक्त काम करना चाहते थे, कोई भी काम! और हमारी रीढ़हीन राजनीति ने निष्क्रियता की जो लम्बी परम्परा पाल रखी थी उसके बाद कोई भी वीरतापूर्ण प्रभावित करनेवाला कर्म जिसके चारों ओर एक नैतिक प्रभावमण्डल भी हो—वह हमारे दिल और दिमाग को पूरी तरह खींच लेता था। ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते थे त्यों-त्यों वे हमें कायल करते जाते थे कि जो हम कर रहे हैं वही ठीक है। हम उनके थे। यद्यपि हम उनके जीवन-दर्शन को नहीं स्वीकार करते थे। कर्म को उसके आधारभूत चिन्तन से अलग कर देना एक वांछित प्रक्रिया नहीं थी और लाजमी था कि बाद में उससे एक अन्तर्द्वन्द्व और संकट की स्थिति आ जाय!" (ऑटोबायग्राफी—दिल्ली पैक्ट)।

उस युग में संघर्षकालीन स्थिति के कारण कौन-सी दरारें, कौन-से आन्तरिक विघटन आ गये थे और उनसे भविष्य में कौन-सा द्वन्द्व और संकट उत्पन्न हो जायगा इसका आभास इस बुद्धिजीवी राष्ट्रीय कार्यकर्ता को लग रहा था और यह समझ रहा था कि हमने संघर्ष की जल्दबाजी में विवेक और चिन्तन को ताक पर रख दिया है। उसने सन् 1939 में लिखा—"फिकरे और नारे आज हमारे खतरनाक साथी बन गये हैं क्योंकि वे स्पष्ट चिन्तन और सुनियोजित लक्ष्यों और साधनों से अन्तर्ग्रथित नहीं हैं। हममें से अधिकांश तो सोचने का कष्ट ही नहीं उठाते!" (यूनिटी ऑफ इण्डिया, पृ. 94)।

उस सत्याग्रह युग के मानसिक स्तर पर ये टिप्पणियाँ और किसी की नहीं स्वतः पण्डित नेहरू की हैं, और पण्डित नेहरू उस समय उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व कर रहे थे जो अपने को आधुनिक कहती थी, इसीलिए मध्यकालीन प्रवृत्तियों के घटाटोप में आधुनिक दृष्टिकोण से जो विघटन हमारी अनुभूति और चेतना में आ रहा था उसके प्रति वे रह-रहकर चिन्तित हो उठते थे।

इसी विघटन के कारण हमारा साहित्य-मानस भी बौना और कुण्ठित रह गया था, क्योंकि उनमें से भी अधिकांश ऐसे थे जो "सोचने का कष्ट भी नहीं उठाते थे।" फिर भी उन्होंने द्रष्टा और मनीषी होने के बड़े-बड़े लबादे लाद रक्खे थे, इसका संकेत हम कर चुके हैं। हमारा जन-मानस भी पूर्णतया सचेत और जाग्रत् नहीं था, वह हिप्नोटाइज्ड था, उसके कर्म भी विवेकसम्मत नहीं, हिप्नोटिक थे। विवेक के द्वारा सही मूल्य खोजे जायँ और उन पर दृढ़ रहा जाय इसका प्रश्न ही नहीं उठता था। इसका समय ही नहीं था। जो कुछ भी संग्राम में श्रेयस्कर हो वह उचित है चाहे वह कितना ही असंगतिपूर्ण, अन्तर्विरोधपूर्ण क्यों न हो। परिणाम यह होता था कि एक ओर हम खिलाफत के आन्दोलन में भी साथ देते थे और दूसरी ओर विलायत जाते हुए गंगाजल भी साथ ले जाते थे—एक ओर अहिंसा को अपनी राष्ट्रीय परम्परा और संसार को भारत की अमूल्य देन भी मानते थे और दूसरी ओर नेताजी द्वारा आयोजित

रचनावली

विराट् आजाद हिन्द फौज पर भी गर्व से फूल उठते थे, यद्यपि उसका सारा आधार हिंसा पर था। पर ये सारे-के-सारे अन्तर्विरोध खप जाते थे, क्योंकि अपने विवेक को न हमने उधर लागू किया था, न इधर–आधारभूत मूल्य को न हमने उधर स्वीकार किया था और न इधर–राष्ट्रीय संग्राम में अगर इससे लाभ होता है तो यह सब जायज है, यह सब नैतिक है, यह सब महान् है।

पण्डित नेहरू ने कहा है कि कोई भी कर्म जायज था चाहे वह हमारे विवेक से मेल न खाता हो, पर यदि उसके चारों ओर प्रभामण्डल हो। नैतिकता की और चिन्तन में नितान्त अभाव और अविवेक को छिपानेवाले इस नैतिकता के प्रभामण्डल की अजीब-अजीब किरणें थीं–अनेकता में एकता, मानवता की जययात्रा और सबसे बढ़कर रहस्यवाद और छायावाद का वह ब्रह्म जिसमें हर अन्तर्विरोध छिपा हुआ था और इसीलिए वह महान् था और महान् था वह कवि भी जिसमें इसी ब्रह्म का अंश था और जिसमें तमाम अन्तर्विरोध उसी प्रकार से पल रहे थे। उसके कुण्ठाजन्य अन्तर्विरोधों से मिलनेवाले आनन्द को अगर ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया तो क्या आश्चर्य ?

लेकिन अन्तर्विरोध, असंगति, अविवेक, आन्तरिक रिक्तता और विघटन को ऊपर से ढँक लेनेवाला यह नैतिक प्रभामण्डल जब भी क्षीण पड़ेगा तभी अन्तर्द्वन्द्व और संकट की स्थिति आयेगी–यह उसी समय महसूस किया गया था। और वह स्थिति शीघ्र ही आयी। ज्यों ही संघर्ष का युग समाप्त हुआ और सत्ता का युग आया त्यों ही यह ऊपरी भव्यता और प्रभामण्डल अकस्मात् निस्तेज पड़ने लगा और सारी परिस्थिति में अन्तर्निहित असंगति और अविवेक स्पष्ट दीखने लगा। इस प्रभामण्डल के फीके पड़ने के पहले चिह्न तो सन् 39 के ही लगभग दीख पड़े थे। जब पहली बार राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल बने थे उस समय भी महसूस किया जाने लगा था कि–"राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल पुराने तौर-तरीके में अपने को ढाल रहे हैं और उन्हीं को उचित साबित करने की कोशिश करने लगे हैं। यह सब हालाँकि बुरा है मगर बर्दाश्त किया जा सकता है पर उससे भी बुरा यह है कि इतनी मेहनत से हमने जो जनता के दिल में ऊँची पोजीशन बनाई है उसे हम धीरे-धीरे खोते जा रहे हैं। हम पेशेवर राजनीतिज्ञों के स्तर पर उतार दिये गये हैं।"–(1939 में गांधीजी के नाम लिखे गये नेहरूजी के एक पत्र में)

पर अकस्मात् यह हुआ क्यों ? कैसे ? आन्तरिक विघटन जो अब दीखने लगा था, वह पहले भी था, पर पहले संघर्षकालीन नैतिक प्रभामण्डल था जिसमें सब छिप जाता था, अब संघर्ष समाप्त हो रहा था, सत्ता और शासन का युग शुरू हो रहा

था और जो प्रभामण्डल संघर्ष युग में चमक दे रहा था वह शासन का युग प्रारम्भ होते ही बुझ गया और उसके बुझते ही जितने काँच के टुकड़े उसकी रोशनी में हीरे बनकर चमक रहे थे सब मलिन और निस्तेज पड़ गये। साहित्य में भी वे बड़े-बड़े शब्द, वे भव्य चेहरे, वे दिव्यता के लबादे, वे शार्टकट समाधान, वे आरोपित व्यक्तित्व, यथार्थ से पलायन करनेवाली वे आकर्षक पगडण्डियाँ, सब सहसा अपनी क़टु वास्तविकता को लेकर सामने खुल गयीं, हम आश्चर्य, दुःख और क्षोभ से तिलमिलाकर देखते रहे कि "अरे ! ये सब तो अजायबघर के शेर थे, आँखें चमक रही थीं पर अन्दर तो भूसा था।"

साहित्य के क्षेत्र में भी संघर्ष का युग समाप्त होते ही इस नैतिक प्रभामण्डल के बुझ जाने का एक बड़ा अजीब उदाहरण दिया जा सकता है। उस जमाने की बात है जब हमारे सभी नेता जेलों में बन्द थे, सन् 1942 के बाद के भयानक ब्रिटिश दमन का घाव अभी भरा भी न था कि बंगाल के अकाल की हृदयविदारक घटनाओं ने सारे राष्ट्र को हिला दिया। उस समय जब चारों ओर बेबसी और घुटन का वातावरण था, हिन्दी की एक प्रतिष्ठित लेखिका ने अदम्य साहस का परिचय देते हुए 'बंगदर्शन' की योजना बनाई, कृतियाँ एकत्रित कीं और ललकार कर लिखा–"जिस कलाकार की लेखनी इस ज्वाला को छू कर स्वर्ण न बन सकी, उसे राख हो जाना पड़ेगा।" बंगदर्शन ने उस क्षोभ, घुटन और पराजय के वातावरण में एक नयी उमंग जगा दी थी, एक नया साहस जगा दिया था।

दस-बारह वर्ष बीत गये, संघर्ष समाप्त हुआ, अपने देश में राष्ट्रीय सत्ता कायम हुई। देश के सामने एक सवाल आ खड़ा हुआ–पुर्तगाली उपनिवेश गोआ में सत्याग्रह चला और नृशंस पुर्तगालियों ने सत्याग्रहियों के साथ जो व्यवहार किया उसे सुनकर सारे देश का रक्त खौल उठा। फिर उसी नगर में उसी प्रतिष्ठित लेखिका का एक निमन्त्रण लोगों को मिला–गोआ के स्वातन्त्र्य आन्दोलन की संवेदना में साहित्यकारों की एक सभा होगी। लोग गये। नयी पीढ़ी, पुरानी पीढ़ी, यह शिविर, वह शिविर–सारे मतभेद एक ओर; यह प्रश्न राष्ट्र का है। पर जाने क्यों कुछ था, जिसका अभाव बुरी तरह खटक रहा था। मीटिंग के अन्त में घोषित हुआ कि 'अभियान' नामक एक संकलन प्रकाशित किया जायेगा जिसमें स्वातन्त्र्य-सम्बन्धी कृतियाँ संकलित होंगी। उसकी आमदनी गोआ भेजी जायेगी।

इस मीटिंग के दूसरे ही दिन अख़बारों में नेहरूजी का एक वक्तव्य आया–गोआ सत्याग्रह की तीव्र आलोचना करते हुए। काफी बावेला मचा फिर शान्त हो गया। फिर जैसे गोआ की बात कुछ दब-सी गयी। पर उस संकलन 'अभियान' का क्या हुआ यह जानने की उत्कण्ठा थी। एक सम्बन्धित सज्जन से पूछा। उन्होंने कहा, "उसके आयोजक कुछ हिचक रहे हैं।" "क्यों ?" पूछने पर मालूम हुआ कि सरकारी नीति गोआ आन्दोलन को बढ़ाने के पक्ष में नहीं है। "इससे क्या हुआ ?" लोगों ने

रचनावली

कहा—"हम लेखकों को सरकारी नीति से क्या ? हम तो मूल्यों के लिए लड़ते हैं। स्वातन्त्र्य अपने में एक मूल्य है और गोआ का आन्दोलन उसे प्रतिष्ठित करता है।"

"यह तो ठीक है।" उत्तर मिला, "पर भाई, अगर सरकार गोआ आन्दोलन के पक्ष में नहीं है तो इस किताब को खरीदेगा कौन ? छापकर ढेर लगाने से हम राष्ट्र का क्या फायदा करेंगे ?"

यह उत्तर स्तब्ध कर देनेवाला था। अकस्मात् वे दिन याद आ गये जब 'बंगदर्शन' निकला था, तब सरकार के खरीदने का तो सवाल ही नहीं उठता था, डर यह था कि कहीं सरकार जब्त न कर ले, छापामार प्रतियाँ न उठा ले जाय। अकस्मात् वह तेजस्वी वाक्य याद आ गया, स्वर्ण और राखवाला—और आज—

संघर्ष के जमाने में जो नैतिक प्रभामण्डल था उस पर आन्तरिक विश्वास उन्होंने खो दिया जिन्होंने उस प्रभामण्डल को लबादा बनाकर ओढ़ लिया था—जो ह्रासोन्मुख, मरणोन्मुख प्रवृत्ति होती है उस पर से न केवल दूसरों का विश्वास उठ जाता है, बल्कि ट्रेजडी यह है कि उसका खुद अपने पर विश्वास नहीं रहता। और जब उसे लगता है कि उसके नीचे से जमीन खिसक गयी है तब वह छिपने के लिए तहखाने और मीनारें खोजती हैं, और फिर उन पर नकली प्रभामण्डल जगमगाने का करुणाजनक प्रयास करने लगती हैं। पर वह काठ की हाँड़ी संघर्ष के जमाने में चढ़ गयी सो चढ़ गयी, इस सत्ता के युग में दूजी बार नहीं चढ़ पाती। स्वर्ण नहीं बन पाती, राख बन जाती है।

पर क्यों ? शायद इसीलिए कि संघर्ष काल में हमें जो भी मिला उसी से हम काम चलाते गये, काठ की हाँड़ियों को भी नैतिक प्रभामण्डल से दीप्त कर हमने चमका दिया—पर वह चमक उनके अन्दर से विकसित हो, उनके विवेक और कर्म में सामञ्जस्य स्थापित हो, नायक की पूजा नहीं, वरन् उनमें अपना व्यक्तित्व विकसित हो, वे दिव्यता के लबादे उतारकर सामान्य साधारण जन के साथ आ खड़े हों, उसी साधारण जन के साधारण परिवेश में उसी के धरातल पर प्रखर विवेक, सम्पूर्ण संवेदना और अदम्य साहस से मूल्यों की खोज करें और जो भी मूल्य उपलब्ध करें उसके प्रति अपने कला-व्यक्तित्व को निस्संकोच समर्पित कर दें, उसके लिए फिर कोई भी खतरा बर्दाश्त करने को तैयार रहें और साधारण जन के साथ-साथ जो पीड़ा, जो वेदना, जो दुःख वे भोगें उसके सही अर्थ समझें, उसे दिव्य, असीम, अलौकिक के गोरखधन्धे में न उलझाएँ और मानव मुक्ति के इस दिव्य अभियान में इनकी मुक्ति और साधारण जन की मुक्ति में अभेद स्थापित हो—इस सबका मौका ही नहीं था, आन्तरिक विघटन को ज्यों-का-त्यों रहने दिया गया था किन्तु नेहरूजी के शब्दों में—"लाजमी था कि बाद में उससे अन्तर्द्वन्द्व और संकट की स्थिति आ जाय।"

पर यह जो अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति आयी वह बहुत गहरी और बहुत आकस्मिक लगने लगी क्योंकि हमने यह पाया कि साहित्य में एकाएक बिलकुल एक नया

रचनावली

दृष्टिकोण उभर आया है जो बेहद तीखा है और वह न जाने कहाँ से आकर पुराने युगबोध, पुरानी चेतना, पुराने दृष्टिकोण के सामने खड़ा हो गया है जो हमने अकस्मात् पाया कि "दोनों में पारस्परिक अविश्वास है, तनाव है, क्षोभ है।" (जलते प्रश्न–राष्ट्रवाणी, जून, 1956) और यह नया युगबोध बड़ी तेजी से बुझते हुए प्रभामण्डलों को, दिव्यता के आडम्बरों को, पुरानी आत्मप्रवंचनाओं को, नकाबों को ध्वस्त करने पर तुला है और उनके स्थान पर बड़ी दृढ़ता से कविता में, कथा में, समीक्षा में, चेतना और अनुभूति में साधारण परिवेश में साधारण जन को प्रतिष्ठित करने में लग गया है–उससे सम्बन्धित प्रतिमानों का दूसरा ही स्तर उभर आया है, दूसरे ही परिप्रेक्ष्य आ गये हैं, दूसरी ही शब्दावली आ गयी है, दूसरा ही टैम्पर आ गया है। यहाँ तक कि लगने लगा कि जैसे–"हम लगभग दो भाषाएँ बोलते हैं। दो दुनिया में रहते हैं।"

यह नया युगबोध अकस्मात् कहाँ से आ गया ? नयी पीढ़ी गर्व में भरकर कह सकती है कि हम ज्यादा नैतिक हैं, ज्यादा ईमानदार हैं, हमने यह युगबोध खुद विकसित किया है। नयी पीढ़ी को जो लांछित करना चाहेंगे वे कहेंगे–"उह ! यह सब विदेश से उधार ले लिया गया !" जो बरसों पहले लिखना-पढ़ना बन्द कर चुके हैं, वे कहेंगे–"यह कैशोर्य का औद्धत्य है।" पर ये तथा ऐसे अन्य दृष्टिकोण ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से नितान्त अपरिचय ही सूचित करते हैं। अपने सारे राष्ट्रीय संग्राम की एक और धारा थी जिसका उल्लेख और विश्लेषण अभी तक हमने नहीं किया है–पर वास्तव में वही थी जिसमें इस नये युगबोध को अंकुरित और पल्लवित किया है। बिना उसके उसको समझे इस नये युगबोध, इस नये टैम्पर को नहीं समझा जा सकता। वह अन्तर्धारा है–इतिहास के निर्माण और प्रगति में साधारण भारतीय जन की चेतना, साधारण जन का आगे आकर नायक का उल्लंघन और अतिक्रमण कर अपनी नियति को सीधे अपने हाथ में लेकर उसे स्वयम् आकार देने का प्रयास। अभी तक हमने राष्ट्रीय संग्राम-युग के मानसिक धरातल का जो विश्लेषण किया था वह केवल नायक को आधारबिन्दु बनाकर किया। वह आवश्यक था क्योंकि हमारी सारी तत्कालीन साहित्य चेतना उसी से आक्रान्त थी, (बहुत अंशों तक प्रेमचन्दजी भी, पर कुछ अंशों में नहीं) पर वह इतिहास का केवल एक पक्ष है और उसी पर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखने से हम नये युगबोध को नहीं समझ सकते। नया युगबोध ऐतिहासिक प्रक्रिया में साधारण जन की देन है।

इसमें सन्देह नहीं कि पहले हमारा सारा राष्ट्रीय आन्दोलन साधारण जन से विच्छिन्न होकर केवल कुछ बड़े लोगों के बहस-मुबाहसे में सीमित था, निष्क्रिय,

रचनावली

मूल्यहीन गांधीजी ने उसमें मूल्यों की प्रतिष्ठा की, उसे सक्रिय बनाया, उसमें साधारण जन को पूर्णतया जागकर विकसित होने का अवसर नहीं मिला पर उस सेवाग्राम के सन्त ने जैसे जादू में बाँधकर, उन्हें मोहाविष्ट कर कर्म में अवश्य प्रवृत्त करा दिया। पर साथ ही आन्तरिक विघटन बना रहा और दुर्भाग्य से जिस नैतिक प्रभामण्डल से वह विघटन ढँका रहा—वह प्रभामण्डल अपनी प्रकृति में मध्ययुगीन था—आधुनिक नहीं।

पर इस महादेश के साधारण जन ने समय-समय पर एक अपूर्व क्षमता का परिचय दिया है। जब कभी इतिहास में ऐसी चरम संकट की घड़ी आयी है, जब उसकी नियति पर बाजी लगी है, नायकों ने अपने को निश्शक्त पाया है, और चारों ओर भयानक विघटन और गहन निराशा ही दीख पड़ी है, और साँस रोक कर सब देखते रहे हैं कि अब क्या होगा—उस समय न जाने कैसे, न जाने कहाँ से अकस्मात् जागकर, हमारा साधारण जन आगे आया है, तनकर खड़ा हो गया है और उसने चुनौती का जवाब चुनौती से दिया है और ललकारकर कहा है—"नायक चले गये तो जाने दो, मैं हूँ जो इस संकट को अपने सीने पर लूँगा।" अकस्मात् सारा ऊपर का घटाटोप ढह जाता है और बिलकुल नये चेहरे, नये लोग आते हैं, इतिहास की धाराएँ मोड़ते हैं और फिर न जाने किस कुहेलिका में लीन हो जाते हैं। यह भारतीय इतिहास के चरम संकट के युगों में कई बार हुआ है, और हमारे आधुनिक राष्ट्रीय संग्राम के युग में भी कई ऐसी घटनाएँ हुई हैं, किसान आन्दोलनों में, आतंकवादी आन्दोलनों में—साधारण जन का यह रूप सबसे स्पष्ट और सबसे प्रभावशाली रूप में उभरकर आया था—सन् 42 की लघु क्रान्ति में। वह नायकहीन क्रान्ति थी—जिसका दायित्व तक लेने को नायक तैयार नहीं होता था—वह तो साधारण जन का अपना विक्षोभ था, अपनी नियति की समस्त प्रक्रिया को, सारी बागडोर को आगे बढ़कर उसने अपने हाथ में ले लिया था—और वह लघु क्रान्ति चाहे राजनीतिक स्तर पर कुचल दी गयी थी—पर हमारी चेतना और हमारे भावबोध में पलती रही, मूल्यों में जो परिवर्तन आ गया था वह परिपक्व होता रहा और जब आज हम पुराने युगबोध और पुरानी साहित्य-दृष्टि के सामने अकस्मात् इस नये युगबोध और नयी साहित्य-दृष्टि को तनकर खड़ा पाते हैं तो हमें आश्चर्य होता है। पर पहले भी यह कहा जा चुका है कि "वे लोग जो हिन्दी की इस नयी चेतना का सही आकलन नहीं कर पाते, यह भूल जाते हैं कि आज हिन्दी में वह पीढ़ी उभरकर आयी है जिसने सन् 42 में विश्व के महान् साम्राज्यवादी षड्यन्त्र के विरुद्ध एक निरस्त्र साधनहीन क्रान्ति का आह्वान किया था।" (सम्पादकीय—आलोचना 8)

वैसे तो यह मोहभंग और नयी चेतना का जागरण सन् 38, 39 के आसपास ही प्रारम्भ हो गया था जिस समय का पण्डित नेहरू का पत्र हमने ऊपर उद्धृत किया था—जब पहली बार संघर्ष के बीच हमें कुछ ही दिनों का विराम मिला था, पहले

राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल के जमाने में ! तभी हमने संघर्ष युग में स्वीकार किये गये मूल्यों पर पहला प्रश्न-चिह्न लगाया था और तभी हिन्दी में पहली बार साहित्य-चेतना में एक अपरिचित-से विक्षोभ के चिह्न दीखने लगे थे। यह वही समय था जब नये वामपक्षी दल बने थे, जब भगवतीचरण वर्मा ने अपनी तेज-तर्रार चीजें लिखी थीं, जब निराला की काव्यधारा में मोड़ आया था, जब पंतजी ने नया काव्य-पथ ग्रहण किया था, जब तारसप्तक में संगृहीत पीढ़ी अपनी रचनाओं में कहने लगी थी–

"इंगित है कुछ और पूछ लूँ
इन्द्रचाप की रोली में,
संशय के दो कण लाया हूँ
आज ज्ञान की झोली में।" (प्रभाकर माचवे)

और यह वही समय था जब प्रगतिशील लेखक संघ भी कायम हुआ। पर अभी भी वह संशय का 'टेम्पर' था, पूर्ण मोहभंग और वास्तव बोध की स्थिति नहीं आ सकी थी।

जब 42 का आन्दोलन आया और साधारण जन और उसका युगबोध उभरा तब जैसे पहली बार आन्तरिक दरारों को ढकनेवाला रेशमी पर्दा तार-तार हो गया और असलियत झलकने लगी। पहली बार ऐसा लगा कि भारतीय जन अपने पाँवों पर खड़ा है, किसी ने उससे हिप्नोटाइज नहीं खड़ा किया है, कोई दूसरा उसे निर्देशन देनेवाला नहीं है–उसे अपने-आप रास्ता खोजना है। जो पहली बार अपनी राह खोजता है, अपना दायित्व खुद स्वीकार करता है, वह मानसिक कैशोर्य छोड़कर प्रौढ़ता की दिशा में अग्रसर होता है। स्वाभाविक है जो युगबोध और साहित्य-दृष्टि इससे विकसित हुई है वह पिछले युगबोध से अधिक प्रौढ़ थी। अगर 'कैशोर्य औद्धत्य' कहीं भी मिलता है तो वहाँ जहाँ पिछला युगबोध नये युगबोध पर झपटता है, खीजता है और अशोभन आक्रमण करता है या ऐसे उदार उपदेश दोहराता है जिनकी शब्दावली अब अर्थहीन हो गयी है। यह सब उसके लिए स्वाभाविक है क्योंकि पुराना युगबोध तो चिर किशोर है जिसकी–

"उम्र सारी तो कटी इश्क़े बुताँ में"

और अब ख्वाहमख्वाह उसके सामने प्रौढ़ होने का प्रस्ताव रखा जाता है।

जब नायकहीन क्रान्ति होती है; चाहे चेतना में, चाहे राजनीति में–तब यह अनिवार्यता दृष्टिगोचर होने लगती है कि अब हमारा सारा कर्म अपने चिन्तन और अपने ही विवेक से उद्‌भूत होना चाहिए, क्योंकि अपना रास्ता हमें खुद तय करना है, और खुद जो रास्ता, जो मूल्य, जो दिशा हम चुनते हैं उसके लिए फिर सदा हम ही उत्तरदायी रहेंगे चाहे उसके लिए जो भी खतरा उठाना पड़े, और जब उस पर आक्रमण होगा तो हम उसकी रक्षा करेंगे। इस प्रकार विवेक और साहस अन्तर्ग्रथित हो जाते हैं। पर जब यह नया युगबोध पुराने के सामने यह प्रश्न रखता है कि "आखिर

रचनावली

आपने अपने विवेक से क्या दिशा खोजी है, कौन-सा मूल्य उपलब्ध किया है, कौन-सी धुरी पर आप दृढ़ हैं, और उसी पर दृढ़ रहकर क्या आपने खतरे उठाये हैं; या उठाने के लिए तैयार हैं–और अगर यह सब नहीं है तो आप साहित्य को क्या देने के लिए खड़े हैं ?" तब पुराना युगबोध बड़े असमंजस में पड़ जाता है, यह धुरी विवेक, साधारण जन की प्रतिष्ठा, साहस–यह सब अकस्मात् कहाँ से आ गया, इसके बारे में क्यों सवाल पूछे जा रहे हैं, इस सबकी जरूरत साहित्य में पड़ती है, यह तो हमारे युग में हमें किसी ने नहीं बताया था–जो हमारे पास है भव्यता से ढँका हुआ विघटन, उसकी कद्र लोग क्यों नहीं करते ? वे जयजयकारवाले लोग कहाँ गये ? ये नये लोग कौन हैं, कहाँ से आ गये ?

'कैशोर औद्धत्य' वाले स्तर पर पुराने युग-बोध की ओर से जो इसकी प्रक्रिया होती है वह तो खैर चिरपरिचित है। "ये असंयत लोग हैं, उच्छृंखल लोग हैं।" अगस्त क्रान्ति में सत्ता ने विज्ञापित किया था कि यह क्रान्ति नहीं है, गुण्डों का हंगामा है, कुछ अभद्र, असामाजिक तत्त्वों का उपद्रव है। उस सत्ताशाही में पले हुए दिमाग आज बिलकुल लुप्त हो गये हों, ऐसा नहीं है। कुछ, जो जनता का नाम लेते थे पर भारतीय जन की उस विक्षुब्ध चेतना को नहीं समझ पा रहे थे उन्होंने कहा कि यह निस्सन्देह फैसिस्ट एजेण्टों का षड्यन्त्र है। वैसी ही प्रतिक्रियाएँ आज अगर दीख पड़ें जब हमारे साहित्य में मूल्यों और प्रतिमानों की क्रान्तिकारी उथल-पुथल हो रही है तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है !

पर आश्चर्य तब होता है जब हम देखते हैं कि जो वे अपने को बुद्धिजीवी कहते हैं, जब उनके मूल्यों, उनके प्रतिमानों के सामने एक ज्वलन्त प्रश्न प्रस्तुत किया जाता है तब वे अकस्मात् बुद्धि का सारा आधार छोड़ देते हैं और नितान्त अविवेकपूर्ण मीनारों में छिपने की कोशिश करने लगते हैं जहाँ उनका हित, उनका कैरियर, उनकी भव्यता, उनके पुराने निरर्थक प्रभामण्डल सुरक्षित रह सकें। इसके लिए जिस दयनीय ढंग से वे पुराने आदर्शों की ढाल ग्रहण करते हैं, जैसे विचित्र तर्क देते हैं, जैसी अजीब-अजीब नावों पर एक साथ पाँव रखने की कोशिश करते हैं, जैसे भव्य चेहरे लगाकर बैठते हैं–यह सब करते हैं, पर जो ज्वलन्त यथार्थ है उससे कतराते हैं–यह सब देखकर मुझे बार-बार एक ऐसी विघटित व्यवस्था पर लिखी गयी समानधर्मा कवि की कुछ पंक्तियाँ याद आती हैं–

इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बुद्धि
इतना ज्ञान, संस्कृति और अन्तःशुद्धि
इतना दिव्य, इतना भव्य, इतनी शक्ति
यह सौन्दर्य, वह वैचित्र्य, ईश्वर-भक्ति,
इतना काव्य, इतने शब्द, इतने छन्द–
जितना ढोंग, जितना भोग, है निर्बन्ध

इतना गूढ़, इतना गाढ़, सुन्दर जाल–
केवल एक जलता सत्य देने टाल

पर नयी दृष्टि को वह रास्ता मरण का रास्ता लगता है। जिसमें सत्य से मुँह बचाकर भाग जाय और इसीलिए यदि इससे उसका क्षोभ जागता है तो अनुचित नहीं–

"तेरी रेशमी वह शब्द संस्कृति अंध
देती क्रोध मुझको, खूब जलाता क्रोध।"

उसका यह क्रोध इसलिए और भी उचित है, क्योंकि वह व्यक्तिगत नहीं है, वह तो केवल मध्यकालीन घटाटोप को विच्छिन्न कर आधुनिक युग के साधारण जन को प्रतिष्ठित करने की प्रक्रिया है, उसकी नियति और साधारण जन की नियति परस्पर आबद्ध है और दोनों का आक्रोश किसी व्यक्ति विशेष पर नहीं है। उनका आक्रोश तो 'अविवेक' पर है क्योंकि अन्ततोगत्वा हर हाथी दाँतं की मीनार अविवेक की मीनार ही साबित होती है–

मेरी ज्वाल, जन की ज्वाल होकर एक
अपनी उष्णता से धो चले अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ !

(मुक्तिबोध–तारसप्तक, पृ..16)

रचनावली

नयी मर्यादा का उदय

नयी मर्यादा का उदय

आधुनिक संकट की प्रकृति का निरूपण करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि यह केवल आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक संकट नहीं वरन् मानव-जीवन के मौलिक प्रतिमानों का संकट है। इसलिए साहित्य के प्रसंग में इसका विश्लेषण अनिवार्य है। किन्तु इस संकट को लेकर निराशा, गतिरोध, अनिवार्य विघटन आदि की जो बातें कही गयी हैं वे स्थिति का एक ही पक्ष प्रस्तुत कर पाती हैं। इस प्रकार के संकट पहले भी आये हैं और इतिहास इसका साक्षी है। युद्ध, पराजय, दुर्भिक्ष, जलप्लावन और महामारियों ने मानवीय मूल्यों को जितनी तीव्रता से झकझोरा है, उनका विकास भी उतनी ही तीव्रता से हुआ है। वास्तविकता यह है कि अक्सर जितने गहन ये संकट रहे हैं उतनी ही निर्मल मर्यादाएँ विकसित हुई हैं। आधुनिक संकट भी इसका अपवाद नहीं है।

स्थिति काफी स्पष्ट हो सकेगी यदि हम मूल्य-मर्यादाओं की प्रकृति और साहित्य में उनके विकास की सामान्य प्रक्रिया के विषय में थोड़ी जानकारी प्राप्त कर लें। साहित्य चाहे वह किसी भी धारा अथवा निकाय का क्यों न हो कुछ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष मर्यादाओं द्वारा नियोजित होता है। इन मर्यादाओं की सांस्कृतिक स्थिति बड़ी ही सूक्ष्म और जटिल होती है। एक ही संस्कृति में कभी-कभी विभिन्न क्षेत्रों में कई उपधाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं जिनकी प्रवाह रेखाएँ एक ही व्यापक दिशा में अलग-अलग घुमावों में चलती रहती हैं। परिणाम यह होता है कि एक ही मूल्य मर्यादा कई ऐसी चिन्तनधाराओं और साहित्य निकायों में समान रूप से प्रतिफलित होती है जो सतही तौर पर न केवल एक-दूसरे से भिन्न होते हैं किन्तु उनमें भयानक द्वन्द्व और घात-प्रतिघात चलता रहता है। सैकड़ों वर्ष बाद, काल की विराट् पृष्ठभूमि में उनका विवेचन करने से यह ज्ञात होता है कि वे बाह्याचारों पर उलझ रहे थे, इतिहास ने उनको निरर्थक सिद्ध कर दिया है किन्तु अंशतः वे सभी किसी एक व्यापक मूल्य की स्थापना कर रहे थे और वह मूल्य सर्वस्वीकृत और विकासमान सिद्ध हुआ। आज,

शताब्दियों बाद यह कहना सरल है कि कबीर, तुलसी, सूर और जायसी एक ही परम्परा को अनेक रूपों में प्रतिफलित करते हैं। आज तो मध्यकाल के अधिकांश प्रगतिशील धर्मान्दोलन–यूरोप का ईसाई धर्म, मध्यपूर्व का सूफी धर्म, पूर्वी एशिया के वैष्णव और बौद्ध सम्प्रदाय, हम उन सबों द्वारा स्थापित मूल्यों में अन्तर्निष्ठ एकता पाते हैं। आज का आधुनिकतम इतिहासवेत्ता हरबर्ट बटरफील्ड अपनी नवीनतम कृति में इसी परिणाम पर पहुँचा है और हमें चेतावनी देता है कि 17 वीं शताब्दी में जेनेवा में केन्द्रित, राजसत्ताओं से समर्थित, सेनाओं से सुसज्जित कैलविन सम्प्रदाय कैथोलिकों के लिए उतना ही आतंककारी सिद्ध हो रहा था जितना आज मास्को में केन्द्रित स्तालिनवाद। किन्तु कौन जानता है कि 200 या 300 वर्ष बाद आज की प्रबल प्रतिपक्षी शक्तियों का संघर्ष उतना ही निरर्थक सिद्ध हो जितना मध्यकाल का कैलविन और कैथोलिक द्वन्द्व[1]।

इससे राजनीतिक निष्कर्ष क्या निकलते हैं यह हमारा विषय नहीं। हमारा मूल प्रतिपाद्य साहित्य है जिसके विषय में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसमें एक निरन्तर सहजवृत्ति होती है जिसके कारण वह मूल्यों द्वारा नियोजित मर्यादाओं को स्वीकार करता है और उसके साम्प्रदायिक स्वार्थों और निरर्थक कुतर्कों द्वारा स्थापित संकीर्ण अनुशासनों को अरसिक, असंस्कृत अन्यानुयायियों के लिए छोड़ देता है। इस प्रकार साहित्य को प्रशासित करनेवाली मर्यादाओं के द्विविध रूप होते हैं–सम्प्रदायगत और मूल्यगत। सम्प्रदायगत मर्यादा पतनोन्मुख और संकीर्ण होती है–मूल्यगत मर्यादा प्रगतिशील और विकासोन्मुख[2]। जीवन्त साहित्य के लिए प्रथम अग्राह्य है, द्वितीय अनिवार्य।

पिछले सौ वर्षों के साहित्य का पर्यवेक्षण करने से यह स्पष्ट होता है कि गहन संकट के बावजूद व्यक्ति और समाज-सम्बन्धी वे प्रमुख मानववादी मूल्य जो समाजवाद की मार्क्सीय तथा अन्य पद्धतियों द्वारा स्वीकृत किये गये थे, साहित्य में अपनी सम्प्रदायगत सीमाओं से मुक्त रूप में न केवल ग्रहण किये गये, वरन् सार्वभौम साहित्य-मानस में उनका निरन्तर विकास भी होता रहा। और भी सूक्ष्म निरीक्षण से यह भी आभास मिलता है कि समाजवाद, अस्तित्ववाद,मनोविश्लेषण, नव-कैथोलिक, चिन्तन, अरविन्द-दर्शन और सर्वोदय जैसे कभी-कभी सहयोगी और कभी-कभी घोर विरोधी धाराओं से प्रभावित जो उच्च कोटि का साहित्य लिखा गया उसमें साम्प्रदायिक संकीर्णताओं का सचेष्ट व अज्ञातरूपेण बहिष्कार मिलता है। यह इसी से सिद्ध है कि सम्प्रदायगत ईसाइयत और सम्प्रदायगत कम्यूनिज्म में बाहरी विरोध होते हुए भी मार्क्सीय आन्दोलनों के अर्थ समझाने के लिए कलाकारों ने जीसस की बलिदान-कथा

---

1. क्रिश्चियानिटी, डिप्लोमेसी एण्ड वार–प्रो. हरबर्ट बटरफील्ड।
2. मूल्यगत मर्यादा के लिए कोई उपयुक्त शब्द न पाकर मुझे मूल्य-मर्यादा शब्द गढ़ना पड़ा है।

रचनावली

के ही प्रतीकों को चुना। इसका कारण यह था कि वे उपमेय और उपमान में साधर्म्य के तत्त्व को स्वीकार करते थे। उनकी दृष्टि में मार्क्सीय आन्दोलन उन्हीं स्थायी मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा का प्रयत्न है जिनकी प्रतिष्ठा जीसस ने की थी। क्रान्ति के अमर गायक, महत्तम आधुनिक रूसी कवि ब्लाक ने क्रान्ति की व्याख्या करते हुए कहा था, "जब कभी यह आदर्श, जो अनादिकाल से जनता की आत्मा में सोया हुआ है, करवट बदलता है, अँगड़ाई लेकर जाग उठता है और ऐसी अदम्य धारा के रूप में शक्ति संचित कर बढ़ चलता है जिसे कोई भी तटरेखा या बाँध रोक नहीं पाते, तभी क्रान्ति होती है।"[1] अपनी अमर कविता ट्वेल्व में उसने लाल सेना के 12 क्रान्तिकारी सैनिकों को बारह शिष्यों के रूप में परिकल्पित कर अन्तिम पंक्ति में कहा है– "प्रभु जीसस उनको राह दिखा रहे हैं।" लगभग 20 वर्ष बाद जब स्पेन में फासिस्ट शक्तियों के विरुद्ध समाजवादी और प्रजातन्त्रवादी शक्तियों ने संघर्ष किया तब उसके एक जत्थे की अमर कथा लिखते हुए पुनः अर्न्स्ट हेमिंग्वे ने एक ईसाई भावना को आधारसूत्र बनाया। उस भावना के अनुसार प्रभु का अर्थ मानव जाति की प्रगति में निहित है।[2]

यही नहीं वरन् इनकी साम्प्रदायिक परम्परा का परिहार करने के प्रति वे सचेत भी थे यह जान स्टीनबेक की प्रख्यात कहानी 'द रेड' में मिलता है। डिक और रूट नामक दो श्रमिक कार्यकर्ता जब श्रम संगठन के प्रयास में स्वतः श्रमजीवियों के ही पत्थरों से घायल होकर पड़े हैं तो रूट डिक को बाइबिल के उस कथन की याद दिलाता है जिसमें जीसस ने कहा है कि उन्हें क्षमा करो क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। डिक, जो उत्साही साम्यवादी है, तुरन्त उद्धरण देता है–"धार्मिक पचड़ा बन्द करो। जानते नहीं धर्म जनता के लिए अफीम है।" रूट तुरन्त अत्यन्त सहज भाव से उत्तर देता है–"धर्म ? इसमें धर्म की बात क्या है ? मुझे ऐसा ही लगा कि यह मैं कहूँ। लगा कि मुझे जो अनुभव हो रहा है उसे ऐसे ही कह सकता हूँ बस।" इस अत्यन्त मर्मस्पर्शी क्षण का चित्रण करते हुए लेखक ने दोनों पात्रों की संस्कारगत सीमाओं के बावजूद दोनों के लक्ष्य और दोनों की पीड़ा की मूल्यगत एकता का चतुर संकेत किया है। साहित्य सम्प्रदायगत सीमाओं से उबरकर इसी व्यापक मूल्यगत भूमि पर अपना विकास करता रहा है और इसी भूमि पर कट्टर विरोधी दीख पड़नेवाले निकाय भी इतिहास की सूक्ष्म दृष्टि में मिलते हुए दीख पड़ते हैं। साहित्य में इस नयी मूल्य-मर्यादा के विकास को समझने के लिए हमारी दृष्टि जितनी सूक्ष्म और व्यापक होनी चाहिए, अवैज्ञानिक पूर्वग्रहों से उतनी ही मुक्त भी।

---

1. ब्लाक–स्प्रिट ऑफ म्यूजिक
2. "...I am involude in mankind, so do not send to ask for whom the bell tolls, it tolls for thee."

साहित्य की मर्यादा–प्रगति; प्रगति की मर्यादा ?

18 वीं और 19 वीं शताब्दी की चिन्तना के फलस्वरूप जिस मर्यादा ने साहित्य में अपने को प्रमुखतम रूप में विकसित किया, वह थी सामाजिक प्रगति की मर्यादा। प्रगति-सिद्धान्त की व्याख्याओं के अन्तर्गत मानवीय इतिहास को निरर्थक-निष्प्रयोजन घटनाओं की क्रमागत कड़ी न मानकर उसको प्रयोजन से युक्त गति माना जाने लगा, एक ऐसी प्रगति जो किसी निश्चित उद्देश्य की ओर उन्मुख है। इन सिद्धान्तों में प्रगति की प्रणाली और उसके प्रयोजन लेकर काफी मतभेद था। कुछ वस्तुवादी थे, कुछ भाववादी हीगेल ने सर्वप्रथम प्रगति की प्रणाली में विरोधी तत्त्वों को समाहरित कर लेनेवाली द्वन्द्वात्मक पद्धति का आरोपण किया था। मार्क्स ने हीगेल के समस्त तर्कों को उलटकर भाववादी द्वन्द्वात्मक पद्धति को भौतिकवादी वर्ग-संघर्ष के रूप में बदल दिया और हीगेल के किसी अदृश्य मानवोपरि दिव्य भाव का निषेध कर वर्गहीन समाज को ही ऐतिहासिक प्रगति की चरम परिणति के रूप में स्वीकार किया। यद्यपि मार्क्स के कुछ विरोधी इसी आधार पर यह कहते हैं कि उसने भौतिकवाद की अतिरेकता को, आरोपित मानवीय मूल्यों को कुण्ठित कर दिया, किन्तु भाववादियों की अपेक्षा का यह सिद्धान्त मानववादी मूल्यों की प्रतिष्ठा में उस समय अधिक सहायक सिद्ध हुआ क्योंकि वह तत्कालीन संकट की अधिक दुखती हुई रग को पकड़ने की सामर्थ्य रखता था। इसका कारण यह था कि मार्क्स का भौतिकवाद निष्क्रिय जड़वाद नहीं था, वह वस्तु को धारणा द्वारा ग्रहण करने की अपेक्षा उसके साक्षात्कार को क्रिया (Practice) के माध्यम के बिना अपूर्ण मानता था और वह क्रिया भी अपने में निरपेक्ष न होकर सामाजिक सम्बन्धों के पुनर्गठन में आत्मसाफल्य पाती थी।[1] मार्क्स भौतिकवादी प्रगति-सिद्धान्त कितना घुमा-फिराकर जैसे मानववादी मूल्यों की स्थापना करता है जो घोर आत्मवादी सम्प्रदायों द्वारा सर्वमान्य हैं यह स्वतः अपने में अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। फिलहाल इतना संकेत करना यथेष्ट है कि मार्क्स द्वारा स्थापित प्रगति की मर्यादा में कोई ऐसा मौलिक अभाव नहीं था जो उससे प्रेरित साहित्य को मानववादी उत्कृष्ट साहित्य बनने से रोक देता। मैक्सिम गोर्की से लेकर आन्द्रै मैलरो तक का कम्यूनिस्ट साहित्य, जहाँ तक वह सम्प्रदायगत सीमाओं का तिरस्कार करता है, किसी भी धारा के श्रेष्ठतम साहित्य के समक्ष रक्खा जा सकता है क्योंकि उनमें सम्प्रदाय भेद प्रमुख न रहकर मूल्यगत-अभेद प्रमुख रूप से उभरता है।[2]

---

1. लुडविक फायरबख का परिशिष्ट। माओ त्से तुंग–ऑन प्रैक्टिस
2. अर्द्धराजनीतिक पत्रकार गोर्की से कलाकार गोर्की की दृष्टि कहीं अधिक व्यापक थी और इसमें अध्यात्मवादी कवि ब्लाक तक की मूल्यगत भिन्नता मिलती थी, इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। अखिल रूसी धार्मिक दार्शनिक संसद की प्रथम बैठक (1908) में हरवन बैरिनव ने गोर्की के विरुद्ध जो आरोप लगाये उनका उत्तर देते हुए ब्लाक ने उसी समय 'जनता और बुद्धिजीवी' शीर्षक महत्त्वपूर्ण लेख →

रचनावली

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया साहित्य में प्रगति की मूल्य मर्यादा को सम्प्रदायगत अनुशासन से मुक्त रखने की अधिकाधिक आवश्यकता अनुभव की गयी। साहित्य की सहज, स्वाभाविकता तो इसके मूल में थी ही किन्तु इसके कुछ अन्य कारण भी थे। मार्क्स ने साहित्य को वर्ग-संघर्ष का अस्त्र माना था और उभरते हुए वर्ग की आकांक्षाओं और दृष्टियों को प्रतिफलित करनेवाले तथा वर्गहीन समाज की विकास-प्रक्रिया में सहायता देने वाले साहित्य को ही उसने प्रगतिशील (प्रगति की मर्यादा से मुक्त) साहित्य माना था। किन्तु प्रश्न यह था कि इस उभरते हुए वर्ग का प्रतिनिधि कौन है, जो इन मर्यादाओं को निर्धारित करेगा ? मार्क्स का उत्तर था–"कम्यूनिस्ट पार्टी।" मार्क्स के समय में यह उत्तर यदि साहित्यिक नहीं तो कम-से-कम राजनीतिक स्तर पर पूर्ण संगत उत्तर था। किन्तु आज पूछा जा सकता है–"कम्यूनिस्ट पार्टी तो कौन-सी कम्यूनिस्ट पार्टी ? स्टालिन की, या ट्राट्स्की की, या टीटो की ? फिर कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा स्वीकृत कौन-सी व्याख्या ? दो दिन पहले वाली ? या दो दिन बाद वाली ?" कहा जा सकता है, जो नीति मार्क्सीय हो। पर आज तो हर नयी नीति मार्क्स के उद्धरणों के साथ अपनाई जाती है। और कुछ दिनों बाद मार्क्स के उद्धरणों के साथ दफना दी जाती है। हर वामपक्षी दल दूसरे वामपक्षी दल पर मार्क्स के प्रति विश्वासघात का दोषारोपण करता फिरता है।[1] इसके बीच सही कौन है इसका निर्णय कौन करेगा ? हमारा विवेक ? यदि हमारा विवेक ही अन्ततोगत्वा प्रमुख निर्णय करता है तो सम्प्रदाय के अनुशासन की क्या सार्थकता ? क्यों न हमारा विवेक ही प्रगति की मर्यादा निर्धारित करे ? क्योंकि साहित्यकार का सहज विवेक निस्सन्देह उसे सम्प्रदायगत संकीर्णताओं का अतिक्रमण कर व्यापक मानववादी मर्यादा भूमि पर लाकर खड़ा कर देता है जहाँ वह अन्य सभी सम्प्रदायों के मानववादी कलाकारों से मिलकर किसी तात्कालिक राजनीतिक स्वार्थ पर संयुक्त मोर्चा न बनाकर एक व्यापक और स्थायी जनवादी मूल्य की मर्यादा-भूमि पर अपने नये सम्बन्ध विकसित करता है, अपने उपलब्ध सत्य को दूसरों द्वारा उपलब्ध सत्य से समन्वित कर उसे पूर्ण और व्यापक बनाता है। तो क्या साहित्य पक्षधर नहीं होता ? यह प्रश्न उठता है। हाँ, होता है, किन्तु वह एक एकांगिता के विरुद्ध दूसरी एकांगिता का पक्ष ग्रहण नहीं करता, वह एक अन्याय के विरुद्ध दूसरे अन्याय का पक्ष ग्रहण नहीं करता–वह एकांगिता के विरुद्ध व्यापकता का, अन्याय के विरुद्ध न्याय का, सीमा के विरुद्ध मूल्य-मर्यादा का पक्ष ग्रहण करता है। सांस्कृतिक स्तर पर पक्षधरता

→ लिखा था जिसमें रूसी धार्मिक बुद्धिजीवियों तथा लुनाकार्स्की, गोर्की तथा अन्य समाजवादियों के दृष्टिकोण में मूल्यगत एकता की ओर बड़ी स्पष्टता से संकेत किया था। यह ध्यान देने की बात है कि उस समय बोलशेविकों के हाथ में सत्ता नहीं थी अतः वे ब्लाक के स्वतन्त्र विचार नहीं थे ऐसा कहने का कोई कारण नहीं है।

1. एक दूसरे प्रसंग में 'सार्त्र' ने भी यही प्रश्न उठाया है। द्रष्टव्य 'एक्जिस्टेन्श्यलिज्म एण्ड ह्यूमेनिज्म' का परिशिष्ट।

रचनावली

क्यों दलगत न होकर मूल्यगत ही होती है इसका विवेचन पहले ही किया जा चुका है।[1] सम्प्रदायगत मर्यादाओं के आतंक से प्रगति-भावना की मुक्ति साहित्य-चेतना के विकास में एक ऐसा मोड़ है जो अत्यन्त आशामयी और प्रकाशपूर्ण दिशाओं में ले जाने की सामर्थ्य रखता है।

प्रगति-भावना में एक मान्यता का विकास भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है, ज़ो एक प्रकार से पिछली बात का ही तर्कसंगत अवश्यम्भावी परिणाम है। मार्क्स ने प्रगति-भावना के निर्णयात्मक पक्ष को बाह्य अर्थव्यवस्था में स्थित माना था। सम्प्रदाय या पार्टी उसी अनिवार्यता का प्रतिवहन करती है।

18 वीं शताब्दी में प्रगति के सम्बन्ध में नियति की-सी अनिवार्यता की धारणा अकेले मार्क्स की नहीं रही है। वस्तुवादी और भाववादी दोनों प्रकार के चिन्तकों ने इस धारणा को प्रश्रय दिया है। किन्तु इस प्रकार का नियतिवादी दर्शन मानव की सहज स्वतन्त्र वास्तविक अनुप्रेरणा को कई ढंग से कुण्ठित कर देता है। इस अभाव से उत्पन्न प्राणहीनता अक्सर मार्क्सीय पद्धति में भी अनुभव की गयी है। इसका मुख्य कारण यह है कि मानव-स्वातन्त्र्य की स्थिति को मार्क्स ने भी ऐतिहासिक प्रगति का लक्ष्य माना था, यद्यपि वह मानता था कि उसका पूर्ण साक्षात्कार वर्गहीन समाज में ही हो सकता है। अपने नियतिवाद और मानव-स्वातन्त्र्य के प्रति अपनी आस्था में मार्क्स एक संगति स्थापित करना चाहता था और जब एक ही तर्क-प्रणाली द्वारा वह सम्भव न हो सका तो उसने कभी इस पर और कभी उस पर बल दिया। बाद में मार्क्स के अनुयायियों के लिए यह अन्तर्विरोध और भी जटिल सिद्ध हुआ और इतिहास में कहाँ तक बाह्य स्थिति मनुष्य की आन्तरिक मूल्यगत चेतना को प्रभावित करती है, कहाँ तक मूल्यपरक चेतना बाह्य स्थितियों को प्रभावित करती है, इस प्रश्न पर मार्क्सवादी शिविरों में भयानक बौद्धिक संग्राम हुए हैं।

इस अन्तर्विरोध के अतिरिक्त और भी मार्क्सीय चिन्तन के कई पक्ष ऐसे हैं जो पिछले 100 वर्ष की वैज्ञानिक, आर्थिक और सामाजिक प्रगति की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। पदार्थ विज्ञान के सापेक्षतावाद, क्वान्टुम सिद्धान्त, इलेक्ट्रान सिद्धान्त ने भौतिकवाद की उन मान्यताओं पर तीव्र आघात पहुँचाया है जिस पर मार्क्स का यान्त्रिक नियतिवादी दर्शन आधारित था। उसके अर्थशास्त्र को स्वतः क्रोचे ने अस्वीकृत कर दिया जो किसी समय मार्क्सवादियों के इतना निकट था कि कम्यूनिस्ट पत्र उसे कामरेड क्रोचे कहते थे। इतिहास-दर्शन में भी स्पेंगलर आदि ने रेखाकार प्रगतिवाद के बजाय संस्कृतियों के वृत्ताकार उत्थान और पतन की पद्धतियाँ प्रचारित कीं। इनमें से कौन सत्य है, कौन मिथ्या यह निर्णय करना हमारा उद्देश्य नहीं, यहाँ पर केवल यह संकेत किया जा रहा है कि प्रगति-सिद्धान्त की मार्क्सीय पद्धति के

1. द्रष्टव्य–आलोचना–सम्पादकीय। अंक 7, पृ. 8।

रचनावली

तर्कों को वैज्ञानिक चिन्तन के नवीनतम विकास से बहुत समर्थन नहीं मिलता रहा है। चिन्तन-धाराओं की गति के अतिरिक्त पिछले 100 वर्षों में वास्तविक राजनीतिक इतिहास की गति ने कई बार मार्क्सीय पद्धति की अनिवार्यता का अतिक्रमण किया (लेनिन द्वारा आयोजित रूसी क्रान्ति और माओ द्वारा आयोजित चीनी क्रान्ति ही स्वतः इसके सबसे बड़े प्रमाण हैं। अमेरिकन और अंग्रेजी प्रोलेटेरियट द्वारा कम्यूनिज्म की अस्वीकृति भी ऐसी ही घटना है। गांधी द्वारा प्रेरित भारत की अहिंसात्मक क्रान्ति तो उन समस्त मूल्यों के प्रति सबसे बड़ा प्रश्न-चिह्न है, यह स्वतः कामरेड रोमारोलाँ ने घोषित किया था।) जहाँ मार्क्सवादी अनिवार्यता को जीवन की कसौटी पर कसा गया उस सोवियत क्षेत्र में आर्थिक विकास के बावजूद सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रगति का पूर्ण अभाव रहा और क्रान्ति की भूमिका के रूप में जिस रूस ने तुर्गनेव, डास्टावस्की, टाल्स्टाय, चेखव, गोर्की और ब्लाक उत्पन्न किये गये थे उसका सांस्कृतिक व्यक्तित्व दिनों-दिन कुण्ठित, बौना और छिछला होता गया। चारों ओर यह अनुभव किया गया कि प्रगति की कसौटी ही बदली जानी चाहिए। प्रगति की कसौटी मनुष्य है—मनुष्य अपनी आन्तरिक मर्यादाओं सहित। और बाह्य परिस्थितियाँ उसका आन्तरिक विकास करें ही यह आवश्यक नहीं। आन्तरिक विकास के लिए आन्तरिक प्रेरणा होनी चाहिए। इस प्रकार प्रगति की मर्यादा को मानव के अन्तर में आरोपित किया गया। मनुष्य तभी प्रगति करता है जब उसके अन्तर में प्रगति की नैतिक प्रेरणा हो। कोई सर्वदा बाह्य परिस्थिति मानवीय प्रगति का दायित्व नहीं ले सकती। इस प्रकार प्रगति की मर्यादा को न केवल सम्प्रदायगत सीमा से मुक्ति मिली वरन् बाह्य से उसका संचरण अन्तर की ओर हुआ।

यह संक्रमण मार्क्सीय चिन्तना में प्रतिबिम्बित न हुआ हो ऐसी बात नहीं है। वैसे आज का मार्क्सीय लेखक अपेक्षाकृत अधिक रूढ़िवादी होता है और नये विकास को यथा सम्भव स्वीकार नहीं करना चाहता। फिर भी साहित्यिक होने के नाते मूल्यगत मर्यादा के प्रति उसमें एक अप्रत्यक्ष निष्ठा होती ही है। परिणामस्वरूप ऐसे बहुत-से मार्क्सीय लेखक हैं जिनमें यह द्वन्द्व स्पष्ट उभरा है। वे साम्प्रदायिक सीमा को अस्वीकार नहीं कर पाते और फिर भी मनुष्य के आन्तरिक मूल्यों पर पुनः ध्यान आकर्षित करने की अनिवार्यता से प्रेरित होकर ईमानदारी, अच्छाई, बुराई आदि की भावनाओं को किसी तरह मार्क्सीय चिन्तन के ढाँचे में ही विकसित करना चाहते हैं यद्यपि अभी तक मार्क्सीय चिन्तन में इनको पतनोन्मुखी आत्मनिष्ठ निरर्थक बूर्जुआ शब्दावली कहा जाता रहा है। यही नहीं, वरन् अधिकांश प्रजातन्त्रवादी देशों का शान्ति-समस्या पर लिखा गया कम्यूनिस्ट साहित्य एक बार इन्हीं आन्तरिक मूल्यों को अभिहित करनेवाली शब्दावली का व्यवहार करने लग गया है। चीनी कम्यूनिस्ट पार्टी के प्रख्यात चिन्तक ल्यू शाओ चि की कृति का शीर्षक 'How to be a good Communist' स्वतः चौंका देनेवाला है। यद्यपि उसने मनुष्य के वर्गाश्रित स्वभाव

की व्याख्या की है किन्तु चीनी दर्शन से परिचित कोई भी व्यक्ति पहचान सकता है कि इस संकट के समाधान के लिए ल्यू शाओ चि बार-बार मार्क्स को खींच-खींचकर कन्फ्यूशस के द्वार पर ले गया है। यह सब अभी अंकुर रूप में ही है किन्तु इस बात की पूर्व सूचना है कि मार्क्सवाद को अन्ततः संकीर्ण साम्प्रदायिक रूढ़ि से मुक्त, व्यापक मूल्य-मर्यादा से युक्त होना ही है, यद्यपि अभी वह सम्प्रदायगत रूढ़िवादिता से जोर-आजमाइश कर रहा है।

आधुनिकतम वैज्ञानिक चिन्तन का झुकाव इस मत की ओर अधिक है कि प्रगति की मर्यादा मनुष्य की आन्तरिक मर्यादा है। गिन्सबर्ग ने बड़ी कुशलता से पिछली तीन शताब्दियों की वास्तविक प्रगति और उनकी व्याख्या करनेवाले प्रगति-सिद्धान्तों का पर्यवेक्षण कर यह निर्धारित किया है कि विवेक पर आधारित न्याय के प्रति मानववादी आग्रह ही प्रगति की मूल प्रेरणा है और एक विवेकवादी सामाजिक नैतिकता ही उसकी मूल्यं-मर्यादा हो सकती है। वह यह भी मानता है कि इस विवेकवादी नैतिकता में सभी के लिए कोई यान्त्रिक अधिनियम या सभी के लिए एक-सी पोशाक नहीं होती।[1] इसमें मानवता के विभिन्न आयामों के पूर्णतम उदय (सर्वोदय) की सुविधा है। प्रगति की ओर मनुष्य को उन्मुख करनेवाली इस वृत्ति को विचारों ने विभिन्न-विभिन्न नाम दिये हैं। गिन्सबर्ग इसे विवेकवादी नैतिकता कहता है, अधिकांश ईसाई चिन्तक (चाहे कैथोलिक हों, प्रोटेस्टेण्ट हों या अस्तित्ववादी हों) इसको ईसाई संज्ञा देते हैं, गांधी-विनोबा इसे सर्वोदय वृत्ति कहते हैं, अरविन्द इसको मनुष्य की भविष्यतमुखी चेतना कहते हैं।

यहाँ पर पुनः एक सूक्ष्म खतरे को समझ लेना आवश्यक है। यह विवेकवादी नैतिकता इस बात पर आग्रह करती है कि हम भविष्य में जिन मानवीय मूल्यों के विकास का स्वप्न देखते हैं, उन्हें हम इसी क्षण अपने आचरण और जीवन-पद्धति में प्रतिष्ठित करें। यदि हम ऐसा नहीं करते और भविष्य के किसी अदृश्य वर्गहीन समाज की स्थापना के नाम पर इन मानववादी मूल्यों का तिरस्कार करते हैं तो हम प्रगति की आस्था को आन्तरिक रूप से पराजित कर एक प्रकार के नये भाग्यवाद को प्रश्रय देने लगते हैं। इस प्रकार पुरानी परम्परा-पूजक भाग्यवादी 'होइहै सोइ जो राम रचि राखा, को करि तर्क बढ़ावइ साखा' कहकर निष्क्रिय होकर बैठ रहता है, उसी प्रकार अपने स्वतन्त्र चिन्तन और विवेक को तिलांजलि देकर बाह्यारोपित प्रगति भावना को एक क्रूर मालिक की भाँति स्वीकार कर हम सारी निरंकुशता को चुपचाप सहन कर भविष्य के सहारे बैठ रहने के आदी हो जाते हैं। हम समझते हैं कि इतिहास एक बँधे हुए द्वन्द्वात्मक साँचे में ढल रहा है अतः यदि उसके दौरान में झूठ बोले जाते हैं, राजनीतिक बन्दियों के कैम्प खोले जाते हैं, नीतियाँ बदलते ही दस-बीस

1. मारिस गिन्सबर्ग–आइडिया ऑफ प्रोग्रेस।

रचनावली

व्यक्ति बिना किसी खुले मुकदमे के फाँसी पर लटका दिये जाते हैं, तो यह सब जायज है क्योंकि इतिहास तो अपने ढंग से ही चलेगा। आज यह सब उचित है, क्योंकि भविष्य में यह सब उचित नहीं रहेगा। वर्गहीन समाज में सत्य, प्रेम, मानवता, वैयक्तिक स्वतन्त्रता सभी विकसित होंगे। अतः आज उसके लिए सत्य की हत्या होती है, वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अपहरण होता है तो कोई हानि नहीं। किन्तु यह भाग्यवादी रुग्ण दृष्टिकोण है, प्रगतिशील स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं। प्रथम प्रकार का भाग्यवाद परम्परा के नाम पर नैतिक निष्क्रियता को उचित मानता है, यह नये प्रकार का भाग्यवाद स्वतः प्रगति के नाम पर नैतिक निष्क्रियता और अगति के औचित्य को स्थापित करने का प्रयास करता है।

बर्डेव इसकी एक नयी व्याख्या देता है। वह इसको पलायन प्रवृत्ति मानता है जो वर्तमान की कायरता और निष्क्रियता की क्षतिपूर्ति भविष्य के कल्पित स्वप्न में करती है। मनुष्य जैसे वर्तमान की विवशता, दासता, पीड़ा और कुण्ठा को भुलाने के लिए कभी-कभी अतीत की मधुर कल्पनाओं में आश्रय ग्रहण करता है, वर्तमान को बदलने का प्रयास नहीं करता, उसी तरह आज का वह प्रगतिवादी जो सत्य के नाम पर असत्य, प्रेम के नाम पर आतंक, शान्ति के नाम पर युद्ध, स्वतन्त्रता के नाम पर दासता सहन कर लेता है वह वास्तव में प्रगतिवादी नहीं है–पलायनवादी है। भविष्य, वर्तमान से सर्वथा विच्छिन्न वस्तु नहीं है; मूल्यों का वह रूप जो हम आज बना रहे हैं, वही कल बनकर अवतरित होगा। समय को टुकड़ों में तोड़ देने की हमारी आदत हमें इस बात का अधिकार नहीं देती कि अन्तिम टुकड़े (भविष्य) को मध्य के टुकड़े (वर्तमान) से अधिक वास्तविक समझें। प्रगति की मर्यादा इसी क्षण की मर्यादा है जिसका औचित्य किसी परिकल्पित अनुमानित भविष्य में नहीं वरन् इसी क्षण की ठोस और यथार्थ परिस्थितियों में किये गये हमारे विवेकपूर्ण आचरण में है।

प्रगति की मर्यादा–आचरण; आचरण की मर्यादा ?

मूल्य-मर्यादा की ही भाँति आचरण भी एक विशेषार्थक शब्द है और जब हम कहते हैं कि कोई बाह्यारोपित व्यवस्था नहीं वरन् विकास की दिशा में हमारा आचरण ही वास्तविक ऐतिहासिक प्रगति है, तो आचरण की प्रकृति को समझ लेना आवश्यक है।

आचरण के लिए प्राथमिक शर्त है–स्वतन्त्र विवेकपूर्ण मानवीय संकल्प। पानी का बहना, पहिये का घूमना और घड़ी का बन्द हो जाना उनका आचरण नहीं है। किन्तु मनुष्य का कड़वी बात बोलना, आक्रमण करना या सहायता देना–उसका आचरण है, क्योंकि पहिये का घूमना उसके विवेकपूर्ण निर्णय और संकल्प का परिणाम नहीं है। मनुष्य के व्यवहार उसके विवेकपूर्ण संकल्प के परिणाम हैं अतः वे आचरण हैं जिनके लिए वह उत्तरदायी है। आचरण की इस प्रकृति को स्वतन्त्र और सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत देश इस सीमा तक मानते हैं कि वह मनुष्य की उन क्रियाओं को

भी उसका दायित्वपूर्ण आचरण नहीं मानते हैं जो कि वह बेहोशी में, नींद में, पागलपन में या विवेकरहित चरम भावावेश में करता है।

चूँकि प्रगति का विधायक है मनुष्य का स्वतन्त्र विवेकपूर्ण आचरण अतः इतिहास में जिन प्रतिक्रियावादी राजसत्ताओं, धार्मिक सम्प्रदायों या अर्थ-व्यवस्थाओं ने मनुष्य का विकास और प्रगति रोकनी चाही है उसका यही प्रयास रहा है कि किसी तरह मनुष्य के स्वतन्त्र विवेक को भौतिक अभाव, कुरुचि या अनुशासन द्वारा पराभूत कर उसकी क्रिया को विवेक से रहित पागलपन, मूर्छा या भावावेश की क्रिया मात्र बना दिया जाय। ऐसी स्थिति में मनुष्य पशुधर्मी या वस्तुधर्मी हो जाता है और उस पर दूकानदार की तरह या चरवाहे की तरह अधिकार रक्खा जा सकता है, बेचा जा सकता है या हाँका जा सकता है। यदि वह सत्ता पूँजीवादी है तो आर्थिक विपन्नता द्वारा सुरक्षा से वंचित कर उसके विवेक को पराभूत कर देती है, उसके संकल्पात्मक साहस को नष्ट कर देती है; यदि वह फासिस्ट है तो अतीत के प्रति गलत गर्व जगाकर, कल्पित आर्य जाति का स्वाभिमान और यहूदियों के प्रति अविवेकपूर्ण घृणा जगाकर उनको मन्त्रमुग्ध कर लेती है। कम्यूनिस्ट है तो उसके विचारों और ज्ञान के साधनों पर नियन्त्रण कर, प्रचार के राष्ट्रव्यापी साधनों द्वारा उसको अर्द्ध-ज्ञान और अज्ञान के स्तर पर हिप्नोटाइज कर उसके आचरण के विवेक को हर लेती है और विकास के मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। आचरण और विवेक के बीच की यह खाई शायद मानव-संस्कृति का सबसे बड़ा संकट है जिसकी पीड़ा की चरम अनुभूति टी. एस. ईलियट ने व्यक्त की थी जब उसने कहा था–

> Between the idea
> And the reality
> Between the motion
> And the act
> Falls the shadow[1]

इसी संकट को कार्ल यास्पर्स जैसा गहन चिन्तक भी व्यक्त करते हुए पीड़ा से व्यथित होकर दर्शन की नहीं काव्य की भाषा बोलने लगता है। वह कहता है–"विवेक वास्तव में अन्तर्निहित एकता का संकल्प है। लेकिन इन व्यवस्थाओं और सिद्धान्तों द्वारा बार-बार किसकी हत्या हो रही है ? कौन है जो इन गलत पगडण्डियों पर बार-बार हमसे छूटा जा रहा है ? वह है मनुष्य के अस्तित्व के विकास की सम्भावना जिसका साधन है–मात्र विवेक।"[2] यही नहीं, वह यह भी मानता है कि दूषित परिस्थितियों ने विवेक सिद्धान्तों का तिरस्कार कर उन बाजीगरों और ज्योतिषियों को मान्यता दिलाई है जो मानव-विवेक पर नहीं बल्कि संकटकाल में उभरने वाली

1. टी. एस. ईलियट–द हालो मेन।
2. कार्ल यास्पर्स–रीजन एण्ड ऐन्टीरीजन इन अवर टाइम्स।

रचनावली

उसकी अन्ध-विश्वासी प्रवृत्तियों का दुरुपयोग करते हैं। पतनशीलता के क्षणों में, निराशा और कायरता की घड़ियों में, बार-बार जनता ने इन नटों, बाजीगरों, तान्त्रिकों, ऐन्द्रजालिकों और चमत्कारवादियों को मान्यता प्रदान की है जो मारण मोहन उच्चाटन और वशीकरण के मन्त्र और अनुष्ठान बताते हैं और अपनी झोली में हर व्याधि की दवा रखने का दावा करते हैं। वह मार्क्सवाद और बूर्जुआ मनोविज्ञान दोनों को ही मानव के स्वतन्त्र विवेक का शत्रु मानता है जो केवल संकट के क्षणों में भावावेश का सहारा लेकर पोषित हो रहे हैं।

लेकिन कार्ल यास्पर्स के निष्कर्ष से बहुत अंशों तक सहमत होते हुए भी आचरण पर मूल्य-मर्यादा की व्यापकता के आधार पर हम उसके आकलन के सर्वांश से सहमत नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए यह कहना अन्याय होगा कि मार्क्स ने आचरण की मर्यादा स्वीकार ही नहीं की। यह पहले कहा जा चुका है कि मार्क्स ने अपने भौतिकवाद की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट कहा था कि वस्तु-सत्य को धारणा द्वारा नहीं वरन् सक्रियता द्वारा हृदयंगम करना चाहिए।[1] इसलिए बार-बार मार्क्सीय शासकों द्वारा यह बताया जाता है कि सैद्धान्तिक चिन्तन ही नहीं वरन् क्रान्तिकारी सक्रियता (Revolutionary Practice) मानव-सत्य के मार्क्सीय रूप को समझने के लिए अनिवार्य है। लेकिन मार्क्स का यदि आशय यह था कि वह इस सक्रियता को ही आचरण का स्थानापन्न बना दे तो वह सम्भव न हो सका क्योंकि इस प्रकार की अनुशासित, आयोजित और नियन्त्रित सक्रियता कल-कारखानों के मशीनी पुर्जों के लिए उपादेय है, मानवीय आचरण के लिए सर्वथा अस्वाभाविक क्योंकि उसमें विवेक की स्वतन्त्रता बिलकुल नहीं रहती। लेकिन मार्क्स के चिन्तन की इस हदबन्दी से यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि मार्क्स इसके महत्त्व से अवगत नहीं था और न यही निष्कर्ष निकलता है कि अधुनातन कम्यूनिस्ट क्रमिसार कलाकार के आचरण और विवेक के इस विभाजन द्वारा आ जाने वाले गतिरोध और कुण्ठा से अवगत नहीं है। ज्डैनव के तीव्र भर्त्सनात्मक वक्तव्य तथा कुओ मो जो और चाउ एन लाई के चीनी कलाकारों के प्रति उद्बोधनात्मक सन्देशों में इस आन्तरिक संकट की गहरी चेतना मिलती है किन्तु उनकी सम्प्रदायगत सीमाएँ मानव-विवेक को स्वाधीनता देने के पक्ष में नहीं हैं अतः उनका चिन्तन विकासोन्मुख न होकर एक अन्धवृत्त में ही घूमकर रह जाता है।

मार्क्सवाद के बाद इस सांस्कृतिक संकट के दौरान में दूसरा इन्द्रजाल मनोविश्लेषण का रहा है, जैसा कार्ल यास्पर्स कहता है। इसका कारण यह है कि मनोविश्लेषण ने भी ऐसे सिद्धान्त प्रचारित किये हैं जो मानव-आचरण को उसके स्वतन्त्र विवेक और वैयक्तिक संकल्प का परिणाम न मानकर उसकी ऐसी व्याख्या

---

1. माओ त्से तुंग–ऑन प्रैक्टिस।

प्रस्तुत करते हैं जो मनुष्य को एक सभ्य पशु या अनपहचाना हुआ विक्षिप्त मानती है जिसके अनुसार मनुष्य का तथाकथित विवेकपूर्ण व्यवहार भी विश्लेषण के बाद उसके अचेतन में स्थित दमित वासनाओं, अन्ध प्रवृत्तियों और कुण्ठित कामनाओं की यान्त्रिक प्रतिक्रिया मात्र सिद्ध होता था। फ्रायड ने स्पष्ट कहा था कि हमारे मन की चेतन परत तो केवल एक-तिहाई होती है। उसके नीचे दो-तिहाई अर्द्धचेतन और अचेतन मानसिकता है जिसका बोध भी नहीं रहता। उन जमींदोज और तहखानों, सुरंगों और कालकोठरियों में हमारे पुराने भय, पुरानी आशंकाएँ, पुरानी घृणाएँ, बहुत गहरे उतरकर छिपकर बैठ जाते हैं और चेतन स्तर पर होनेवाले निर्णयों को अदृश्य सूत्र द्वारा कठपुतलों की तरह संचालित करते रहते हैं।

इस प्रकार वास्तव में यास्पर्स का यह आरोप सही सिद्ध होता है कि मनो-विश्लेषण एक दूसरे प्रकार की यान्त्रिकता का प्रतिपादन करता है और स्वतन्त्र विवेक और संकल्प को अस्वीकार कर मनुष्य की विकासोन्मुख दिशाओं को अवरुद्ध करता है। फ्रायड के चिन्तन की इसी सीमा को पहचानकर उसके दोनों शिष्य युंग और एडलर उसके जीवनकाल में ही उससे पृथक् हो गये थे। युंग ने इस यान्त्रिकता के परिहार के लिए व्यक्तित्व के सृजनात्मक सन्तुलन का सिद्धान्त विकसित किया जिसे वह आत्मा का स्थानापन्न मानता है। एडलर ने मानव व्यक्तित्व को उसके सामाजिक सम्बन्धों में आँकने की दिशा अपनाई, ग्रोडेक ने अहम् के अतिरिक्त अन्तर्जगत् में इदम् की आन्तरिक व्याख्या प्रस्तुत की और उसके बाद के बहुत-से चिन्तक विभिन्न दिशाओं में मनोविश्लेषण के सिद्धान्त का जो विकास कर रहे हैं वह दिनोंदिन मानव विवेक और संकल्प के महत्त्व को पुनः स्थापित कर रहा है।

किन्तु यहाँ पर यह संकेत कर देना आवश्यक है कि मानवीय मूल्य-मर्यादाओं को अपनी सहज प्रकृति से ग्रहण करनेवाले साहित्य ने मनोविश्लेषण की यान्त्रिकता को कभी भी यथावत् नहीं स्वीकार किया था। फ्रायड के पहले भी कलाकार अन्तर्जगत् के इन रहस्यों से अपरिचित नहीं था और फ्रायड के दस ही बीस वर्ष पूर्व डास्टावस्की की वे अमर कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं जिन्हें मनुष्य के अज्ञात अचेतन जगत् का विराट् मानचित्र कहा जाता है। लेकिन फ्रायड ने जब डास्टावस्की का अध्ययन किया तो उसे कहीं कुछ ऐसा मिला जो उसके यान्त्रिक मनोविश्लेषण के सीमाबद्ध सिद्धान्त में नहीं बँध पाता था। उसने स्पष्ट कहा कि इस साहित्य में कहीं कुछ है जिसके सामने मनोविश्लेषण को अपने हथियार रख देने पड़ते हैं। वह कुछ क्या है ?

आज इस प्रश्न का उत्तर सरल है। डास्टावस्की इन अन्ध चेतनाओं की पराजय और मानव संकल्प की विजय को बड़ी सूक्ष्मता से स्थापित करता है। यद्यपि वह बार-बार ईसाई साम्प्रदायिक चिन्तन की भाषा में बोलता है किन्तु वह इन आसुरी शक्तियों पर जीसस की विजय को अनिवार्य मानता है। जीसस वास्तव में मानवीय संकल्प के विकासोन्मुख रूप का प्रतीक है जो करुणा और क्षमा द्वारा मनुष्य के अन्तर

रचनावली

में पैठी हुई अन्ध आसुरी शक्तियों को क्षीण कर देता है।[1] हिन्दी के उन लेखकों में भी जिन्होंने मनोविश्लेषण का सहारा लिया अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से यह संस्कार रहा है। इलाचन्द्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' की भूमिका में मन के अतल गह्वरों में स्थित नरक में ही स्वर्ग अवतरण की कल्पना की थी और अन्तिम कृति जिप्सी में तो वे जीसस की ही कथा के प्रतीकों को ले आये हैं। अज्ञेय के शेखर (द्वितीय भाग में) बाबा मदन सिंह का चरित्र और उनके सूत्र जिनमें दर्द के द्वारा विश्वास की उपलब्धि बताई गयी है, इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। उनकी कुछ कविताओं में तो यह भी कहा गया है कि यह दर्द जिनको माँजता है उन्हें मुक्त करता है और उन्हीं को यह दृष्टि भी देता है कि वे दूसरों को मुक्त रखें।

इधर अन्तर्जगत् की एक नयी व्याख्या अरविन्द ने दी है जिसकी स्थापनाओं से लोग पूर्णतया न सहमत हों किन्तु जिसका Impact भारतीय साहित्यिकों पर काफी रहा है। फ्रायड के अचेतन और अर्द्धचेतन की ही तरह अरविन्द ने चेतन स्तर के बाद ऊर्ध्वचेतना के स्तर परिकल्पित किये और उनके लिए डार्विन के विकासवाद के कुछ तर्क अपनाये। अरविन्द ने कहा कि अमीबा से लेकर मनुष्य तक जीव की चेतना का निरन्तर विकास होता गया है और मनुष्य तक आकर ही उसका विकास रुक जाय इसका कोई कारण नहीं दृष्टिगोचर होता। इसके साथ-ही-साथ पाश्चात्य मनोविज्ञान मनुष्य के आचरण की प्रेरणा उसके अतीत में मानता है, लेकिन उसका भविष्य विकास भी उसके वर्तमान आचरण का कारण (प्रयोजन के रूप में) बन सकता है, इसकी ओर से वह दृष्टि फेर लेता है।[2] अरविन्द और उनके प्रतिभाशाली अनुयायियों ने इस ऊर्ध्वचेतना के विकासोन्मुख स्वभाव की प्रतिष्ठा कर उसमें संकल्प की वृत्ति जगाकर उसके आचरण को सार्थक और प्रयोजनवान् बनाया यह उनकी बहुत बड़ी देन है। किन्तु जहाँ वे आचरण की मर्यादा को वर्तमान जीवन के बजाय किसी रहस्यमय भविष्य और मानवोपरि दिव्य सत्य की ओर उन्मुख मानने लगते हैं, वहीं वे लगभग उसी प्रकार के पलायन का प्रतिपादन करते हुए से प्रतीत होते हैं जिसका दोषी मार्क्सीय भाग्यवाद है जो भविष्य के स्वप्न में मानसिक क्षतिपूर्ति करता है। रहस्यवादी चिन्तनों की इस दुर्बलता की ओर आर्थर केस्लर ने अपने प्रख्यात निबन्ध 'योगी एण्ड द कमिसार' में संकेत किया है जहाँ वह यह कहता है कि अक्सर अपने द्वारा प्रतिपादित मूल्य-मर्यादाओं की स्थापना समाज में न कर पाकर योगी किसी कल्पित दिव्यता या परमत्व में आश्वासन खोजने लगता है। अरविन्द के दर्शन का यह अंश आचरण के प्रति मानव संकल्प को कहीं दुर्बल तो नहीं कर देता, इसके

---

1. द्रष्टव्य–द डेविल्स, ब्रदर्स कारमाजव, ए लिटल मीक गर्ल।
2. इस विषय में इण्डियन फिलासफिकल कांग्रेस (1946) में मनोविज्ञान परिषद् के अध्यक्ष रूप में डॉ. इन्द्रसेन का भाषण पठनीय है जिसमें उन्होंने अरविन्द की कसौटी पर मनोविज्ञान के आधुनिकतम निकायों की परीक्षा की है।

विषय में अभी काफी आशंकाएँ हैं।[1]

संकल्प और आचरण की एकतापरक मर्यादाओं का सबसे स्पष्ट निरूपण उन नयी विचारधाराओं में मिलता है जो मानवीय आचरण की सार्थकता एक ऐसी सामाजिक सन्तुलित वैयक्तिकता में मानते हैं जो कुछ स्थायी किन्तु विकासशील मूल्यों द्वारा मर्यादित होती है। पश्चिम में ऐसी अधिकांश चिन्तन-धाराएँ, चाहे वे कैथोलिक हों या ईसाई अस्तित्ववादी, बाइबिल में जीसस के प्रवचन की नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत करती हैं और पूर्व में इन नयी चिन्ताओं का आधार गीता की नयी व्याख्या है। इन दोनों में अद्भुत समानता है। यह गांधी के चिन्तन-विकास से ही स्पष्ट है जो एक ओर गीता और दूसरी ओर रस्किन के 'अन टु दिस लास्ट', टाल्स्टाय के निबन्धों और जीसस के पर्वत प्रवचनं से प्रेरित है। गांधी द्वारा प्रस्तुत जीवन-दर्शन में मानव-विवेक की स्वतन्त्रता की एक क्रान्तिकारी व्याख्या की गयी है। उनका यह कहना था, "आचरण में न केवल संकल्प वरन् साध्य और साधन की एकता भी आवश्यक है क्योंकि यदि हमारा साध्य समता और प्रेम है और उसकी स्थापना के लिए हम विषमता और घृणा प्रयुक्त करते हैं तो वास्तव में हम अपने विवेक को पराधीन ही बना लेते हैं। क्योंकि हमारा आचरण हमारे द्वारा स्वीकृत मूल्य पर आधारित नहीं रहा, वह तो प्रतिपक्षी का जवाब देने के लिए उसी के साधन द्वारा अनुशासित विवेक हो गया। 'सामनेवाला जैसा होगा वैसा हम बनेंगे', इसका मतलब यही हुआ कि वह जैसा हमें नचायेगा वैसा ही हम नाचेंगे। आरम्भ शक्ति की पहल (Initiative) हमने उसके हाथ सौंप दी। यह पुरुषार्थहीन विचार है और उससे एक दुष्ट चक्र तैयार होता है। दुर्जनता का एक सिलसिला जारी है। उसको तोड़ना है तो हिम्मत करनी चाहिए।"[2] इस प्रकार साध्य और साधन के बीच जो खाई पड़ गयी थी, उसकी यह सबसे नाजुक दरार थी और हमारे विवेक को पराधीन बनानेवाली सबसे बारीक मगर सबसे मजबूत जंजीर थी जिसकी ओर गांधी ने संकेत कर विश्व की विचारधारा को सबसे अधिक झकझोरा है। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता गया है रोमारोलाँ, स्टीफेन ज़्वीग, आल्डुअस हक्सले, केस्सलर, आडेन, स्पेण्डर, इशरवुड, ईलियट, हरबर्ट रीड, ग्रैब्रील मार्सेल, लिनयुतांग, सभी एक के बाद एक गांधी-विनोबा की साध्य-साधन एकता के सिद्धान्त को ही अन्तिम औषधि के रूप में स्वीकार करते गये हैं। कृष्ण द्वारा उपदिष्ट निष्काम कर्म की मूल्य-मर्यादा को नये ढंग से विकसित किये बिना, मानव विवेक की इस अन्तिम हिंसा-परक, मिथ्या-परक जंजीर को तोड़े बिना भविष्य का स्वप्न सन्दिग्ध है। इसी तथ्य की ओर

1. शायद इसीलिए इलाचन्द्र जोशी ने अपनीं एक रेडियो वार्ता में मानव की इस संकल्प वृत्ति को ऊर्ध्वचेतना कहते हुए भी उसे परिशोधन और प्रगति की ओर उन्मुख मानवीय चेतना कहा था। उसकी दिव्यता का वे निषेध करते हैं।

2. विनोबा–सर्वोदय-विचार, पृ. 5।

रचनावली

टी. एस. ईलियट का संकेत है जब वह कहता है–

I some times wonder if that is what Krishna meant-
Among other things-or one way of putting the
something :
That the future is a faded song, a royal rose or a
lavender spray
Of wistful regret of those who are not yet here to
regret
Pressed between yellow leaves of a book
that has never been opened. [1]

भविष्य को प्रकाश में लाने के लिए इस पुस्तक को पहली बार खोलना बिलकुल हमारे हाथ में है। यह इनिशियेटिव, यह पहल हमारे हाथ में है कि हम अपने द्वारा उपलब्ध मूल्य को इसी क्षण आचरण में व्यक्त कर भविष्य का निर्माण करते हैं या नहीं, यदि नहीं तो कोई और भविष्य का निर्माण करने नहीं जा रहा है, वह भविष्य ईलियट के शब्दों में विवर्ण संगीत सिद्ध होगा–ऐसे लोगों के लिए भग्न-हृदय पश्चात्ताप जो अभी पश्चात्ताप करने के लिए पैदा ही नहीं हुए। और चूँकि इतनी बड़ी जिम्मेवारी हम पर है, अतः हमें सत्य की निष्ठा के लिए कोई समझौता नहीं करना चाहिए, अपने विवेक पर बाँधी जानेवाली कोई भी जंजीर नहीं सहनी चाहिए और हम अपने विवेक द्वारा जिस परिणाम पर पहुँचते हैं, यदि सारी दुनिया भी उसके विरुद्ध हो तो हमें उस पर अटल रहना चाहिए–गांधी-विनोबा ने बार-बार इस आशय की बात कही है। इसको हम चरम व्यक्तिवादी अराजकता के रूप में न स्वीकार कर इसके क्रान्तिपरक अर्थ समझ सकेंगे यदि हम एमर्सन का वह कथन याद रखें कि 'हर महान् जनक्रान्ति पहले-पहल किसी एक व्यक्ति के मानस में विचार-बीज के रूप में स्थित रही है।'

इसी से स्पष्ट है कि वैयक्तिक-स्वातन्त्र्य पर यह आग्रह 19 वीं शताब्दी की बूर्जुआ व्यक्तिवादी चिन्तनधाराओं के आग्रह से बिलकुल अलग है। वे चिन्तनधाराएँ या तो व्यक्ति को केवल एक राजनीतिक वोट मानती थीं, या श्रम कर सकनेवाली एक बिकने योग्य वस्तु। बिना आर्थिक सुविधा के व्यक्ति की राजनीतिक या आर्थिक स्वतन्त्रता की बात करना एक बूर्जुआ भ्रम था, क्योंकि आर्थिक स्तर पर एक वर्ग का व्यक्ति अपना श्रम बेचने को 'विवश' है, दूसरा उसे खरीदने को 'स्वतन्त्र', एक व्यक्ति पिसने को 'विवश' है और दूसरा पीसने को 'स्वतन्त्र'।

लेकिन आज की पूर्वीय और पश्चिमी वैयक्तिकतापरक विचारसरणियाँ

---

1. द ड्राई सैल्वेजेज।

रचनावली

वैयक्तिकता के जिस पक्ष को विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता देने का आग्रह कर रही हैं उसका एक अनिवार्य प्रगतिपरक सामाजिक महत्त्व है। इसीलिए मूनियर, बर्डव, कोट्स, मैरिटेन–सभी बूर्जुआ प्रतिक्रियापरक व्यक्तिवादिता से अपने वैयक्तिकतावाद को पृथक् मानते हैं।[1] इसके लिए वे दो पृथक् शब्दों का व्यवहार करते हैं। Individualism और Personalism । इन दोनों का अन्तर बताते हुए बर्डव यह कहता है कि Individuality वह सीमाबद्ध मनोवृत्ति है जो असंस्कृत, असामाजिक अन्धप्रेरणाओं से या एक विशेष सामाजिक स्थिति के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया के रूप में हमारे व्यक्तित्व में उदित हो जाती है और हमें व्यक्तिगत स्वार्थों और सीमाओं की ओर उन्मुख करती है। Personality व्यक्ति का आन्तरिक धर्म है, विकासोन्मुख सृजनात्मक वृत्ति है जो स्थायी व्यापक मानवीय मूल्यों को उनकी समग्र सम्पूर्णता में पहचानकर उन्हें दायित्व के रूप में स्वीकार कर अपने व्यवहार को मर्यादित करती है। इस वैयक्तिकता को सुरक्षित रखना आवश्यक है, क्योंकि वैयक्तिकता का स्फुरण मूल्य की समग्रता की खोज और उसकी स्थापना में ही होता है। प्रत्येक विकासोन्मुख संस्कृति में अधिक-से-अधिक महान् लेखक, चिन्तक, कलाकार और वैज्ञानिक होते हैं, क्योंकि उसमें वैयक्तिकता को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है और अधिक-से-अधिक व्यक्ति मानवता के स्थायी मूल्यों की खोज, साक्षात्कार और स्थापना में तल्लीन रहते हैं, अपने ढंग से, अपनी तात्कालिक ऐतिहासिक स्थिति में उस मूल्य की व्याख्या करने, उस शाश्वत को क्षण में बाँधने और उस क्षण में प्रगति या विकास करने को स्वतन्त्र रहते हैं।

प्रख्यात फ्रेंच अस्तित्ववादी नाटककार ग्रैब्रील मार्सेल इसकी व्याख्या बड़े स्पष्ट शब्दों में करता है–"हम आज कहते हैं कि हमारी संस्कृति मरणोन्मुख है।" इसके

---

1. वैयक्तिकतावाद का इतिहास बड़ा ही स्फूर्तिदायक और रोमांचक है। वैसे तो ये विचार लाट्ज़े के समय से विकसित हो रहे थे और कैथोलिक चिन्तकों, अस्तित्ववादियों तथा नवमार्क्सवादियों (मैनहीम, लास्की) ने इसके विकास में सहायता दी, किन्तु सबसे पहले मूनियर नामक फ्रेंच विचारक ने 1932 में वैयक्तिकतावादी घोषणापत्र प्रकाशित किया। उसके बाद समस्त यूरोप और अमेरिका में साहित्य, अर्थशास्त्र, आध्यात्मिक चिन्तन, राजनीति, समाजशास्त्र ज्ञान के सभी क्षेत्रों में यह सिद्धान्त छा-सा गया। इसके विकास की कई घटनाएँ बड़ी रोमांचक हैं। मूनियर का पत्र Espirit इसका मुख्य पत्र था। फ्रांस का पतन होते ही फासिस्टों के प्रभाव से मार्शल पेतां ने मूनियर को कैद कर लिया। पत्र को बन्द करवा दिया। किसी तरह फिर पत्र चला। हालैण्ड में जर्मनों ने बहुत-से राजनीतिक बन्दियों को कैम्पों में नजरबन्द कर रखा था। ये द्वितीय युद्ध के दौरान में नाजी जर्मनी, पूँजीवादी अमेरिका और स्तालिनवादी रूस–तीनों से निराश थे। उनमें से कुछ आस्तिक थे, कुछ नास्तिक। जब उनके पास Espirit की प्रतियाँ गुप्त रूप से पहुँचीं तो उन्होंने पाया कि वे जिन प्रश्नों का समाधान ढूँढ़ रहे थे, वह इसी दृष्टिकोण में है। एक विशेषता इसकी यह है कि मूनियर इसे कोई 'वाद' न कहकर एक दृष्टि कहता है। ठीक जैसे विनोबा सर्वोदय को 'दल' न कहकर 'समाज' कहते हैं, 'वाद' न कहकर 'वृत्ति' कहते हैं।

रचनावली

अर्थ क्या हैं ? क्या कोई भूचाल उसे नष्ट कर रहा है, क्या कोई जलप्रलय आ रहा है, या ऊँची-ऊँची पक्की इमारतों की छतें गिर रही हैं, या कोई महामारी फैल रही है ? नहीं, बाह्य जगत् में यह सब कुछ नहीं होने जा रहा है। मरणोन्मुख संस्कृति से मतलब यह होता है कि हमारी संस्कृति का आन्तरिक मूल्य कुछ नहीं रहा। मनुष्य में आन्तरिक रुग्णता आ गयी है। क्या यह आन्तरिक रुग्णता केवल एक शिविर में या एक व्यवस्था की संस्कृति में है ? नहीं हमारी वर्तमान स्थिति में दोनों ओर की सत्ताएँ प्रगति की शत्रु हैं अतः वे जान-बूझकर मनुष्य की आन्तरिक वैयक्तिकता को रुग्ण और कुण्ठित बना रही हैं। वैयक्तिक आन्तरिकता के विरुद्ध इस गुप्त कीटाणु-युद्ध के तरीके बड़े ही विचित्र और नृशंस हैं। व्यक्ति में भय का संचार किया जाता है, उसके स्वाभिमान को तोड़ा जाता है, घृणा और हिंसा के भावावेश में लाया जाता है, सूक्ष्तम मनोवैज्ञानिक साधनों से उसे इतना जर्जर कर दिया जाता है कि वह अपनी वैयक्तिकता पर अधिकार खो बैठता है, जिन कर्मों को करता है उनका उत्तरदायी अपने को नहीं मानता और जिन कर्मों को नहीं करता उनका अपराधी अपने को मानकर झूठे बयान पर स्वेच्छा से हस्ताक्षर कर आता है। धीरे-धीरे वह विवेक से शून्य, स्वतन्त्र संकल्प से रहित, भावावेशों, बाह्य हिप्नाटिक प्रभावों और ऐन्द्रजालिक अन्तर्विरोधों से परिचालित मानव यन्त्र मात्र रह जाता है। भय-संचार की इस टेकनिक का पूर्णतम विकास पूँजीवादी देशों में अणुबम के रूप में हुआ है और साम्यवादी देशों में चिन्त-पारतन्त्र्य के रूप में।[1]

इसीलिए आज इस नये प्रसंग में वैयक्तिकता की स्वतन्त्रता की माँग का अर्थ प्रगति की स्वतन्त्रता की माँग करना है, संस्कृति को रुग्णता से मुक्त रखने की माँग करना है। वैयक्तिकता की सुरक्षा की हुंकार बड़े स्पष्ट रूप से लुई मैकनीस ने अपनी एक कविता में की है जहाँ एक अनजनमा शिशु जन्म के पूर्व अपनी कुछ शर्तें रखता है–

> I am not yet born : O hear me.
> Let not the blood sucking rat or the bat stoat or the
> Club footed ghoul come near me.
> I am not yet born; console me
> I fear that the human race with tall walls wall me,
> With strength drugs dope me, with wiselies lure me,
> On black racks rack me, in blood battles roll me.
> I me not yet born; O fill me
> With strength against those who would freeze my
> humanity, would dargoon me into a Iathal automaton

1. ग्रैब्रील मार्सेल–मेन अगेन्स्ट ह्यूमेनिटी।

रचनावली

Would make me a cog in the machine, a thing with
One face, a thing, and against all those
Who would dissipate my entirety, would
blow me like thistledown hither and
thither or hither and thither,
like water held in the
hands would spill me
Let them not make me a stone and let them not spill me.
Other wise kill me.[1]

आचरण की मर्यादा–स्वातन्त्र्य; स्वातन्त्र्य की मर्यादा ?

वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की इस अदम्य घोषणा का अर्थ अराजकता, उच्छृंखलता, निरंकुशता और दायित्वहीनता नहीं है। उसके साथ एक दायित्व भी है–मूल्यों की खोज, उनकी मानववादी सामाजिक व्याख्या और आचरण में इसकी सक्रिय परिणति। पाश्चात्य वैयक्तिकतावादी चिन्तकों की भाषा में यह वैयक्तिकता मूल्यों के ग्रहण और विकास की दिशा में स्व-संचालित गति है, जिसमें स्वातन्त्र्य और दायित्व का आन्तरिक विकासोन्मुख समन्वय रहता है।[2] गीता की भाषा में विनोबा ने स्वातन्त्र्य और सामाजिक मूल्यगत दायित्व के इस समन्वय को स्वधर्म (स्व+धर्म) की संज्ञा दी है–"स्वधर्म कितना ही विगुण क्यों न हो··· उसी में रहने से विकास हो सकता है। यही विकास का सूत्र है। स्वधर्म ऐसी वस्तु नहीं जिसे बड़ा समझकर ग्रहण करें व छोटा समझकर छोड़ दें। वस्तुतः वह न बड़ा होता है न छोटा। वह हमारे ब्यौंत भर का होता है।"[3] अपने ब्यौंत के अनुसार, अपने 'स्व' के अनुसार धर्म या दायित्व की स्वीकृति हर व्यक्ति को उसकी वैयक्तिक सार्थकता प्रदान करती है, इसी के द्वारा उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को नये सामाजिक अर्थ मिलते हैं और वह विकासोन्मुख संस्कृति की प्राणवान् इकाई बनने में समर्थ हो पाता है। मानवीय संस्कृति का विकास केवल नये बाँध, नयी रेलें, नये नगरों का विकास नहीं है, वह मानव की आन्तरिकता का विकास है जो दर्शन, चिन्तन, कला, संगीत, साहित्य, स्थापत्य, अर्थ और राजनीति के क्षेत्रों में मूल्यों के नित्य नवीन विकास को नियोजित करता है। यह उसी सांस्कृतिक व्यवस्था में सम्भव है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है और अपने दायित्व को खोजकर, उससे अपनत्व अनुभव कर, उसे अपना स्वधर्म मानकर उसी में अपने अस्तित्व की

---

1. प्रेयर ऑफ ऐन अनबार्न चाइल्ड।
2. तत्सम्बन्धी पाश्चात्य वैयक्तिकतावादी चिन्तकों के विस्तृत विचार जानने के लिए द्रष्टव्य–जे. बी. कोट्स लिखित–द क्राइसिस ऑफ ह्यूमन परसन।
3. विनोबा–गीता प्रवचन, पृ. 6।

रचनावली

सार्थकता मानता है।

मूल्यपरक दायित्व को स्वीकार न कर जो मूल्यहीन स्वतन्त्रता पर ही आग्रह करते हैं उनकी वैयक्तिकता कितनी बंजर और शून्य, कुहायुक्त, दिशाहीन भूलभुलैया में भटक जाती है, इसका शायद सबसे रोचक और सबसे ताजा उदाहरण जां पाल सार्त्र और उसका नास्तिक़ अस्तित्ववाद है। सार्त्र ने स्थायी मानव-मूल्यों को आमूल और अस्वीकृत कर व्यक्ति की अबाध किन्तु अस्वाभाविक और अमर्यादित स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है। वह मनुष्य को बिलकुल स्वतन्त्र, निरपेक्ष सत्ता मानता है जिसकी कोई मर्यादाएँ नहीं, कोई मूल्य नहीं, कोई नैतिकता नहीं, कोई प्रभु नहीं, कोई पूर्वनिश्चित मानवीय स्वभाव नहीं—वह परम स्वतन्त्र है, काल और दिशा से भी मुक्त, केवल स्वतन्त्रता की एक सत्ता। अपनी इस स्थिति में सार्त्र एक तीव्र संहारकारी अनास्था मात्र है, एक विराटकाय विध्वंसकारी संशय जो सारी स्थापित मर्यादाओं के मूल को ही नहीं मानता। जो एक सीमाहीन शून्यता के सागर में निरुद्देश्य डोल रहा है।[1]

किन्तु केवल यही सार्त्र के कला-व्यक्तित्व का विराम-चिह्न होता तो शायद उसका साहित्य इस तरह यूरोप पर न छा गया होता। किसी तरह मूल्यगत दायित्व की गुरुता और आचरण का संकल्प अपनी ही चिन्तन सीमा में विकसित करने की उसकी प्यास भी इतनी तीखी रही है कि उसने एक वक्तव्य में विचित्र तर्कों द्वारा अपने अस्तित्ववाद को मानववाद की ही शाखा सिद्ध करने का प्रयास किया है। पाठक सहज में ही उन स्थापनाओं से सहमत नहीं हो पाता तो भी इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि वह अपनी दायित्वहीन निरर्थक स्वतन्त्रता की यातनापूर्ण यात्रा में एक क्षण भी उसे नहीं भूल पाया है जिसे छोड़कर (यास्पर्स के शब्दों में) हम बार-बार गलत पगडण्डियों पर भटकने लगते हैं। एलेन के शब्दों में सार्त्र उन चिन्तकों में से है जो प्रभु (मूल्य-मर्यादा) को स्वीकार भी नहीं करते पर उसे भूल भी नहीं पाते। साहित्यकार की सहज आन्तरिक निष्ठा ने ही धीरे-धीरे सार्त्र को भी उसकी चिन्तनकारा से मुक्ति दिलाकर व्यापक मूल्यगत दायित्व को स्वीकार करने के प्रति उन्मुख किया है और धीरे-धीरे वह भी एक नैतिक विवेक को स्वीकार करता जा रहा है जो मूल्यगत दायित्व से युक्त है और जिसके प्रसंग में उसकी मित्र, शिष्या और समीक्षक इरिस मर्डाक का कहना है कि उसकी वर्तमान गति पूँजीवादी जर्जर व्यक्तिवाद और कम्यूनिस्ट दलानुशासन के बीच एक मध्य मार्ग की ओर है जहाँ मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं बन सकता है।

साहित्य में मूल्यगत मर्यादा के विकास की सहज प्रकृति सदैव ही स्वातन्त्र्य और दायित्व के इस समन्वय को मान्यता प्रदान करती रही है, यह न केवल आधुनिक वरन् मध्यकाल की साहित्यिक प्रवृत्तियों से भी प्रमाणित होता है। वैष्णव मानववादी चिन्तन

---

1. सार्त्र के उपन्यासों के प्रमुख पात्रों की मनोवृत्ति।

और साहित्य परम्परा में जहाँ एक ओर कलाकार में अपनी वैयक्तिकता के प्रति अगम्य आत्माभिमान था, वहीं एक विराट् मूल्य-मर्यादा, एक महान् दायित्व के प्रति आत्म-समर्पण भी था। वैष्णव कवि जब एक ओर कहता था–

"आज हैं एक-एक करि टरिहौं।
कै हमही कै तुमहीं माधव अपुन भरोसे लरिहौं।"

तो दूसरी ओर उसका समर्पण भी अद्भुत था–

"तदर्पिताखिलाचारः सन् काम क्रोधाभिमानादिकम् तस्मिन्नेवकरणीयम्।"

मध्यकालीन वैष्णव चिन्तक के लिए वास्तव में प्रभु मानवीय मूल्य की चरम पूर्णता का ही पर्याय था, उस मूल्य-मर्यादा को ग्रहण करने का पथ उच्छृंखलता का नहीं वरन् स्वतन्त्रता और दायित्व से समन्वित 'स्वधर्म' का पथ है; भक्ति का पथ है, जो तुलसी के शब्दों में 'विरति' और 'विवेक' से 'संजुत' है। मानववादी साहित्य की यह एक स्थायी प्रकृति है जो बराबर विकसित होकर युग के दायित्व को ग्रहण करती चलती है। इसलिए आज का मानववादी कलाकार भी भक्ति की ही शाश्वत मर्यादा को 'क्षण' में बाँधता है–

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

(पर इसकी अपनी अद्वितीयता है, वैयक्तिकता है–)

यह जन है, गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा ?
पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लायेगा ?
यह समिधा : ऐसी आग हठीला बिरला सुलगायेगा।
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :

यह वह विश्वास नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा
वह पीड़ा, जिसकी गहराई को स्वयम् उसी ने नापा
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुआते कड़ुवे तम में
यह सदाद्रवित, यह चिर-जागरूक, अनुरक्त नेत्र
उल्लम्ब-बाहु यह चिर अखण्ड अपनापा।
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
इसको भी भक्ति को दे दो : (अज्ञेय : यह दीप अकेला)

यह दीप वास्तव में कवि की वैयक्तिकता है जो अ-द्वितीय है। अखण्ड अपनापा है, गर्वभरा है किन्तु मानवीय मूल्य-मर्यादा के प्रति स्नेहभरा भी। उसमें अपनी आग है किन्तु भक्ति को, पंक्ति को, प्रकाश को अर्पित होने में ही उसकी सार्थकता है। यह अर्पण उस पर लादा हुआ नहीं है, उसका स्वधर्म है, उसके 'स्व' से विकसित है–"यह मैं स्वयम् विसर्जित !"

रचनावली

स्वातन्त्र्य और दायित्व की इसी सामंजस्यमयी मर्यादा की ओर आधुनिक कैथोलिक कवि चार्ल्स पेगी अपनी 'फ्रीडम' शीर्षक कविता में संकेत करते हुए मनुष्य की तुलना एक ऐसे शिशु से करता है जो अभी तैरना सीख रहा है। पिता शिशु को हाथ का सहारा मात्र देकर उसे धारा में छोड़कर तैरना सिखाता है, क्योंकि यदि वह उसे धारा में मुक्त न छोड़े तो बिना इस स्वतन्त्रता के वह कभी तैरना नहीं सीख सकता और यदि वह उसे बिलकुल मुक्त छोड़ दे, हाथ का भी सहारा न दे तो वह उसी समय डूब जाएगा। आश्चर्यजनक यह है कि बिलकुल यही रूपक वैष्णव चिन्तन में भी मिलता है जहाँ प्रभु (या मूल्य-मर्यादा) द्वारा निरुद्ध जीव भवसागर में बहते हुए उस फूल के समान है जिसे प्रभु ने जल में हथेली डालकर अंजलि में निरुद्ध कर लिया है, इस प्रकार वह 'जन' भवसागर में भी है और प्रभु की अंजलि में भी। दूसरी भाषा में इसे कहें तो इसका रूप यह है कि स्वतन्त्रता और दायित्व से युक्त व्यक्तित्व वैयक्तिक स्थिति में स्वतन्त्र भी है और फूल की तरह मूल्य की विराट् अंजलि में भी। किन्तु यदि हम मूल्यगत दायित्व की मर्यादा से वंचित हो जाते हैं तो हमारी वैयक्तिकता प्राणहीन, गतिहीन होकर मूल्यहीनता के अथाह सागर में डूब जाती है–

"हरिणा ये विनिर्मुक्ता ते मग्ना भवसागरे।"

भक्ति की यह भावनामयी शैली किसी दिव्य मानवोपरि भ्रम की ओर हमें न ले जाय इसलिए यह संकेत कर देना आवश्यक है कि अन्ततोगत्वा हमारा यह दायित्व मानवीय मूल्य के ही प्रति है। रूपक की भाषा में कवि ने उसे प्रभु कहा हो किन्तु उसका तात्पर्य मानवीय मूल्यों की समग्रता से ही है जिसका प्रतिफलन हमारे सक्रिय जीवन में होता है। इस तथ्य को साहित्य ने अपनी सहज प्रकृति द्वारा सदैव पहचाना है। मध्य युग का सन्त कवि कहता है–

"जेती चलूँ तेती परदखना जो कुछ करूँ सो पूजा।"

आधुनिक प्रयोगशील अंग्रेजी काव्य का प्रवर्तक गेरार्ड मैन्ले हापकिन्स कहता है–"निहाई पर हथौड़ा चलाना, शहतीर चीरना, दीवारों पर सफेदी करना, घोड़े हाँकना, सड़क बुहारना, यह सब प्रभु के गौरव का परिवर्धन करते हैं,...अतः मेरे बन्धुओ, जिन्दगी जियो।" क्योंकि इसी प्रक्रिया के द्वारा हम मानवीय मूल्य को, प्रभु को सतत निर्मित और विकसित करते चलते हैं। रिल्क प्रभु से कहता है–"We are all workmen : prentice, journey-man/or master/...building you–you towering nave." इसी को प्रतिध्वनित करते हुए सेसिल डे ल्यूइस कहता है–

"God is a proposition,/And we who prove him are his priests, his chosen."

इतना ही नहीं, रिल्के तो स्पष्ट चुनौती के स्वर में यह भी घोषणा करता है कि प्रभु की सार्थकता भी मनुष्य ही है, क्योंकि अन्ततोगत्वा प्रभु मानवीय मूल्यों की ही समग्रता का परम रूप है–

What will you do, God, when I die ?
When I your pitcher, broken, lie ?
I am your garb, the trade you ply,
You lose your meaning, losing me.

अन्ततोगत्वा हमारा दायित्व मानवीय मूल्य के ही प्रति है, यह न केवल रिल्क और हापकिन्स की भाँति आस्तिक मानववादियों ने स्वीकार किया वरन् नास्तिक समाजवादियों का भी झुकाव इसी ओर रहा। सोवियत साहित्य भी बार-बार अपने को सामाजिक मानववाद या नवमानववाद की संज्ञा से अभिहित करता रहा, किन्तु वहाँ रह-रहकर यह तथ्य भुला दिया गया कि साहित्य केवल मूल्यगत मर्यादा ही ग्रहण कर सकता है, सम्प्रदायगत मर्यादा नहीं। जिन समाजवादी कलाकारों को मानवीय मूल्य के पक्ष में सम्प्रदाय को तिलांजलि देनी पड़ी है वे इस सूक्ष्म सत्य को भली भाँति हृदयंगम कर पाये हैं। तोगलियाती, थेलमैन और स्टालिन के सहयोगी सक्रिय कम्यूनिस्ट लेखक इगनात्सियों सिलोने ने पार्टी के छोड़ने के बाद जो कहा वह बहुत महत्त्वपूर्ण है—"समाजवाद में मेरा विश्वास आज पहले की अपेक्षा कहीं दृढ़तर है।···मैं भाग्य जैसी चीज नहीं मानता···मैं मानता हूँ मनुष्य सबसे ऊपर है। आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ जो आज उसका गला दबाती हैं, जब उसकी दासी बनेंगी तभी समाज का क़ल्याण होगा। साल पर साल बीतते गये हैं और मुझे एक श्रद्धा का भाव तीव्रतर होता गया है, मानव की श्रेष्ठता और उसकी उस विकासोन्मुख चेतना के प्रति भी जो उसे कभी चैन नहीं लेने देती।···लेकिन मेरा ख्याल है ऐसे समाजवाद में विश्वास रखनेवाला केवल मैं अकेला नहीं हूँ। ये 'पागलपन से भरे हुए सत्य' तो मार्क्सवाद से भी पुराने हैं।···अधिक अध्ययन और अनुभूति के फलस्वरूप (मार्क्सवाद के) वर्तमान सिद्धान्त निरर्थक सिद्ध हो सकते हैं किन्तु समाजवादी धारा फिर भी चलती रहेगी। समाजवाद किसी एक पद्धति का दास नहीं, वह तो एक आस्था है। समाजवादी चिन्तन सम्प्रदाय अपने को वैज्ञानिक सिद्ध करने की जितनी चीख-पुकार मचाते हैं उतने ही क्षणभंगुर सिद्ध होते जा रहे हैं, समाजवादी मूल्य स्थायी हैं। सम्प्रदाय और मूल्य के भेद पर आज ध्यान नहीं दिया जा रहा है किन्तु वह भेद मूलगत है। सम्प्रदाय का संगठन कर एक पन्थ चलाया जा सकता है किन्तु मूल्यों के आधार पर सभ्यता और संस्कृति का गठन होता है; नये जीवन की सृष्टि होती है।"

नया दायित्व

मानवीय मूल्य के प्रति प्रत्येक शिविर और प्रत्येक धारा में उभरकर आनेवाली यह आस्था हमारी उस प्राथमिक स्थापना को सिद्ध करती है कि इस संकट में भी मनुष्य हारा नहीं है बल्कि उसने उसका प्रत्युत्तर दिया है और दिनोंदिन उसने और भी सशक्त स्वरों में घोषित किया है कि वह प्रगति का सूत्र है और इतिहास का निर्माता है। साम्प्रदायिक

रचनावली

अनुशासन जहाँ भी उसकी प्रगति चेतना में आड़े आये हैं, उनका उसने साहसपूर्वक अतिक्रमण किया है। उसकी यह यात्रा सरल नहीं रही है, किन्तु सेसिल डे ल्यूइस के शब्दों में उसने "निराशा में से जिन्दगी की चिनगारी ढूँढ़ी है और इस्पात में से गीत जगाये हैं।"

यह नयी मर्यादा एक सक्रिय दायित्व के रूप में विकसित हुई है, अतः एक जागरूक अनवरत अथक क्रियाशीलता के प्रति सशक्त आह्वान है। मानवीय मूल्य विराट् मानव-जीवन की अगणित शिराओं में संचरित होता रहता है। जहाँ भी यह रक्तप्रवाह रुका वहीं अंग पक्षावात से आहत होकर सूख जाता है, बेकाम हो जाता है। हमारी मानव-संस्कृति में आज पूरे देश, पूरी जातियाँ, पूरे सम्प्रदाय, पूरी चिन्तन-धाराएँ और पूरे के पूरे साहित्यिक निकाय इस मूल्यहीनता से, इस पक्षावात से अशक्त होकर प्रगति और विकास की दिशाओं से भटक गये हैं। हमारे सामने मानवीय मूल्य को पूरी संस्कृति के प्राणों में प्रतिष्ठित करने का जटिलतम दायित्व है।

मैं यह नहीं स्वीकार कर पाता कि यह कार्य अपने-आप होगा। यह 'अपने-आप' विकास होने की बात चाहे बाह्य अर्थ-व्यवस्था के रूपक में कही जाय या अवतरित होनेवाली चेतना के रूपक में, किन्तु यह हमारे दायित्व के महत्त्व को घटा देती है। यह दायित्व हमारा है, हम विकास करेंगे तो विकास होगा; नहीं करेंगे तो नहीं होगा। नहीं करने की सम्भावना भी अप्रिय सम्भावना है किन्तु असम्भव नहीं। क्योंकि जहाँ इतिहास एक ओर मनुष्य के साहस का साक्षी रहा है, वहीं वह इस बात का भी साक्षी है कि अक्सर ऐतिहासिक निर्णय के क्षणों में मनुष्य ने कायरता दिखाई है, उसने स्वातन्त्र्य अस्वीकार किया है, दासता स्वीकार की है क्योंकि दायित्व वहन करना साहस का काम है, और दासता में दायित्व का कोई प्रश्न नहीं उठता। दास तो केवल दूसरों के आदेश वहन करता है।[1]

आज की व्यापक सांस्कृतिक रुग्णता में यह दासत्व-भावना और प्रगति-विरोधी निष्क्रियता बहुत सहज सम्भाव्य है क्योंकि टी. एस. ईलियट के शब्दों में "हमारा हृदय हमसे अलग जा पड़ा है और हमारा दिमाग प्याज के छिलकों की तरह उतर गया है—क्योंकि हम एक अज्ञात भय से आकुल हैं जिससे हम आँख नहीं मिला सकते।"[2] यह भय बड़े गुप्त रूप से सभी प्रतिक्रियावादी राज्य-सत्ताओं, सम्प्रदायों और व्यवस्थाओं द्वारा मानव संस्कृति की शिराओं में विषैले कीटाणुओं की तरह सूइयों द्वारा पहुँचाया गया है, ताकि अन्दर-ही-अन्दर यह मानवीय मूल्य के प्रति हमारी आस्था को जर्जर और रुग्ण कर दे और हमारी विकासोन्मुख चेतना अन्धी हो जाय। इतनी अन्धी कि हम दासता की निष्क्रियता को ही एकमात्र समाधान मान लें। इस अत्यन्त लज्जाजनक और करुण स्थिति का एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्रण महत्तम आधुनिक ग्रीक कवि

---

1. बर्डेव—स्लेवरी एण्ड फ्रीडम।

2. मर्डर इन द कैथेड्रल।

कैवेफी ने किया है। अपनी एक मार्मिक कविता 'बर्बरों की प्रतीक्षा' में वह लिखता है–

चौराहों पर एकत्रित हम किसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ?
आज बर्बर लोग नगर में प्रवेश करेंगे।

सीनेट कोई निर्णय क्यों नहीं लेती
इतने तड़के से हमारा सम्राट् जागकर
मुकुट पहन कर, नगर-द्वार के पास सिंहासन डलवा कर
क्यों बैठ गया है ?
वह बर्वर सरदार का इस्तकबाल करेगा
वह उसे शिरोपेच भी देगा
और खिताब भी
हमारे महान् वक्ता आज चुप क्यों हैं ?
बर्बर लोग नगर में प्रवेश करेंगे,
वे कलात्मक भाषण पसन्द नहीं करते।

यह शोर और हलचल क्यों ?
सहसा सबके चेहरे कितने गिर गये
सड़कें और चौराहे खाली होने लगे।

सब उदास अपने घर लौट रहे हैं।
क्योंकि रात हो गयी और बर्बर विजेता नहीं आये
सरहदों से एलची लौट आये,
वे कहते हैं कि बर्बर विजेता अब नहीं रहे।
ओह बिना बर्बर विजेताओं के अब हम क्या करेंगे ?
वे लोग कम से कम कुछ समाधान तो प्रस्तुत कर देते थे !

समकालीन संकट की उलझनों से भरी हुई जटिलता में मानवीय मूल्य-मर्यादा को स्थापित और विकसित करने के स्वातन्त्र्यपूर्ण दायित्व की स्वीकृति का साहस न कर सकनेवाले कितने ही चिन्तक, लेखक और कलाकार इस दासता के तथाकथित कायरतापूर्ण सरल समाधान को जूए की तरह स्वीकार कर इस भय के शिकार बन चुके हैं। प्रगति और विकास की दिशा में मानव इतिहास को मोड़ने के लिए प्रत्येक जागरूक साहित्यकार को इस भय के विरुद्ध अनवरत संघर्ष करना है। यह भय मनुष्य की शिराओं में मानवीय मूल्य के स्वस्थ रक्त को कीटाणुओं की तरह दूषित कर रहा है। यह भय इस शिविर या उस शिविर में ही सीमित नहीं है, यह एक दम घोटनेवाले वातावरण की तरह पूरी धरती को घेरे हुए है। समकालीन कथाकार

रचनावली

विलियम फाकनर ने नोबेल पुरस्कार के स्वीकृति-भाषण में कहा है—"हमारा संकट यह है कि एक सर्वव्यापी भय हममें समा गया है, जिसे हमने इतने दिनों तक वहन किया है कि अब हम उसे सहने भी लगे हैं।...लेकिन नये साहित्यकार को यह सीखना है कि संसार की सबसे पतित भावना है—भय की भावना।" बिलकुल यही बात प्रकारान्तर से वियना के शान्ति-सम्मेलन में जां पाल सार्त्र ने कही थी—"समकालीन राजनीति और चिन्तन पद्धतियाँ चाहे वे किसी भी शिविर की हों, भय पर आधारित हैं। अतः वे मिथ्या को प्रश्रय देती हैं और पारस्परिक हिंसा प्रेरित करती हैं। उनके कारण हमारे बीच में भय की दीवारें हैं। शिविर और दल मिथ्या हैं। हम सत्य हैं, क्योंकि हम जो जीते हैं वही इतिहास है।"

साहित्यकार का यह नया दायित्व इतिहास-निर्माण का दायित्व है, मानव-संस्कृति के मूल्यात्मक विकास का दायित्व है और सामान्य व्यक्ति के दायित्व से कई गुना अधिक जटिल दायित्व है; क्योंकि साहित्यकार की पक्षधरता और संघर्ष विवेक का स्तर बहुत गहरा है। उसे मानव अस्तित्व की गहन परतों में उतरकर उसकी रक्तशिराओं में चलनेवाले भय और साहस के संघर्ष में भय को पराजित करना है, उसके छोटे-छोटे क्षण में जीवन-प्रक्रिया को उद्‌बुद्ध करना है, उसकी भावनाओं के सूक्ष्म से सूक्ष्म तन्तु में स्फुरित होनेवाले मानवीय मूल्य की विशदता को पहचानना है; यही नहीं, वरन् उसे इस संकट-काल के उखड़े हुए अर्द्ध ध्वस्त, प्लावनोत्तर सामाजिक ढाँचे में हरेक भटके हुए व्यक्ति की जीवन-प्रक्रिया से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर, उसके जीवन के क्षणों को स्वतः जी कर उसके द्वारा की गयी मूल्यों की निजी खोज और उनके विकास के मर्म को समझ लेना है और इन समस्त उपलब्धियों को साहसपूर्वक मानव-इतिहास के एक नये और सबसे पूर्ण, प्रांजल और प्रकाशमान युग की ओर प्रेरित करना है। साहित्य की यह नयी मर्यादा सरल नहीं है, किन्तु यदि इसी क्षण साहित्यकार इसे स्वीकार नहीं करता भय के कारण, संशय के कारण या असमंजस के कारण, तो वह एक खतरनाक मोड़ पर क्रान्ति और इतिहास के प्रति विश्वासघात करता है।

इस दायित्व को पूर्ण करने के लिए साहित्यकार के पास एक ही माध्यम है—शब्द। इस संकट ने शायद शब्द को, भाषा को सबसे अधिक क्षत-विक्षत किया है। भाषा हमारी जीवन-प्रकिया में उपलब्ध रागात्मक मूल्यों को अभिव्यक्त कर, एक व्यक्ति के उपलब्ध सत्य को दूसरे व्यक्ति द्वारा उपलब्ध शब्द से जोड़कर एक सामाजिक सेतु बनती है। मानवीय मूल्यों में संकट आते ही भाषा की यह सार्थकता जाती रही। वह यथार्थ से विभिन्न होकर अपने स्वतन्त्र नियम और सिद्धान्त विकसित करने लगी—अर्थरहित प्रतीक, टूटे चित्र, स्वप्नों की-सी अराजकता, संगीत की-सी निरर्थकता। दूसरी ओर राजसत्ताओं ने भाषा की सामाजिक उपयोगिता पहचानी और उन्होंने उनका गर्हित दुरुपयोग करना प्रारम्भ किया। उन्होंने शब्दों के अर्थ बदलने प्रारम्भ किये—शान्ति के अर्थ आक्रमण की तैयारी,

मैत्री के अर्थ आर्थिक और सामरिक पारतन्त्र्य। यही नहीं, वरन् प्रेस, रंगमंच, साहित्य, रेडियो और बुलेटिनों के द्वारा हर शब्द को इस गुप्त कीटाणु युद्ध का साधन बनाने के लिए, भावावेश, पागलपन, भय और मूर्छा से विषाक्त कर दिया गया।

इतनी दूषित भाषा के द्वारा इतना जटिल दायित्व पूरा करना है। इसका एक ही समाधान है। लिखते समय हर शब्द को अपने निर्मम विवेक की कसौटी पर कसकर देख लेना है कि वह खरा सोना है या नहीं। यदि नहीं, तो अपनी गहनतर अनुभूतियों से हर शब्द को मानवीय मूल्य से पुनः अभिव्यक्त कर तब उसे कलम पर उतारने का साहस करना चाहिए। भाषा के सम्बन्ध में हमारा यही क्रान्तिकारी दायित्व है। विनोबा ने भी एक स्थल पर कहा है–"पुराने शब्दों पर नये अर्थों की कलम लगाना ही विचार-क्रान्ति की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है।" ये नये अर्थ मूल्यगत अर्थ हैं। यही कारण है कि साहित्य में शब्द तभी समर्थ, प्रेषणीय और प्राणवान् बनते हैं जब उनमें मानवीय मूल्य आन्तरिक रूप से प्रतिष्ठित रहता है, अन्यथा वे बाँस पर लटकाये गये चीथड़ों की तरह पशुओं के लिए भयोत्पादक और विवेकपूर्ण मनुष्य के लिए हास्योत्पादक बन जाते हैं। क्रान्ति के नाम पर आनेवाले, मूल्य-मर्यादा से रहित बहुत-से आवेशपूर्ण साहित्य का यही भाग्य रहा है।

साहित्य की इस नयी मर्यादा का उदय इतिहास के धूलभरे पन्नों में खो जानेवाली एक विस्मृत कथा बनेगा, या नव निर्माण की, प्रगति की, विकास की भूमिका–यह हमारे इसी क्षण के चुनाव पर निर्भर करता है। प्रश्न सम्प्रदायों और सत्ताओं का नहीं है। प्रश्न मानवीय मूल्य-मर्यादा, उसकी साहसपूर्ण स्वीकृति और निष्ठापूर्ण आचरण का है। चुनाव स्पष्ट है, हम चाहें तो भय से वाणी को रुग्ण और जर्जर बना डालें, चाहें तो साहस को वरण कर अपनी वाणी को इस नयी मर्यादा की अपराजेय तेजस्विता से अभिषिक्त कर इतिहास को नया मोड़ दे दें। अज्ञात भविष्य में हमारा साहित्य कहाँ तक स्थायी रहेगा, यह भी इसी पर निर्भर करता है कि हम इसी क्षण अपने कृतित्व में स्थायी मानवीय मूल्य के समस्त सम्भावित विकास का कहाँ तक और कितनी गहराई तक साक्षात्कार करा पाते हैं।

रचनावली

नये मूल्य और विविध सन्दर्भ

रचनावली

समीक्षा के आयाम

समकालीन साहित्य-सृजन में शायद आलोचना का क्षेत्र सर्वाधिक जनसंकुल है। गहनता की बात तो कहना कठिन होगा, शायद स्तर भी बहुत सन्तोषजनक नहीं है, किन्तु उत्साह और परिमाण दोनों दृष्टियों से आज वहाँ अधिक क्रियाशीलता परिलक्षित होती है। साहित्य जिस द्रुतगति से विकसित हो रहा है, उसके सांस्कृतिक मूल्यों में जितनी तेजी से परिवर्तन हो रहा है, भावभूमि में जितना गहन विक्षोभ आ गया है, नवीनतम चेतनाओं को ग्रहण करने की जो आतुरता है, शिल्प के स्तर पर जितनी सशक्त अन्वेषण-प्रवृत्ति जाग उठी है, भाषा और उसकी शक्तियों को जितने अप्रत्याशित मोड़ दिये जा रहे हैं, और हमारी साहित्यिक-चेतना अपनी परम्परागत सीमाओं को तोड़कर देश-विदेश के जिन नये क्षितिजों को छूकर समृद्ध होती जा रही है, उसे देखते हुए सृजन के साथ-साथ समीक्षात्मक वृत्ति का इस तरह जाग उठना और क्रियाशील हो जाना स्वाभाविक ही है।

किन्तु इसका एक दूसरा पहलू भी है जिसकी ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जा रहा है। साहित्य के विकास में इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण मोड़ पर उसकी उपेक्षा करना कहीं अत्यन्त घातक न सिद्ध हो, इसका गम्भीर खतरा है। हिन्दी की आलोचना क्रियाशील अवश्य है किन्तु अपनी समकालीन परिस्थितियों की सापेक्षता में उसने अपने गम्भीर दायित्व को भी पहचाना है, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। किसी भी साहित्य के स्वस्थ और सर्वांगीण विकास में समीक्षात्मक वृत्ति–चाहे वह कितनी भी क्रियाशील क्यों न हो–तब तक सहायक नहीं होती जब तक कि उसका उचित निर्देशन करने के लिए एक व्यापक, उदार, सर्वांगीण, वस्तुपरक और वैज्ञानिक समीक्षा-दृष्टि विकसित नहीं होती। उस संयमित और सन्तुलित दृष्टि के अभाव में यह सारा समीक्षात्मक अभियान लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है, नये सृजन में सहायक न होकर उसे कुण्ठित कर डालता है, पुरानी परम्पराओं को नये रूपों में विकसित न करके उनके प्रति गलत दृष्टिकोण बना लेता है, इतिहास की विकृत व्याख्याएँ करने लगता है,

साहित्य और जन-जीवन के सही सम्बन्ध-सूत्रों को दृढ़ करके उन्हें विच्छिन्न और जर्जर कर डालता है। परिणाम यह होता है कि युक्तियुक्त वैज्ञानिकता तत्त्व नष्ट हो जाते हैं और साहित्यिक वातावरण में आतंक, कटुता, दलगत पूर्वग्रह, अराजकता और संकीर्णता छा जाती है, गलत मानदण्ड प्रतिष्ठित हो जाते हैं और उनसे अनुशासित साहित्य कुण्ठित, बौना, जर्जर, क्षणिक और खोखला बन जाता है। अपने वास्तविक उत्तरदायित्व को न पहचानकर, समीक्षक भी सन्तुलन खो बैठता है और या तो वह पुरानी रूढ़ियों के घेरे में आश्रय खोजने की चेष्टा करता है, या आवेश में राजनीतिक 'कमिसार' का अभिनय करने लगता है, या केवल शिल्प और शैली की पच्चीकारी के ह्रासोन्मुख वातावरण में अपने को भुलावा देना चाहता है। वास्तव में उसके ये तीनों ही रूप अपने विराट् दायित्व को समग्रता से स्वीकार न कर पाने के अनिवार्य परिणाम हैं। इनसे ग्रस्त समीक्षा न केवल स्वतः पथभ्रष्ट हो जाती है, वरन् उससे प्रभावित और निर्देशित प्रतिभाएँ भी मरु-मरीचिकाओं में भटककर समाप्त हो जाती हैं। और—अब वह समय आ गया है जब हमें साहस और ईमानदारी से यह स्वीकार करना चाहिए कि हिन्दी समीक्षा समवेत रूप से अभी तक अपने विराट् दायित्व को आत्मसात् नहीं कर पायी है और यदि छायावाद-काल से लेकर आज तक, हमारे प्रमुख कलाकारों और साहित्यिक निकायों (Schools) की अपनी अभिरुचि में थोड़ा-बहुत परिष्कार न होता और अपने विश्वासों का बल न होता तो आधुनिक हिन्दी साहित्य और भी अधिक निर्धन होता, उसकी सर्जनात्मक प्रवृत्तियाँ और भी कुण्ठित हो गयी होतीं, उसकी भावभूमि में और भी अधिक विकृतियाँ आ गयी होतीं।

हिन्दी-समीक्षा इतनी बौनी और कुण्ठित क्यों रह गयी, इसका कारण यह मालूम होता है कि किसी भी जाति या समाज के सांस्कृतिक जीवन की चिरविकासशील प्रगति में साहित्य का सही मूल्य क्या होता है, उसकी शक्ति के मूलाधार क्या होते हैं, उसका अपना विकास किस सीमा तक जाति के आर्थिक या राजनीतिक विकास के समानान्तर होता है, वह किस सीमा तक अपने पृथक् नियमों से परिचालित होता है, साहित्यकार व्यक्ति के रूप में कैसे सामाजिक प्रभावों को ग्रहण करता है, रचनाकार के रूप में किन मानसिक प्रक्रियाओं से होकर गुजरता है, अपनी परम्परा से उसका क्या सम्बन्ध होता है, कलाकार के रूप में उसके द्वारा विकीर्ण सामाजिक प्रभाव की कौन-सी विशिष्टताएँ होती हैं, आज तक सांस्कृतिक इतिहास में कौन-से मानवीय मूल्य ऐसे हैं जो अपेक्षाकृत स्थायी और चिरमर्मस्पर्शी हैं और सामयिक समस्याओं के समाधान की सापेक्षता में उनका क्या महत्त्व है—इन समस्त प्रश्नों पर या तो हिन्दी-समीक्षक ने विचार करने की आवश्यकता नहीं समझी ? या उसने इनके विषय में कुछ एकांगी, अधूरी और अपरिपक्व मान्यताओं को ही समीक्षा के वैज्ञानिक मानदण्ड समझने की भूल कर डाली। एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी की समीक्षा का 'कैनवस' उसके दायित्व को देखते हुए बहुत छोटा रहा है। उस 'कैनवस'

रचनावली

के विस्तार की ओर संकेत करना अत्यन्त आवश्यक है।

कोई भी साहित्यिक कृति या धारा अपने में निरपेक्ष, निस्संग, असम्पृक्त कृति या धारा नहीं होती। उसके पीछे एक लम्बी काव्य-परम्परा होती है। वह काव्य-परम्परा किसी विशेष जाति या समाज के बहुमुखी सांस्कृतिक कृतित्व का एक अंगमात्र होती है। उसके पीछे उस जाति के सुख-दुःख, संघर्ष और समन्वय, चिन्तन और अनुभूति के सैकड़ों और हजारों वर्ष के इतिहास की संचित परम्परा रहती है। वह क्षण, जिसमें वह कृति रची गयी, उस लम्बे इतिहास की ही एक सम्बद्ध कड़ी है और वह कलाकार उसी समूह की एक इकाई है, फिर भी किसी विशिष्ट अनुभूति-प्रक्रिया और रचना-प्रणाली के बल पर सृजन का वह क्षण समस्त परम्परागत इतिहास से अधिक सजीव और मर्मस्पर्शी बन जाता है। कलाकार में एक विशिष्टता है जिसके बल पर वह काल-प्रवाह के उस एक बिन्दु को शब्दों में बाँधकर युग-युग के लिए स्थायी कर देता है। उस क्षण में उसके द्वारा अनुभूत भाव-सत्य केवल उसका और उस क्षण का ही न रहकर साधारणीकृत और स्थायी भी हो जाता है। इस समस्त प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए किसी भी कृति के मूल्यांकन में तीन तत्त्वों पर विचार करना अनिवार्य है। ये तीन तत्त्व अलग नहीं हैं, न इन पर एक-दूसरे से पृथक् रूप में विचार हो सकता है। ये तीनों समीक्षा के तीन आयाम (Dimensions) हैं और किसी भी एक के बिना शेष दो निरर्थक हैं। एक कलाकृति पहले रूप में एक संचित शास्त्रीय परम्परा, जातीय सौन्दर्यबोध और परम्परागत काव्य-शृंखला की विशिष्ट कड़ी होती है। दूसरे रूप में वह एक विशिष्ट समाज-व्यवस्था की सांस्कृतिक निधि होती है और उसका एक विशिष्ट मूल्य होता है। तीसरे रूप में वह एक व्यक्ति की, एक विशिष्ट क्षण की अनुभूति की शब्दात्मक अभिव्यक्ति होती है और कुछ विशिष्ट तत्त्वों से समन्वित होकर वह कलाकृति का महत्त्व प्राप्त करती है। किसी भी कलाकृति या प्रवृत्ति का मूल्यांकन करते समय यदि इनमें से एक भी पक्ष की उपेक्षा की गयी तो वह समीक्षा एकांगी बन जाती है।

दुर्भाग्य से हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में यह भूल बार-बार हुई है और यही नहीं वरन् बहुधा यह देखा गया है कि आलोचकों के दलों ने इस एकांगिता को ही अपनी विशिष्टता के रूप में प्रचारित किया और अज्ञानवश अपने एकांगी मार्ग के अतिरिक्त अन्य सभी मार्गों का सक्रिय विरोध किया। एक ओर वे लोग रहे जिन्होंने परम्परा के नाम पर, शास्त्रीयता के नाम पर उन रूढ़ियों का समर्थन किया जिनका सारा अर्थ जीवन्त सांस्कृतिक परम्परा की सापेक्षता में नष्ट हो चुका था, जिन्हें किसी भी प्रकार के प्रगतिशील और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रश्रय देना स्वीकार नहीं था। दूसरी ओर ऐसे भी लोग रहे जिन्होंने प्रगतिशीलता और वैज्ञानिक समाजवाद के नाम पर दलगत राजनीति एवं नितान्त अवैज्ञानिक पद्धतियों का प्रचार किया। तीसरी ओर ऐसे लोग रहे जो साहित्य के विराट् सांस्कृतिक 'कैनवस' और महत्त्वपूर्ण सामाजिक स्थिति को

पूर्णतया भूलकर केवल उसकी वैयक्तिक स्थिति, रचना-प्रक्रिया, शिल्प और सौन्दर्य-बोध का अन्वेषण करते रहे। तीनों का ही सत्य आंशिक था, अतः एक विराट् समग्रता में समन्वित न होने के कारण वह विकलांग और हानिकर ही सिद्ध हुआ।

सबसे पहले परम्परा की बात उठाई जाय। परम्परा की बात इसलिए भी हिन्दी के प्रसंग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि बहुत कम ऐसी भाषाएँ हैं जिनके पीछे इतनी लम्बी, इतनी समृद्ध और इतनी जटिल परम्परा हो जितनी कि हमारी भाषा के पीछे है। हम चाहे विरोध करें या समर्थन, चाहे संरक्षण ग्रहण करें या निर्वासन; किन्तु हर मोड़ पर हमारी परम्परा ने हमारी गति को एक निश्चित रुख दिया है, हम उससे मुक्त नहीं हो पाये हैं और न वैज्ञानिक दृष्टि से कोई भी अपनी परम्परा और जातीय संस्कारों से मुक्त हो सकता है। किन्तु दुर्भाग्य यह था कि रीति काल ने आधुनिक काल को शास्त्रीय परम्परा के नाम पर जो दृष्टिकोण दिया था वह स्वतः अत्यन्त एकांगी और संकीर्ण था। वह काव्यशास्त्र संस्कृत-काव्यशास्त्र का अपरिपक्व हिन्दी उल्था-मात्र था। संस्कृत उस समय जनभाषा न थी। न जाने कितनी शताब्दियों से संस्कृत केवल पण्डितवर्ग की भाषा रह गयी थी और लोक-व्यवहार से जो नित्य नये संस्कार किसी भी साहित्य-परम्परा को मिलाते हैं, संस्कृत उनसे वंचित हो गयी थी। अपभ्रंश और उसके बाद स्वयम्भू से लेकर तुलसी तक हिन्दी को जो प्राणवान् लोक-स्पर्श मिला था, जितनी धाराएँ और परम्पराएँ उसमें समाहित हो गयी थीं, चन्द, कबीर, मीरा, जायसी, सूर और नन्ददास ने जितने स्तरों की अनूभूतियों से हिन्दी काव्य-धारा को समृद्ध कर दिया था उनका समाहार उस काव्यशास्त्र में नहीं हो पाया जो रीतिकाल के आचार्य कवियों द्वारा अपनाया गया। वह हिन्दी का तो प्रतिनिधि काव्यशास्त्र था ही नहीं, संस्कृत में भी मध्यकाल में विभिन्न धर्म-साधनाओं ने काव्यशास्त्र में जो नवीन उद्भावनाएँ की थीं—जैसे तन्त्र निर्देशित भाषा की मन्त्र-शक्ति, वैष्णवों द्वारा अनुमोदित 'महाभाव', 'समाधि भाषा' आदि—उनका भी कोई विचार उस काव्यशास्त्र में नहीं था। वह संस्कृत-काव्यशास्त्र की कुछ विशेष परम्पराओं का ही सीमित प्रतिनिधि था। आधुनिक युग के साथ जब सहसा एक नयी सांस्कृतिक चेतना का उदय हुआ और नये काव्यरूप और नये ढंग की कृतियाँ सम्मुख आयीं तब उस काव्यशास्त्र की कमी सहसा अनुभव होने लगी और वे मानदण्ड यथेष्ट सिद्ध होने लगे। शास्त्री विद्वानों का एक वर्ग तो ऐसा भी रहा कि परम्परा के मोह में उसने खड़ी बोली की तमाम नयी साहित्यिक प्रवृत्तियों का ही अन्धविरोध न किया प्रत्युत अपने चिन्तन-विकास के समस्त द्वार ही बन्द कर लिए। आज ऐसे लोगों की संख्या उँगलियों पर ही गिनी जाने लायक बच रही है, किन्तु किसी समय उनसे साहित्य की विकासशील धारा को कितना कठोर संघर्ष मोल लेना पड़ा था यह 'पल्लव' की भूमिका से आज भी अनुमान किया जा सकता है। किन्तु; एक वर्ग आलोचकों का ऐसा भी था जिसने युग-धर्म का स्वागत किया और पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र को

रचनावली

यथोचित सम्मान दिया और नये साहित्य के आकलन के लिए नयी कसौटियाँ स्वीकार कीं। कहीं-कहीं उन्होंने नये वैज्ञानिक सिद्धान्तों की कसौटी पर शास्त्रीय परम्परा को कसकर खरा दिखाने का भी प्रयास किया। इस प्रकार अपनी परम्पराओं से उन्मूलित हुए बिना उन्होंने जिस सीमा तक नयी चेतनाओं को प्रश्रय दिया, वहाँ तक आज भी आचार्य शुक्ल अद्वितीय और अपराजेय हैं। उनकी सीमाएँ वहीं हैं जहाँ उन्होंने शास्त्र की गतिशील विकासमान प्रकृति को मान्यता नहीं दी। स्वस्थ और जीवनदायी समझौता या समन्वय सदैव दो जीवन्त और विकासशील परम्पराओं में होता है। यदि उनमें से एक भी परम्परा का विकास अवरुद्ध हो चुका है, वह पथरा चुकी है और बिना पुनर्मूल्यांकन के उसे यथावत् स्वीकार कर लिया जाता है, तो वह दूसरी जीवन्त परम्परा को भी कुण्ठित और अवरुद्ध कर डालती है। आचार्य शुक्ल के अद्वितीय व्यक्तित्व के प्रति सम्पूर्ण समादर रखते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि इसी कारण उनकी दृष्टि कई स्थलों पर संकुचित रह गयी थी और वे अपने समकालीन कई आन्दोलनों को वह सहानुभूति नहीं दे पाये थे जिसकी उनसे अपेक्षा की जाती थी। फिर भी जिस स्तर पर उन्होंने हिन्दी-समीक्षा को छोड़ा था और प्रथम इतिहास प्रस्तुत करके परम्परा के ऐतिहासिक मूल्यांकन का जो सूत्रपात किया था उसको उनके परवर्ती समीक्षक आशा के अनुरूप नहीं बढ़ा पाये।

'परम्परा का ऐतिहासिक मूल्यांकन' इसीलिए आवश्यक था कि हम परम्परा को जीवित रख सकें, उसे अपना सम्बल बना सकें। वह ऐसी उर्वर भूमि बनी रहे जिससे हमारे चिन्तन की जड़ें अधिक-से-अधिक खुराक पा सकें। हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में मार्क्सवादी चिन्तन-धारा के प्रवेश के साथ इस बात की सम्भावना दीख पड़ी कि यह चिन्तन-प्रणाली इस विराट् कार्य को पूरा करेगी, किन्तु; प्रारम्भ से ही इस निकाय का दृष्टिकोण इतना एकांगी रहा कि कम-से-कम इनके हाथों से शास्त्रीय परम्परा के पुनर्मूल्यांकन की आशा जाती रही। यही नहीं, बल्कि वर्ग-संघर्ष और जनवादी सांस्कृतिक परम्परा के जटिल रूप को समझे बिना इन्होंने समस्त प्राचीन संस्कृति को सामन्तवादी संस्कृति करार देकर उससे विच्छिन्न हो जाने का भी नारा लगाया। यह नारा न केवल अवैज्ञानिक था, वरन् मार्क्सवाद की भी एक गलत व्याख्या थी। तत्कालीन स्थिति ने उनके मन में बहुत-सी ऐसी मध्यमवर्गीय कुण्ठाओं और पूर्वग्रहों को उभार दिया था और वह खुद एक ऐसे बूर्जुआ अहंकार से ग्रस्त थे जिसके कारण उनके मन के समाज-विरोधी ग्रह प्रबल थे और शेष सामाजिक जीवन से वे लोग विच्छिन्न और उन्मूलित हो चुके थे। इसलिए जब उन्होंने सांस्कृतिक परम्परा के विरुद्ध आवाज उठाई तो वह वास्तव में उनकी एक स्वतः मनोविकृति की अभिव्यक्ति थी, मार्क्सवाद तो केवल बाह्य आवरण था। किन्तु इससे जिस सीमा तक मार्क्सवाद ने एक ऐतिहासिक दृष्टि प्रदान की थी उसका महत्त्व कम नहीं होता। अगर हिन्दी में भी यह दृष्टि स्वस्थ रीति से विकसित होती चलती तो आज हमारी

समीक्षा अपेक्षाकृत कहीं अधिक सम्पन्न होती।

किन्तु, एक दूसरी दिशा से भारतीय ऐतिहासिक परम्परा का पूनर्मूल्यांकन प्रारम्भ हुआ था और उसके लोक-तत्त्वों को समुचित प्रश्रय मिल रहा था। वह था गांधी के नेतृत्व में चलनेवाला भारतीय पुनर्जागरण का आन्दोलन और उससे प्रभावित गुरुदेव द्वारा स्थापित शान्तिनिकेतन। शान्तिनिकेतन में भारतीय तथा विदेशी विद्वानों का एक बहुत बड़ा दल मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के लोकपरक तत्त्वों के संग्रह और संरक्षण में लग गया था। सन्तों और बाउलों की वाणियाँ, अजन्ता की कला, मणिपुर के लोक-नृत्य, सन्थालों का लोक-जीवन और मध्यकालीन अगणित धर्म-साधनाएँ (जो भारतीय जनान्दोलनों के धार्मिक रूपान्तर मात्र थे) इन सबका एक नवीन मूल्यांकन प्रारम्भ हुआ और जो अवशिष्ट परम्पराएँ जन-जीवन में बच रही थीं उनका पुनरुत्थान करके अपने समस्त अतीत को वर्तमान जीवन्त क्षणों में प्रतिफलित करने का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास बहुत बड़े स्तर पर हुआ। बहुत दिनों तक हिन्दी इस दृष्टिकोण से वंचित रही, किन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की महत्त्वपूर्ण पुस्तिका 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में जब हिन्दी को अपनी इस परम्परा के नये सामाजिक मूल्यांकन की एक छोटी-सी झलक मिली तो अपने वैभव और अपनी समृद्धि विरासत पर वह स्वतः स्तब्ध हो गयी। उसमें तथा उनकी अन्य कृतियों में अपनाया गया दृष्टिकोण प्राचीनतम और नवीनतम का अद्भुत सम्मिश्रण था, उसकी सामाजिक दृष्टि यान्त्रिक, अवैज्ञानिक और ऊपर से थोपी हुई नहीं थी, वह दृष्टि अपनी परम्परा से नये वैज्ञानिक आधारों पर विकसित हुई थी। उसमें कबीर से लेकर रवीन्द्र तक की व्यापक मानवतावादी दृष्टि का संचित संस्कार था। वह अध्ययन-परम्परा उस गति से आगे न बढ़ पाई जैसी कि बढ़नी चाहिए थी। यही नहीं वरन् आगे चलकर वह दृष्टि धूमिल पड़ने लगी और उसका यथोचित विकास नहीं हो पाया।

वर्तमान का प्रश्न आते ही साहित्य के दूसरे पक्ष पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है जिसमें साहित्य वर्तमान समाज-व्यवस्था का एक सांस्कृतिक अंग होता है। वह उस व्यवस्था से प्रभावित होता है और उसे प्रभावित करता है। समाज द्वारा मान्य नैतिक धारणाओं की कसौटी पर साहित्य को कसने का प्रयास नया नहीं है और न साहित्य से सामाजिक समस्याओं के समाधान माँगने का ही प्रयास नया है। भारतीय परम्पराओं में 'शिवेतरक्षतये' कहकर उसकी इस स्थिति की ओर संकेत किया गया और ग्रीक परम्परा में तो कवि की सामाजिक स्थिति पर समीक्षकों में गहरा मतभेद रहा है। पश्चिम में मध्यकालीन ईसाई-मठ साहित्य के सामाजिक प्रभाव के प्रति सदैव जागरूक रहे हैं। मार्क्सवाद की मौलिकता यह नहीं है कि उसने साहित्य के सामाजिक महत्त्व को पहचाना, उसकी मौलिकता यह है कि साहित्य को उसने अपने राजनीतिक संघर्ष और क्रान्तिदर्शन में एक महत्त्वपूर्ण प्रचार-शास्त्र का स्थान दिया और उसके समर्थन में यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि प्रत्येक युग का साहित्य किसी-न-किसी

रचनावली

विशेष वर्ग के प्रचार का साधन रहा है। साहित्य की सामाजिक स्थिति के प्रति यह एक अतिवादी दृष्टिकोण है जिसके निराकरण की कई भावभूमियाँ मार्क्स और एंजेल्स से लेकर गोर्की तक के लेखन में मिलती हैं, लेकिन बाद में कुत्सित समाजशास्त्रियों और दलगत स्वार्थों के लिए साहित्य का राजनीतिक दुरुपयोग करनेवालों ने इस अतिवादी दृष्टिकोण को विकृति की सीमाओं तक पहुँचा दिया। यह अतिवाद केवल मार्क्सवादी शिविर में ही हो ऐसी बात नहीं है—मध्यकाल में जिन धर्मान्ध विजेताओं ने नालन्दा के विशाल पुस्तकालय और कलात्मक वैष्णव-मन्दिरों को कुफ्र करार देकर जला दिया या तोड़ दिया। जिन कैथोलिक पादरियों ने ग्राहमग्रीन के उपन्यासों को पापपूर्ण मानने का आन्दोलन चलाया, जिन नाजियों ने आइन्स्टीन को देश निकाला दिया, जिन राजनीतिक 'कमिसारों' ने 'डास्टावस्की' के साहित्य के पठन-पाठन पर प्रतिबन्ध लगाया, और जिन शुद्धतावादियों ने सूर के साहित्य को कामुक और अनैतिक करार दिया, वे सभी एक ही अतिवादिता के शिकार रहे हैं, वह अतिवादिता, जो अपने एकांगी और संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण साहित्य के सामाजिक उपयोग की सूक्ष्मता को ठीक-ठीक नहीं समझ पाती। ऐसे लोग साहित्य द्वारा समाज का हित चाहते हैं, लेकिन अज्ञानपूर्ण और अवैज्ञानिक ढंग से।

इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि साहित्य की महत्ता और सामाजिक उपयोगिता इसी में है कि वह हमारी चेतना में बहुत गहरे उतरकर हमारी वृत्तियों का संस्कार करता है, उन्हें एक उदात्त सामाजिकता प्रदान करता है। वह चाहे किसी भी संकीर्ण मतवाद का प्रचार करे या न करे, वह किसी भी तात्कालिक समस्या का स्पष्ट समाधान दे या न दे, किन्तु यदि उसमें वह शक्ति है कि वह हमारी वृत्तियों को संस्कृत बनाता है तो वह साहित्य कल्याणकारी है। टाल्स्टाय की राजनीति क्या थी, शेक्सपीयर ने अपने समय के किसी दंगे में किसका पक्ष लिया था और टी. एस. ईलियट किस ईसाई-सम्प्रदाय का अनुयायी है—यदि पाठक यह नहीं जानता, फिर भी इनका साहित्य उसके हृदय को छूता है, उसकी वृत्तियों को परिष्कृत करता है, उसके सौन्दर्य-बोध को जाग्रत् करता है, उसके व्यक्तित्व को सामाजिक बनाता है, उसमें मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है, उसकी दायित्व-भावना को सचेत करता है—संक्षेप में यदि वह उसे जीवन-प्रक्रिया के प्रति उद्बुद्ध करता है और समाज की अधिक सुसंस्कृत इकाई भी बनाता है तो उसने अपना दायित्व पूरा किया है। बाह्य घटनाओं की अपेक्षा साहित्यकार का ध्यान सामाजिक व्यवस्था द्वारा उद्भूत जटिल रागात्मक स्थितियों और उनसे उत्पन्न होनेवाली विषमताओं, विकृतियों तथा असन्तुलन पर केन्द्रित रहता है और वह उन्हीं का परिहार एवं परिष्कार करता है। कभी वह उसके लिए तात्कालिक नाम, स्थिति और पृष्ठभूमि ग्रहण करता है, कभी वह उसी को पौराणिक और काल्पनिक देश-काल और पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, कभी वह उसके लिए अप्रस्तुत प्रतीकों और संकेतों का आश्रय लेता है।

रचनावली

साहित्यकार अपने स्तर पर, अपने ढंग से संस्कृति की विराट् प्रक्रिया में योग देता है। रसानुभूति और सौन्दर्य-बोध उसके माध्यम हैं और युग, काल एवं स्थितियों के अनुसार जैसी भी जटिलताएँ होती हैं, वैसी ही सूक्ष्म तथा अप्रत्यक्ष रीति से वह अपना कार्य करता है।

यह तो हुई समग्र रूप में साहित्यिक के सामाजिक देय की बात। वैयक्तिक दृष्टि से भी उसकी कई विलक्षणताएँ होती हैं। प्रत्येक साहित्यकार की समीक्षा-दृष्टि भी उतनी ही पैनी हो यह आवश्यक नहीं। बहुत-से कलाकार ऐसे हैं जो अनजाने ही इस संस्कृति-निर्माण में अपना देय देते रहते हैं, जब कि वे प्रत्यक्ष रूप से कला की सामाजिक उपयोगिता को न तो स्वीकार ही करते हैं और न अपने को उसका अनुगामी मानते हैं। इसके विपरीत ऐसे भी साहित्यकार हैं जो प्रत्यक्ष रूप से किसी विशेष मतवाद के अनुयायी हैं, किन्तु उनके साहित्य में उनकी घोषित नीति के सर्वथा विरुद्ध प्रवृत्तियाँ झलकती हैं। पुनश्च अधिकांश साहित्यकारों में दोनों प्रवृत्तियाँ साथ-साथ रहती हैं, उनका अनुपात चाहे जो भी हो। और बहुत-से कलाकार ऐसे भी होते हैं, जिनके घोषित विचार अत्यन्त कल्याणकारी होते हैं। अपनी कला में भी वे उन्हीं को प्रतिष्ठित भी करते हैं, किन्तु कहीं-न-कहीं रसानुभूति और सौन्दर्य-बोध का आश्रय उनसे छूट जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी कला जन-मन में गहरी उतरकर वृत्तियों को संस्कार नहीं प्रदान कर पाती और इसी प्रकार दूसरे ढंग से वह निष्फल सिद्ध होती है।

समीक्षक को किसी भी कृति की सामाजिक उपादेयता का मूल्यांकन करते समय उन जटिल सूक्ष्मताओं का पूरा ध्यान रखना चाहिए, अन्यथा कुछ सतही, एकांगी और हानिकर दृष्टिकोण उभर आते हैं, जो उसे एक भ्रमपूर्ण स्थिति में डाल देते हैं। संस्कृति केवल धार्मिक कट्टरता, राजनीतिक अवसरवादिता और सतही नैतिकता से अधिक व्यापक है, उसका केन्द्रबिन्दु मनुष्य का समग्र अस्तित्व है, जो कहीं अधिक गहन और बहुमुखी है। संस्कृति और समाज-व्यवस्था के तात्कालिक और दीर्घसूत्री सम्बन्धों के विषय में मार्क्स के बाद के समाजशास्त्रियों ने मानव-शास्त्र (Anthropology) और मनोविज्ञान आदि अन्य कितनी ही वैज्ञानिक पद्धतियों का आश्रय ग्रहण करके इन जटिलताओं का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। यदि अपनी विचार-पद्धति में समीक्षक इस नये ज्ञान-क्षेत्र के प्रति जागरूक नहीं रहता तो वह अनजाने ही एकांगिकता का शिकार हो जाता है। सामाजिक उपयोगिता पर निर्णय देते समय उसे बहुत गहरे पैठने की आवश्यकता होती है। यह एक खतरनाक किन्तु आकर्षक अस्त्र है और समय-समय पर धर्म, वर्ग तथा राजनीतिक दल समीक्षा के इस अंग का दुरुपयोग करते आये हैं और आज भी कर रहे हैं। निःसन्देह कलाकार और समीक्षक दोनों पक्षधर (partisan) होते हैं किन्तु सांस्कृतिक स्तर पर पक्षधरता का वही रूप नहीं रह जाता जो राजनीतिक स्तर पर रहता है। सेल्डेन राडमन ने एक स्थान पर कहा

रचनावली

है–"अगर किसी के लिए भी संघर्ष से असम्पृक्त रहना आवश्यक है तो कलाकार के लिए। अगर किसी के लिए भी संघर्ष में डूबना आवश्यक है तो कलाकार के लिए। उसको पक्ष भी ग्रहण करना चाहिए और फिर भी अपने आधे हृदय की सारी सहानुभूति शत्रु के लिए सुरक्षित रखनी चाहिए।...क्रान्ति के दिनों में युद्ध, शान्ति और सामाजिक न्याय की विशाल समस्याओं के सामने वैयक्तिक नैतिक समस्याएँ और जीवन-प्रवृत्तियाँ बिल्कुल तिनके के समान लगने लगती हैं–लेकिन कविता यदि कविता बनी रहना चाहती है तो उसे इन सामूहिक समस्याओं का आकलन, इन छोटे केन्द्रबिन्दुओं से उद्भूत भावात्मक प्रतिक्रियाओं के आधार पर–दूसरे शब्दों में पार्टी की नीति के बजाय मानवीय मूल्यों के आधार पर करना चाहिए।" आज संसार की जो स्थिति है (और हिन्दीभाषी प्रदेश उससे अलग नहीं हैं !) उसमें इन समस्त जटिलताओं में मानवीय मूल्यों के आधार पर कला को आधुनिक सन्दर्भ में समझने की आवश्यकता और भी प्रखर है।

मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में यदि हम साहित्य को नहीं समझते तो अक्सर हम ऐसी झूठी प्रतिमान योजना को प्रश्रय देने लगते हैं कि समस्त साहित्यिक अभियान गलत दिशाओं में मुड़ जाता है। चाहे हम परम्परा का मूल्यांकन कर रहे हों, चाहे सामाजिक उपादेयता की माप कर रहे हों, यदि हम उसके मानवीय आधार से स्खलित होते हैं तो हम साहित्य के मर्म को तो नहीं ही पा सकते, और यदि वह साहित्य के मर्म को नहीं पा सकता तो समीक्षक चाहे पाठानुसन्धान से लेकर वर्ग-विश्लेषण तक की 'कथाकथित वैज्ञानिक' भूलभुलैयों में भटके, पर वह साहित्य के बाह्य को ही टटोलकर रह जाता है। एकेडेमिक (शास्त्रीय या हिन्दी के सन्दर्भ में 'परीक्षोपयोगी') समीक्षा से लेकर मार्क्सीय समीक्षा तक की यही असफलता रही है।

सृजन-प्रक्रिया का मानवीय धरातल

कभी-कभी ऐसा लगता है कि साहित्य के मूल्यांकन के ये झूठे प्रतिमान इसलिए अपनाये जाते हैं कि हम साहित्य की अन्तःप्रेरणा की वास्तविक मानवीय प्रकृति को समझने में भूल करते हैं। या तो हम अन्तःप्रेरणा और सृजन-प्रक्रिया के प्रश्न की उपेक्षा कर जाते हैं या उस प्रेरणा को मानवीय धरातल की वस्तु न समझकर उसे कभी दैवी रहस्य-चेतन, कभी अन्य सामाजिक शक्तियों की प्रतिच्छाया, कभी अचेतन शक्तियों की निष्प्रयोजन क्रीड़ा मानकर उसके विषय में भ्रान्त धारणाओं को प्रश्रय देते रहते हैं। इसलिए सबसे पहली आवश्यकता है सृजन-प्रक्रिया की वास्तविक प्रकृति को समझना। कलाकृति, चाहे वह शब्दों में हो या संगीतात्मक ध्वनियों में, चाहे रंगों और रेखाओं में हो या स्थापन में···किन्तु उससे कलाकार के अन्तर्जगत् का निकटतम सम्बन्ध रहता है। प्रत्येक कविता, या चित्र या गीत का उद्‌गम कलाकार के मानस से होता है–इसमें कोई सन्देह नहीं है। वे, जो कला को या तो दैवी शक्तियों या सामाजिक शक्तियों द्वारा उद्‌भूत मानते रहे हैं, वे भी इतना तो मानते ही हैं कि ये शक्तियाँ भी मनुष्य के अन्तर्जगत् में संस्कार या अवतरण, या अन्य किसी रूप में पहले प्रतिष्ठित होती हैं और तभी आपकी सृजन-प्रक्रिया को प्रभावित कर पाती हैं और कलाकार के अन्तर्जगत् में घटित होनेवाली इस सृजन-प्रक्रिया का मूल अन्तःप्रेरणा है। जब तक कलाकार में अन्तःप्रेरणा नहीं जागती तब तक वह सजीव कलाकृति नहीं प्रस्तुत कर पाता।

इस अन्तःप्रेरणा का मूल स्रोत और प्रकृति इतनी जटिल और गूढ़ है कि आदिकाल से अधिकांश विचारक इसके विश्लेषण से बचते ही आये हैं। आदिकाल और मध्यकाल में समस्त कला, समीक्षा अन्ततोगत्वा इस अन्तःप्रेरणा को मानवोपरि दैवी स्तरों से सम्बद्ध कर देती थी। सरस्वती या कोई भी अन्य बुद्धि या कला का देवता मनुष्यों के हृदय में अपनी एक किरण प्रेरणा के रूप से उद्‌भासित कर देता है और उस समय सृजनकर्ता कलाकार मात्र माध्यम रह जाता है, शैवों की यह कल्पना

रचनावली

कि समस्त शब्द और ध्वनियाँ अन्ततोगत्वा शिव के डमरू से उत्पन्न हुई हैं, तान्त्रिकों की यह कल्पना कि समस्त अक्षर बीजाक्षर हैं, और दैवी शक्तियों से सम्पन्न हैं, वैष्णवों की यह कल्पना कि प्रभु की लीला का गायन करनेवाला प्रत्येक कवि किसी-न-किसी अंश में उनकी वंशी का अवतार है जिसमें फूँक या अन्तःप्रेरणा दैवी शक्ति से जाग्रत् होती है···यहाँ तक कि जयदेव का अधूरा श्लोक स्वतः कृष्ण आकर पूरा कर देते हैं··· ये सारी कल्पनाएँ इसी एक मूल तत्त्व पर आधारित हैं कि कलाकृति की प्रबलतम अन्तःप्रेरणा जो अधिकतर मनुष्य की सचेतन मानसिक शक्तियों या वातावरण का अतिक्रमण कर जाती है··· उसका ठीक-ठीक निदान मध्यकालीन चिन्तक मानवीय मनोविज्ञान में नहीं खोज पाते हैं। वर्तमान युग में किसी-न-किसी रूप में यह विचारधारा वर्तमान है। अरविन्द ने अपने एक पत्र में कहा है–"कवि उच्चतम या सर्वाधिक मुक्त क्षणों में, अपने बाह्य सचेत मानस द्वारा नहीं लिखता, वरन् अन्तःप्रेरणा से देवताओं के प्रवक्ता की भाँति लिखता है।"

दैवी प्रेरणा की बात सर्वमान्य नहीं है किन्तु इतना तो स्वतः कलाकारों की साक्षी से ज्ञात है कि उनकी अन्तःप्रेरणा मन के सचेत स्तरों की अपेक्षा उसके अवचेतन या अर्द्धचेतन स्तरों पर जाग्रत् होती है। अक्सर वे अपने व्यावहारिक दैनिक जीवन के किसी अत्यन्त शुष्क, नीरस व्यापार में संलग्न रहते हैं पर उनके मन के गहन स्तरों में कुछ और ही घटित होता रहता है, और जब उसका विस्फोट होता है तब उनका सचेत मानस विवश हो जाता है, उसके हाथ से जैसे भाव-प्रक्रिया के सूत्र छूट जाते हैं और जैसे स्वतः प्रेरित कलाकृति उनकी समस्त कल्पना, बुद्धि, ज्ञान को सहायक उपादान बनाकर अपने को अभिव्यक्त कर डालती है और उस समय कलाकार का बाह्य व्यक्तित्व इतना विवश हो जाता है कि जैसा डी. एच. लारेन्स ने अपनी कृतियों के बारे में कहा–"घटनाओं की तरह कृति भी घटित हो जाती है और मैं खड़ा देखता रह जाता हूँ।"

वर्तमान काल में जो विशिष्ट विचारधाराएँ विकसित हुईं, जिन्होंने कला की प्रकृति को व्यापक पृष्ठभूमि में समझने का प्रयास किया और जिनसे आधुनिक कला-समीक्षा सबसे अधिक प्रभावित हुई उनमें मार्क्सवाद और फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त सर्वप्रमुख हैं। मार्क्स ने कलाकार की समाजसापेक्ष स्थिति का और कलाकृति की सामाजिक उपयोगिता पर अधिक ध्यान दिया और अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर इस ओर विशेष संकेत किया कि वह सृजन सामाजिक शक्तियों से प्रभावित होता है। किन्तु अन्ततोगत्वा वह सृजन व्यक्ति के द्वारा होता है, उसके जटिल, गहन, अनेक स्तरोंवाले अन्तर्जगत् से उद्भूत होता है···यदि वह व्यक्ति और उसका वह जटिल अन्तर्जगत् न हो तो सृष्टि के आदि से लेकर आज तक की समस्त सामाजिक शक्तियाँ और राजसत्ताएँ महान् कविता की एक भी पंक्ति, या एक भी सप्राण या सजीव चित्र नहीं रच सकती थीं। समस्त मार्क्सीय-कला-समीक्षा का विकास

इसी कारण एकांगी होता गया और कलाकार की अन्तःप्रेरणा और उसकी जटिल प्रकृति न समझ पाने के कारण उसके निर्णय अधिकतर मिथ्या या सतही सिद्ध होते रहे। काडवेल एकमात्र ऐसा समीक्षक था जिसने काव्य-सृजन की प्रकृति को गहराई से समझने का प्रयास किया और उस दिशा में जब केवल सामाजिक शक्तियाँ अन्तःप्रेरणा की व्याख्या नहीं कर पाईं तब उसे नैसर्गिक प्रवृत्तियों या Instincts के सिद्धान्त का आश्रय लेना पड़ा। आज मार्क्सीय शिविर में ही काडवेल के सिद्धान्तों को इसी कारण मार्क्स विरोधी कहा जाने लगा और मारिस कार्न पोथ के नेतृत्व में नये ब्रिटिश मार्क्सवादी विचारकों ने काडवेल की तीव्रतम आलोचना की है। वे मानते हैं कि काडवेल फ्रायड का विरोध करते-करते उसी के सिद्धान्तों को संशोधित रूप में अपना लेता है।

जहाँ तक फ्रायड का प्रश्न है कला सृजन के सम्बन्ध में उसकी मान्यताएँ भी एकांगी सिद्ध हो चुकी हैं। उसने यह माना था कि मनुष्य का अवचेतन जगत् उसकी दमित इच्छाओं का सुरक्षित कोष है जहाँ से वे अज्ञात रूप में, छिपकर मनुष्य के समस्त व्यवहारों को, उसके सृजन को प्रभावित करती हैं। उसने अपने उसी सिद्धान्त पर मनुष्य के स्वप्नों की नयी व्याख्या देने का प्रयास किया और कविता या चित्र को मनुष्य की स्वप्न-प्रवृत्ति का ही एक प्रक्षेपण माना। साथ ही उसने अन्तर्जगत् में दमित आकांक्षाओं के कारण बनी हुई ग्रन्थियों से कलाकार की अन्तःप्रेरणा का सम्बन्ध जोड़ा और कल्पना-शक्ति के द्वारा अन्तर्जगत् किस प्रकार भावनाओं की अभिव्यक्ति ऐसे नये प्रतीकों द्वारा करता है जो मूल दमित वासनाओं से सम्बद्ध रूपाकृतियों को व्यंजित भी करते हैं और छिपाते भी हैं, इसका एक विस्तृत विवेचन भी प्रस्तुत किया। किन्तु उसने मूलतया लेखक या कलाकार को एक रुग्ण मानसवाला व्यक्तित्व माना और अपने चिकित्सालय में आनेवाले अन्य रोगियों की भाँति उनका भी विश्लेषण किया। निःसन्देह यह एक कलारसिक का दृष्टिकोण नहीं था। इसी कारण उस विश्लेषण में भी कला की अन्तःप्रेरणा की व्याख्या कई दिशाओं में वैसी ही एकांगी हो गयी जैसी मार्क्स की व्याख्या। फ्रायड यह भूल गया कि रुग्ण मानसवाला एक कलाकार भी कलासृजन के क्षणों में एक दूसरा व्यक्ति हो जाता है। वैसे फ्रायड को भी अक्सर यह आभास होता रहा है कि अन्तःप्रेरणा और उसके स्रोत के विषय में उसका सिद्धान्त कभी-कभी महानतम कलाकृतियों के विश्लेषण में पूर्णतया सफल नहीं सिद्ध हुआ है। डास्टावस्की पर लिखे गये अपने निबन्ध में उसने इसे स्वीकार भी किया है।

आधुनिक मनस्तत्त्ववेत्ता सी. जी. युंग ने फ्रायड के इस सिद्धान्त की असंगति का तर्कपूर्ण विवेचन किया है। उनका यह कथन है कि फ्रायड की सारी स्थापनाएँ कलाकार के व्यक्तित्व पर लागू हो सकती हैं किन्तु उसका कलाव्यक्तित्व सर्वथा वही नहीं होता। साथ ही फ्रायड की मनोविश्लेषण पद्धति व्यक्ति के मनस्तत्त्व पर

रचनावली

लागू हो सकती है किन्तु जो कलाकृति उससे उद्भूत होती है वह अपने में एक स्वतन्त्र वस्तु होती है···युंग यह भी मानता है कि उस कलाकृति की सफलता और महत्ता ही इस पर आधारित होती है कि वह कृति कहाँ तक अपने सृजनकर्ता में निजी जीवन की सीमाओं और परिधियों का अतिक्रमण कर गयी है। ऐसी दशा में वह कलाकार के द्विविध रूप मानता है, एक में वह एक साधारण मनुष्य होता है जिसके निजी सुख-दुःख, कुण्ठाएँ, आकांक्षाएँ हो सकती हैं, दूसरे रूप में वह एक निर्वैयक्तिक रचना-प्रक्रिया का विधायक मात्र होता है। युंग का यह मत कतिपय भारतीय सिद्धान्तों के कितना निकट आ जाता है, इसकी विवेचना अत्यन्त रोचक हो सकती है। युंग तो कला के इस स्तर पर निर्वैयक्तिकता का इतना प्रबल समर्थक है कि वह कहता है–"कला का सृजन करनेवाला कोई ऐसा व्यक्ति नहीं होता जो अपनी इच्छानुसार कला का उपयोग अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए करता है, बल्कि वह कला के आशयों का साक्षात्कार अपने माध्यम से होने देता है।"

आप यह पूछ सकते हैं कि क्या आप तर्क करते-करते एक गोल चक्कर में नहीं घूम गये ? शायद यह बात सच है। हमने प्रारम्भ में ही माना कि अन्तःप्रेरणा कलाकार के सचेतन व्यक्तित्व के वश में नहीं है, पर दैवी शक्ति से उद्भूत है, यह एक अवैज्ञानिक मत है पर मानवीय मनोविज्ञान के शास्त्रज्ञ भी अन्ततोगत्वा इसी मत पर पहुँचते हैं कि यह कला की अन्तःप्रेरणा उसके निजी वैयक्तिक सचेत भाव-प्रक्रिया की सीमा के बाहर की वस्तु है तो प्रश्न फिर उठता है कि क्या वह किसी मानवोपरि दैवी शक्ति या रहस्यमय अज्ञात प्रक्रिया का अंग है···इस विषय में एक अत्यन्त प्रख्यात आधुनिक फ्रांसीसी कलाकार जां काक्त्यो (Jean Cacteau) का एक वक्तव्य देना चाहूँगा··· वह कहता है–

"कभी-कभी लोग कला की अन्तःप्रेरणा के बारे में सर्वथा भ्रान्त धारणा बना लेते हैं, लगभग धार्मिक विश्वासों की-सी। किन्तु मैं यह नहीं मानता कि कला की अन्तःप्रेरणा हमें आकाश से मिलती है। मैं समझता हूँ कि हममें एक उपेक्षा या असमर्थता की भावना होती है जिसके कारण हम अपने अन्तर्जगत् की कुछ शक्तियों को उपयोग में नहीं ला पाते। ये अज्ञात शक्तियाँ, हमारे दैनिक जीवन के तत्त्वों, उसके परिवेश और संवेगों से संयुक्त होकर अन्तःस्तल के गहन स्तरों में कार्य करती हैं और हम उनके भार से आक्रान्त हो उठते हैं और तब वे हमें अपनी निष्क्रियता की मनःस्थिति को जीतने के लिए विवश करती हैं···अर्थात् हमारे जाने बिना जब उन शक्तियों के कारण कलाकृति हमारे अन्तर्जगत् में बन जाती है और प्रकट होने के लिए हमसे माध्यम माँगने लगती है··· तब हम विश्वास करने लगते हैं कि यह कलाकृति किसी अज्ञात लोक से अवतरित हुई है।"

यहाँ पर जां काक्त्यो एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कहता है जिसे ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है–

"किन्तु यही वह क्षण है जब कलाकार की सचेतन भावना को उसकी अवचेतना को पीछे छोड़कर, कलासृजन के सूत्र अपने हाथ में ले लेने चाहिए। वह कलाकृति जो अभी रूप नहीं ले पाई है, जो साकार होना चाहती है उसे आकार देकर दूसरे तक प्रेषणीय बनाना···इसका साधन कलाकार अनिवार्यतः ढूँढ़ता है।" मेरा विचार है कि अन्तःप्रेरणा और शिल्पचेतना का इस पूरी प्रक्रिया में क्या स्थान है इसका अत्यन्त मार्मिक विवेचन इस कथन में हमें मिलता है।

सृजन-प्रक्रिया में अन्तःप्रेरणा के किसी दिव्य मानवोपरि आधार का निषेध कर हम निस्सन्देह साहित्य-चिन्तन को एक मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित करने का औचित्य सिद्ध करते हैं। वे साहित्यिक सिद्धान्त जो साहित्य को केवल आर्थिक या राजनीतिक शक्तियों द्वारा उद्भूत मानते हैं उनका भी खण्डन इससे होता है क्योंकि बिना एक व्यक्ति-कृतिकार के जो अन्तःप्रेरणा से रचना करता है, अगणित सामाजिक या आर्थिक या राजनीतिक शक्तियाँ स्वतः मिलकर, शताब्दियों तक प्रयास करके भी काव्य की चार सजीव मार्मिक पंक्तियों की रचना नहीं कर सकतीं।

रचनावली

उपन्यास और आत्मान्वेषण

कविता और नाटक की अपेक्षा उपन्यास नवीनतर साहित्य-रूप है। पिछले तीन-चार सौ वर्षों में इसने समस्त विश्व-साहित्य में अपने को जिस प्रकार स्थापित किया उससे आतंकित होकर यह आशंका अक्सर व्यक्त की जाती रही है कि इसके आच्छादन में कविता और नाटक का विकास अवरुद्ध हो जायेगा। यद्यपि इस प्रकार की अतिरंजित आशंकाएँ बार-बार भ्रान्त सिद्ध होती रही हैं, किन्तु उनमें सत्य का इतना अंश अवश्य है कि कविता और नाटक दोनों की अपेक्षा मानव-जीवन के चित्रण के लिए उपन्यास का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है। गीति-काव्यों के पुंजीभूत भावसत्य, दुःखान्त नाटकों के चिरन्तन संघर्ष और करुणा, गीतिकथाओं की गति और प्रवहमानता, मुक्तकों का उक्ति-वैचित्र्य और नीति-सत्य—इन सभी पुराने साहित्य-रूपों की शिल्पगत और वस्तुगत विशेषताओं को उपन्यास ने अपने व्यापक प्रसार में ग्रहण किया था। यह सम्भावना प्रतिभासित हो रही थी कि इस साहित्य-रूप में प्रथम बार मनुष्य अपने समस्त आयामों और समग्र परिवेश के साथ अवतरित हो सकेगा; उसके समस्त उलझे हुए सूत्र, फैले हुए सीमान्त और गति तथा प्रसार के अतिरिक्त गहराई के आयाम का चित्रण करके उपन्यास मानव-जीवन के सर्वांग-सम्पूर्ण प्रतिफलन में कविता और नाटक आदि सभी पुराने साहित्य-रूपों में से सर्वाधिक सफलता प्राप्त करेगा।

इस आशा का मूल कारण यह भी था कि अपने विकास-काल में ही उपन्यास ने मानव-जीवन के एक ऐसे मर्म सूत्र को पकड़ा था जिसमें उसका सारा वैयक्तिक अस्तित्व, सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक विकास अन्तर्ग्रथित था। वह थी मनुष्य की आत्मान्वेषी वृत्ति, जिसकी आरम्भ-रेखा थी जिजीविषा और परिणति थी आत्मोपलब्धि। मनुष्य में जीवन धारण करने की सामर्थ्य है। समस्त प्रतिरोधों के बावजूद वह जीवित रहना चाहता है, परम्परा और परिस्थिति की पृष्ठभूमि में उसकी वह अदम्य जिजीविषा सक्रिय रूप में प्रतिफलित होती है। किन्तु यह प्रक्रिया निरर्थक

या यान्त्रिक नहीं है, वह सार्थक है और लक्ष्ययुक्त है। उसका लक्ष्य अपने अस्तित्व और चेतना की ऊपरी पर्तों के नीचे बहुत गहरे में निहित अपने वास्तविक भाव को खोजना, खोजकर अपनी अगणित बाह्य प्रक्रियाओं, आचरणों और सामाजिक सम्बन्धों में उससे तादात्म्य स्थापित करना, और अपने समस्त जीवन व्यापार में निरन्तर यह प्रयास करना कि आत्मोपलब्धि के इस सत्य का एक अंश, जिस पर उसकी खोज, उसकी विजय, उसकी महत्ता की छाप है; ऐसा एक अंश वह किसी-न-किसी रूप में प्रवहमान सामाजिक जीवन को दे जाय। इसीलिए उपन्यास में चित्रित मानव निरपेक्ष स्थिति में चित्रित नहीं किया जाता, अपने समग्र परिवेश में, वातावरण, परम्परा तथा परिस्थिति की पृष्ठभूमि में चित्रित होता है; किन्तु यह आत्मोपलब्धि की प्रक्रिया ही मानव पात्रों को सजीव और सार्थक बनाती है। अपनी वैयक्तिक सत्ता को अक्षुण्ण रखते हुए अपने बाह्य सम्बन्धों और सामाजिक आचरणों में (चाहे वे आचरण प्रणयाकांक्षा से प्रेरित हों, नैतिक निष्ठा से प्रेरित हों या राजनीतिक आदर्शों से प्रेरित हों) औपन्यासिक पात्र अगर आत्मान्वेषण कर पाता है या उस ओर उन्मुख होता है, तभी वह सजीव पात्र बन पाता है, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा हो पाती है अन्यथा उस औपन्यासिक कृति में कितना ही विस्तृत और तथ्यपूर्ण विवरण हो, बौद्धिक ऊहापोह हो, रहस्यपूर्ण रोमांचक कथा-शिल्प हो, किन्तु उसका मानवीय पक्ष निष्प्राण और निर्जीव रहता है और वह उच्चकोटि का उपन्यास नहीं कहा जा सकता।

मनुष्य का अपनी परिस्थितियों से सम्बन्ध, मनुष्य और मनुष्य का रागात्मक अथवा सामाजिक सम्बन्ध, मनुष्य का निरपेक्ष सत्य, मर्यादा, मूल्य या किसी अरूप भावात्मक अथवा आदर्शात्मक सत्ता से सम्बन्ध, इन सम्बन्धों की विविधता और इनका वैचित्र्य तथा इन सबके जटिल प्रभाव से निर्मित होनेवाला मानव-व्यक्तित्व अपनी असंख्य विविधताओं में अपरिमित सम्भावनाओं को छिपाये रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीवन-प्रणाली में, अपने आत्मान्वेषण में दूसरे से बिलकुल पृथक् रहता है और कथाकार का मुख्य कार्य यही है कि वह चित्रण में उसकी उस वैयक्तिकता को उभार सके तथा वह अपने ढंग से कैसे अपनी विशिष्ट जीवन-पद्धति में अपने-आपको उपलब्ध करता चल रहा है इसको पूरी सहानुभूति से दिखला सके। महानतम कथा-कृतियों में आत्मोपलब्धि के इसी तत्त्व को उसके विविध रूपों में प्रस्तुत किया गया है। टाल्स्टाय के 'वार एण्ड पीस' में एक विराट् कैनवस पर कितने ही चरित्र आते हैं जो अपनी जीवन-प्रक्रिया में आत्मान्वेषण में तल्लीन हैं। उसमें विभिन्न आर्थिक वर्ग के लोग हैं, विभिन्न आयु-स्तर के लोग हैं, विभिन्न सम्प्रदाय, विभिन्न राजनीतिक मत, विभिन्न पेशे और विभिन्न परिस्थितियों के लोग हैं; यही नहीं वरन् एक ही व्यक्ति अपने जीवन की विभिन्न घड़ियों में विभिन्न स्तरों पर आत्मान्वेषण करता है और विभिन्न रीतियों से अपने-आपको पाता और खोता चलता है। एक सीमाहीन प्रसार है, जिसमें जितने प्रकार के पात्र हैं उतने ही प्रकार की पद्धतियाँ और

रचनावली

प्रणालियाँ हैं और उन सबके बीच 'आत्मोपलब्धि' का तथ्य उनको वैयक्तिकता, सजीवता और सार्थकता प्रदान करता है। इसके थोड़े पृथक् डास्टावस्की के उपन्यास हैं, जिनमें इसी प्रक्रिया को इसके बहुविध प्रसार में न दिखाकर उसकी गहनता और जटिलता में दिखाया गया है। विक्टर ह्यूगो से लेकर रोमा रोलाँ तक जिन कथाकारों ने ऐसी महान् कथा-कृतियाँ प्रस्तुत की हैं जिन्हें महाकाव्यों के समक्ष रखा जा सकता है, उनमें वह सूक्ष्म दृष्टि और व्यापक सहानुभूति रही है जिससे वे प्रत्येक पात्र की वैयक्तिक आत्मोपलब्धि को प्रस्तुत कर सके और उनमें एक सूत्रबद्धता तथा समरसता भी खोज सके।

किन्तु 19 वीं शताब्दी का अन्त होते-होते इन महान् उपन्यासों की परम्परा भी समाप्त होती हुई दीख पड़ती है। रोमा रोलाँ का 'जां क्रिसताफ' शायद इस परम्परा की अन्तिम कृति कहा जा सकता है। इसके बाद हम व्यापक तौर पर उपन्यासों में चित्रित मानव-पक्ष को कई प्रकार से ह्रासोन्मुख पाते हैं। कहीं उसके वैविध्य और विस्तार में कमी हो गयी है, कहीं उसमें गहराई की कमी है और केवल सतही तौर पर मनुष्य का चित्रण होने लगा है, कहीं गहन वस्तु-तत्त्व के अभाव में केवल शिल्प-चमत्कार पर आग्रह है और कहीं मानव-पक्ष को निर्जीव और निष्प्राण छोड़कर उपन्यास को किसी विशेष जैविक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक या धार्मिक मतवादों का वाहन बनाने की चेष्टाएँ मिलती हैं। उपन्यासकार अपने पात्रों के आत्मान्वेषण को न चित्रित करके अपने लबादे उन्हें पहनाने की कोशिश करता है और अपनी पगडण्डियों पर उन्हें मोड़ने का प्रयास करता है। अपने संकीर्ण सिद्धान्तों के आधार पर उनका एकांगी निरूपण तथा विश्लेषण करता है। परिणामस्वरूप उसके उपन्यासों में चित्रित मानव-जीवन कृत्रिम और सतही होता जाता है, पात्रों का व्यक्तित्व और निजत्व समाप्त होता जाता है। पिछली अर्द्ध-शताब्दी में विश्व-उपन्यास में निस्सन्देह मानव-तत्त्व का विघटन हुआ है।

इस विघटन की प्रकृति को समझने के लिए उन चिन्तनधाराओं और प्रवृत्तियों को समझना आवश्यक है जिनका व्यापक प्रभाव समकालीन उपन्यासों पर पड़ा है। इनमें से सबसे पहली धारा उस यथार्थवाद की है जिसका उदय रोमाण्टिसिज्म की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ और जिसको जोला ने अपने उपन्यासों में प्रथम बार पूर्ण रूप में प्रतिष्ठित किया। जोला के यथार्थवाद को बाद में प्रकृतवाद (नैचुरलिज्म) की संज्ञा दी गयी। इस धारा के अन्तर्गत मानव-अस्तित्व को प्राकृतिक व्यवस्था से पृथक् न करके इस प्रकार चित्रित किया गया जैसे वह भी उस विराट् प्राकृतिक जीवन में पशु-पक्षियों की ही श्रेणी का जीव है और मूलतः उसमें भी क्षुधा, काम, अहं तथा

रचनावली

गिरोह बनाने की प्रवृत्तियाँ हैं और उसका सारा आचरण उन्हीं से परिचालित है। इस धारा ने उपन्यासों में चित्रित मानवपक्ष पर द्विविध प्रभाव डाले। जहाँ तक मानव-परिवेश, बाह्य परिस्थिति, परम्परा और पृष्ठभूमि का सम्बन्ध है, इस धारा ने औपन्यासिक परम्परा को निस्सन्देह एक नया मोड़ दिया, किन्तु जहाँ तक इस विराट् मानचित्र के केन्द्रबिन्दु मनुष्य का सम्बन्ध है, उसने उसको सीमित और एकांगी कर दिया, उसकी परम्परागत श्रेष्ठता से वंचित करके उसको पशुधर्मी और विकृति-प्रधान जीव मान लिया।

आगे चलकर इस यथार्थवादी धारा की दो प्रमुख शाखाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक धारा मनुष्य को व्यक्ति रूप में परिकल्पित करके उसके उपचेतन और अचेतन मन की जटिल ग्रन्थियों को सुलझाने में तल्लीन हो गयी और दूसरी धारा उसको समष्टि की एक सामान्य इकाई मानकर उसके वर्गाश्रित स्वभाव की व्याख्या करती रही। ये दोनों धाराएँ उपन्यास के मानव-पक्ष को बिलकुल निर्जीव कर डालने में पूर्णतया सफल हुई हैं। एक ने मनुष्य को केवल अर्द्ध-विक्षिप्त, कामुक और विकृत रोगी की स्थिति तक उतार दिया और दूसरी ने मनुष्य की वैयक्तिकता छीनकर उसे बने-बनाये साँचे में ढालकर कठपुतली में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार आत्मान्वेषण की प्रवृत्ति को, जो उपन्यासों के मानव-पक्ष को बल देती रही, दोनों ओर से कड़े आघात लगे। मनोवैज्ञानिक यथार्थवादियों ने आत्मोपलब्धि को तो स्थान दिया, पर एक ओर उन्होंने आत्मान्वेषण की राह अत्यन्त सँकरी और जटिल बना दी और दूसरी ओर उन्होंने मनुष्य के आत्म-तत्त्व को पूर्वनिर्धारित, पशुधर्मी और अनिवार्यरूपेण विकृत मान लिया। डास्टावस्की के उपन्यासों का मनुष्य भी उपचेतन की अँधेरी गलियों में भटकता है, किन्तु उसमें कहीं-न-कहीं दैवी आशंका साक्षात्कार करने की सामर्थ्य है, इसीलिए उसके अस्तित्व में एक आभास ऐसा भी है जिसके सम्मुख स्वतः फ्रायड अपने को पराजित अनुभव करता है। किन्तु समकालीन, मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार मनुष्य के उस आयाम को केवल एक भ्रान्ति (Illusion) मानते हैं इसीलिए उपचेतन और अचेतन की भूल-भूलैया में भटकने के बाद भी मानव-सत्ता का जो चित्र हमारे सम्मुख आता रहता है वह पहाड़ खोदकर निकाले गये चूहे की तरह ही निराशाजनक और उबानेवाला प्रतीत होता है।

दूसरी ओर सामाजिक यथार्थवादियों ने भी यह मानने से इनकार किया कि मनुष्य की जीवन-प्रक्रिया कई स्तरों पर गतिमान रहती है और उसका अन्वेषण कई आयामों में होता रहता है। मनुष्य अपने को केवल वर्ग-संघर्ष ही नहीं वरन् अन्य दिशाओं में भी उपलब्ध करता है। उन्होंने मनुष्य के आत्मान्वेषण को केवल एक बूर्जुआ भ्रान्ति मानकर उसे इतिहास की आवश्यकता की पूर्ति का साधन-मात्र माना। फलस्वरूप उनके उपन्यासों में अवतरित होनेवाले पात्रों की कोई वैयक्तिक आत्मोपलब्धि नहीं रही, उनको पूर्वनिर्धारित आकार के लबादे उढ़ा दिये गये और

रचनावली

उसके बाद वे इतिहास की द्वन्द्वात्मक गति के अनुसार होने लगे। वैयक्तिक आत्मान्वेषण के द्वारा सत्य की उपलब्धि से विमुख होकर कोई दूसरा लबादा ओढ़ लेना एक ऐसी स्थिति है जिसके करुण या हास्यास्पद परिणामों की ओर उपन्यासों के उ़दय-काल में ही सर्वेण्टीज ने अपनी अमर कृति 'डॉन क्विक्जोट' में गहरी चेतावनी दी थी। विचित्र वीर डॉन क्विक्जोट अपनी सीमाओं तथा सामर्थ्य, दोनों को भूलकर मध्यकालीन वीरों का लबादा ओढ़कर पुरानी ढाल और जंग खाई हुई तलवार लेकर कल्पित दैत्यों से लड़ने चल पड़ता है। राजकुमारी के नाम पर एक भटियारिन को प्रेम करके दैत्यों के नाम पर हवाचक्कियों से सिर टकराकर लौट आता है। मनुष्य का आत्मान्वेषण आरोपित तो हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि अर्द्ध-राजनीतिक उपन्यासों का यथार्थ मानवीय नहीं प्रतीत होता, हमको छू नहीं पाता।

यहीं पर यह कह देना आवश्यक है कि यथार्थवाद की इन दोनों धाराओं ने मानव-सत्य के कुछ ऐसे पक्षों को अवश्य उद्घाटित किया है जो उसकी आत्मोपलब्धि को और भी सम्पन्न बना सकते थे, किन्तु इन धाराओं के अधिकांश लेखकों ने यह भुला दिया कि मनुष्य इन सभी चिन्तन-सम्प्रदायों और मतवादों से बड़ा है, उसकी जीवन-प्रक्रिया इतनी गहन, बहुमुखी और वैभवशाली है कि वह किसी भी एक मतवाद द्वारा पूर्णरूप से बाँधी नहीं जा सकती। इसीलिए उपन्यासकार को, जो मानव-सत्य को उसकी समग्रता में ग्रहण करना चाहता है, कलाकार की दृष्टि अपनानी चाहिए; मनोवैज्ञानिक या राजनीतिक कमिस्सार की दृष्टि नहीं। उस कलादृष्टि में एक ऐसी व्यापक सहानुभूति होती है जो किसी भी पात्र को अपने रंगीन चश्मे से नहीं देखना चाहती वरन् उसी की परिस्थितियों में अपने को रखकर, उसी की अनुभूतियाँ करके, उसी के आत्मान्वेषण के दर्द में डूबकर, उसकी आत्मोपलब्धि के सन्तोष में तुष्ट होकर उसकी मानवीयता को उद्घाटित करती है। वह कला-दृष्टि मनुष्य की चेतना के विविध आयामों में, उसकी सत्ता के विभिन्न स्तरों में और उसकी अदम्य अपराजेयता में पूर्ण विश्वास रखता है। कई स्थलों पर हमें ऐसा दीख पड़ता है कि कई उपन्यासकारों की कथाकृतियों में अपने घोषित मतवादों और सिद्धान्तों के बावजूद अनायास ही व्यापक दृष्टिकोण, उदारता और सूक्ष्म मर्म-ग्राहिता उभर आयी है जिसने मानवीय पक्ष को अत्यन्त प्रबल कर दिया और उनके पात्रों में वही सजीवता और आत्म-बोध मिलता है जो उनके मतवाद के अनुसार श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता। सोवियत रूस का गोर्की और चीन का लुहसूँ इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। गोर्की के पीछे तुर्गनेव, डास्टावस्की और टाल्स्टाय की परम्परा थी और लुहसूँ ने अपनी कला-दृष्टि का गठन बालजक, डिकेन्स और गोर्की से ग्रहण किया था। मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यासों में कई स्थलों पर व्यापक कला-दृष्टि उभर आती है और ऐसे स्थलों पर उपन्यासों का मानव-पक्ष सजीव हो उठता है और उसकी एकरसता टूट जाती है।

पिछले बीस वर्षों की एक प्रमुख प्रवृत्ति यह रही है कि जिन क्षेत्रों में

चिन्तन-स्वाधीनता है, उनमें धीरे-धीरे कथाकारों ने इन संकीर्ण मतवादों से मुक्त होकर व्यापक मानवतावादी भूमि पर अपनी कला की स्थापना की है। एक बड़ा समूह ऐसे लेखकों का है जिन्होंने अपने लेखन का प्रारम्भ इन धाराओं के अन्तर्गत किया था किन्तु ज्यों-ज्यों वे जीवन को समझते गये त्यों-त्यों उन्होंने मनुष्य की आत्मोपलब्धि को, उसकी अपराजेयता को और उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार किया। जान स्टीनबेक, आर्थर केस्लर और इगनातियो सिलोने स्पष्ट रूप में घोषित कर चुके हैं कि अर्द्धराजनीतिक मतवादों के बजाय मनुष्य की आत्मोपलब्धि कथा-साहित्य का केन्द्रीय सत्य है। दूसरी ओर विलियम फाकनर, अर्न्स्ट हेमिंग्वे मनुष्य की पशु-प्रवृत्तियों का चित्रण करने के बाद आज स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि निर्भीकता तथा साहस मनुष्य का वह शाश्वत सम्बल है जिसके द्वारा वह उच्चतर स्तरों पर अपने को विकसित करता है और परिस्थितियों पर विजय पाता है।

इसी बीच दो और ऐसी धाराएँ उपन्यासों में प्रतिबिम्बित हुई हैं जिन्होंने मानवीय आत्मान्वेषण को बिलकुल नये स्तर पर स्थापित करने का प्रयास किया है। एक है नास्तिक अस्तित्ववादी धारा और दूसरी आस्तिक मानवतावादी धारा; जिसमें कैथोलिकों की प्रधानता है। अस्तित्ववादी धारा के प्रमुख कथाकार अल्बर्ट कामूँ और जां पाल सार्त्र द्वितीय महायुद्ध में पराजित फ्रांस की देन है। यद्यपि उनमें मार्क्सवाद की अन्धसामूहिकता के विरुद्ध काफी तीखा विद्रोह है, किन्तु वह तीव्र संहारकारी अनास्था पर आधारित है और जिस संशय, त्रास और चिन्ता को अस्तित्ववाद मनुष्य के आत्मान्वेषण के मूल में प्रतिष्ठित करता है, उसके कारण अस्तित्ववादी उपन्यासों का मनुष्य अस्वस्थ, त्रस्त और भयभीत ही दीख पड़ता है, और उसकी आत्मोपलब्धि झूठी और कृत्रिम-सी प्रतीत होती है। दूसरी धारा के उपन्यास परम्परागत ईसाई करुणा, भ्रातृत्व और प्रेम के सिद्धान्त को नैतिकता का आधार मानकर चलते हैं और साथ ही मनुष्य को वे केवल कामार्त्त और क्षुधार्त्त ही न मानकर उसे दैवी स्तरों से युक्त मानते हैं और उसकी ऊर्ध्वमुखी गति को भी प्रश्रय देते हैं। ऐसे उपन्यासकारों में मॉरियाक तथा ग्राहमग्रीन आदि कैथोलिक लेखकों ने मानवीय पक्ष को अत्यन्त गहन स्तरों पर चित्रित करने में सफलता पाई है। उन्होंने पुनः एक मनुष्य के आत्मान्वेषण को बहुत गहरे अर्थ दिये हैं। किन्तु जब वे मानवीय व्यापारों में किसी दैवी सत्ता का हस्तक्षेप स्वीकार करते हैं, दैवी अनुग्रह को समाविष्ट कराते हैं, तभी वे मानवीय पक्ष को दुर्बल करने लगते हैं। ग्राहमग्रीन के अन्तिम उपन्यास 'एण्ड ऑफ द अफेयर' की तुलना 'पावर एण्ड ग्लोरी' या 'हार्ट ऑफ द मैटर' से करने पर प्रचुर प्रमाण मिल सकते हैं।

इस प्रकार हर क्षेत्र में उपन्यासों में दृष्टिगोचर होनेवाली मानवीय पक्ष की दुर्बलता का मूल कारण यही है कि मनुष्य के आत्मान्वेषण की वृत्ति को सीमित, सतही, कुण्ठित या लक्ष्य-भ्रष्ट चित्रित किया गया है। यही कारण है कि आज का

रचनावली

उपन्यास डास्टावस्की, विक्टर ह्यूगो या टाल्स्टाय के उपन्यासों की भाँति शाश्वत मूल्यों की स्थापना नहीं कर पाता। अमेरिका में प्रतिवर्ष बेस्ट-सेलर लिखे जाते हैं। और पाँच वर्ष बाद उनको कोई याद नहीं रखता। रूस से हर साल स्टालिन पुरस्कार जीतनेवाले उपन्यास आते हैं पर वे एक सुसंस्कृत अभिरुचिवाले पाठक को बचकाने लगते हैं। पूरे समकालीन उपन्यास का स्तर पिछली महान् कृतियों की तुलना में असन्तोषजनक है।

इस प्रसंग में समकालीन हिन्दी-उपन्यास की स्थिति पर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा। हिन्दी-उपन्यास के साहित्यिक स्तर का आरम्भ अगर प्रेमचन्द से मानें तो हिन्दी-उपन्यास अभी अपनी किशोरावस्था में ही है। विषय-वस्तु, कथा-शिल्प, भाषा सभी दृष्टियों से अंग्रेजी, फ्रांसीसी या रूसी–उपन्यास के आगे हिन्दी-उपन्यास अभी अपरिपक्व ही है, यह हमें ईमानदारी से स्वीकार करना चाहिए। उनके उपन्यास-साहित्य के पीछे जितनी लम्बी पृष्ठभूमि है, जितनी श्रेष्ठ सफलताएँ हैं, बालज़क, जोला, डिकेन्स, तुर्गनेव, डास्टावस्की, टाल्स्टाय, रोमा रोलाँ–जैसी महान् प्रतिभाओं के अवशिष्ट प्रभाव हैं, उन सबके कारण अपने संकट-काल में भी पाश्चात्य उपन्यास हिन्दी-उपन्यास से कहीं आगे है। इसीलिए कुछ लोगों का आशय, जो पाश्चात्य उपन्यास की ह्रासोन्मुखता पर विचार करने के उपरान्त बिना कोई कारण दिये भारतीय उपन्यास की वर्तमान या भावी श्रेष्ठता की उद्घोषणा करने लगते हैं, समझ में नहीं आता। कम-से-कम वर्तमान स्थिति में ऐसा अकारण अदम्य आशावाद असंगत-सा लगता है। किन्तु दूसरी ओर जो लोग इस स्थिति से विक्षुब्ध हैं या पूर्णतः निराशाग्रस्त हैं, उनका दृष्टिकोण भी दूसरे अतिरेक का परिचायक है। हिन्दी उपन्यास को इस बात का श्रेय तो देना ही होगा कि लगभग चालीस वर्षों की अवधि में वह होड़ लगाकर आगे बढ़ा है और चार दशकों में उसने चार शताब्दियों की यात्रा पूरी करने का प्रयास किया है। केवल इन चार दशकों में हिन्दी अपनी सीमाओं और परिधियों के बावजूद अगर 'गोदान', 'गढ़ कुण्डार', 'चित्रलेखा', 'सुनीता', 'शेखर', 'संन्यासी' और 'बाणभट्ट की आत्मकथा'–जैसी कृतियाँ प्रस्तुत कर सकी है तो उसके प्रयास और उसकी सम्भावनाओं पर निराश होने या विक्षुब्ध होने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता, किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि उन अभावों पर ध्यान दिया जाय जिनके कारण हिन्दी-उपन्यास की प्रौढ़ता पर सन्देह किया जाता है।

समकालीन हिन्दी-उपन्यासकार प्रायः यह भूल जाता है कि उपन्यास एक ऐसा साहित्य रूप है जो विकासशील रहा है, कई उपधाराओं में विभाजित होकर प्रवाह

पाता रहा है। शिल्प की परिपक्वता के लिए आवश्यक है कि जिस माध्यम को उसने ग्रहण किया है उसकी सीमाओं और सम्भावनाओं, दोनों से वह पूर्णतया परिचित रहे। मानवीय सत्य के प्रसार, गति और गहराई को बाँधने के लिए पिछले महान् उपन्यासकारों ने जो विराट् शिल्प-रेखाएँ खींची थीं, वह उनसे बहुत कुछ सीख सकता है। हिन्दी-उपन्यासकार जब तक विश्व-उपन्यास की महानतम सफलताओं का सुयोग्य उत्तराधिकारी नहीं बनता तब तक न तो वह उस परम्परा में अपनी कोई स्थिति ही बना सकता है और न उस परम्परा को आगे ही बढ़ा सकता है। हिन्दी में विश्व-उपन्यास से अभी तक जो कुछ लिया गया है उसका बहुत कुछ अंश अनुकरण अथवा अपहरण के रूप में ग्रहण किया गया है। किन्तु उन प्रणालियों और प्रवृत्तियों को पचाकर अपने ढंग से, अपनी सांस्कृतिक परम्परा में बँधी हुई अपनी जनता के मानवीय सत्य को, अपने पात्रों की आत्मोपलब्धि को हिन्दी-उपन्यासकार ठीक-ठीक अभिव्यक्ति दे पाया है, ऐसा कह सकना कठिन है। उस दिशा में प्रयास अवश्य हुए हैं किन्तु उन प्रयासों में कहीं पर प्रसार की कमी है कहीं पर गहनता की। मानव-अस्तित्व की उसकी पूर्णतम जटिलता, गहनता, रसमयता, अपराजेयता और श्रेष्ठता के साथ अभी तक हिन्दी-उपन्यास में प्रस्तुत नहीं किया जा सका। हमारे उपन्यासों का केन्द्र—मानव या तो स्वतः उपन्यासकार के रुग्ण अस्वस्थ मन का प्रक्षेपण-मात्र बन रहा है, या उसकी दलगत राजनीति का अखबारी चित्र। मनुष्य को जब तक हम उसकी अन्तर्निहित सामर्थ्य, उसके जटिल परिवेश, उसकी जीवन-प्रक्रिया के विविध आयामों के साथ हिन्दी-उपन्यास में प्रतिष्ठित नहीं करते, उसके आत्मान्वेषण को पूर्ण प्रसार और उसकी आत्मोपलब्धि को पूरी गहराई तक उतरकर चित्रित नहीं करते तब तक हमारा उपन्यास प्रौढ़ नहीं हो सकता। इस प्रयास में उपन्यासकार को यह तत्त्व भी भली भाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए कि वैज्ञानिक, मनोविश्लेषक, पत्रकार या राजनीतिक कमिस्सार इन सबका मार्ग उपन्यासकार का मार्ग नहीं है। मानवीय सत्य पर उसकी पकड़ इन सबसे गहरी होती है, उसकी सहानुभूति का विस्तार इन सबसे अधिक है, उसके पात्रों की आत्मोपलब्धि एकमात्र कसौटी है जिस पर वह इन सब धातुओं को कस सकता है। साहित्य के अन्य रूपों की भाँति उपन्यास में भी लेखक का रागात्मक बोध सबसे महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य पर उसकी आस्था उसका सबसे बड़ा सम्बल है। पिछली शताब्दी के महान् उपन्यासों ने मनुष्य को एक जीवन-दृष्टि दी थी। आज भी उपन्यासकार को अपना वह दायित्व भली भाँति पहचानकर उसे अपने ढंग से पूरा करने की आवश्यकता है। जैसा कहा जा चुका है कि उसकी पक्षधरता और संघर्ष-विवेक का स्तर बहुत गहरा है। उसे मानव-अस्तित्व की गहन परतों में उतरकर उसकी रक्तशिराओं में चलने वाले भय और साहस के संघर्ष में भय को पराजित करना है, उसके छोटे-से-छोटे क्षण में जीवन-प्रक्रिया को उद्बुद्ध करना है···इस संकट काल के उखड़-पुखड़े हुए, अर्द्धध्वस्त,

रचनावली

प्लावनोत्तर सामाजिक ढाँचे में हरेक भटके हुए व्यक्ति की जीवन-प्रक्रिया से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके उसके जीवन के क्षणों को स्वतः जीकर उसके द्वारा की गयी मूल्यों की खोज और उनके विकास के मर्म को समझ लेना है और इन समस्त उपलब्धियों को साहसपूर्वक मानव-इतिहास के एक नये और सबसे पूर्ण प्रांजल और प्रकाशमान युग की ओर प्रेरित करना है।[1]

1. दे. पीछे–साहित्य की नयी मर्यादा।

रचनावली

नयी कविता और दायित्व की आन्तरिकता

पिछले दो-तीन वर्षों में हिन्दी की नयी कविता को लेकर जितना वादविवाद हुआ है उससे इतना तो अवश्य सिद्ध हो गया कि यह आन्दोलन कविता के केवल नये रूप या नये शिल्प मात्र पर आधारित नहीं है, यदि वैसा होता तो न इसके समर्थकों में इतनी निष्ठा होती और न इसके विरोधियों में इतना आतंक। लेकिन नयी कविता के कवियों को प्रगतिवादी और प्रयोगवादी शिविरों में आसानी से बाँट देनेवाले आलोचकों ने या तो किसी पूर्वग्रह के कारण या केवल वर्गीकरण की सुविधा के लिए एक भ्रमात्मक धारणा का प्रचार अवश्य किया कि प्रयोगवादी कविता व्यक्तिगत कुण्ठा, विक्षुब्ध अहम् और अन्तर्मन की दुरूह और अर्धविक्षिप्त चेतनाओं की कविता है, और प्रगतिवादी कविता जनमानस की और सामाजिक चेतना की कविता है। किन्तु नयी कविता के अन्तर्गत जो श्रेष्ठ प्रतिभाशाली कवि हैं (चाहे वे प्रगतिवादी माने जाते हों या प्रयोगवादी) उन्होंने जो महत्त्वपूर्ण रचनाएँ दी हैं वे आलोचकों द्वारा निर्दिष्ट वर्गीकरण में नहीं आतीं। उनकी भाव-भूमि अलग ही है जिस पर नयी कविता के लगभग सभी कवि मिल जाते हैं।

इस बात की ओर संकेत करना आरम्भ में ही, इसलिए आवश्यक था, कि नयी कविता में व्यक्तिवादी आग्रह या सामाजिक आग्रह या सामाजिक आग्रह का प्रश्न हिन्दी के आलोचकों द्वारा एक भ्रमात्मक ढंग से उठाया जाता रहा है। वास्तव में नयी कविता प्रथम बार समस्त जीवन का व्यक्ति या समाज, इस प्रकार के तंग विभाजनों के आधार पर न मापकर मूल्यों की सापेक्ष स्थिति में व्यक्ति और समाज दोनों को मापने का प्रयास कर रही है। यदि हम उन गहन आन्तरिक मूल्यों को समझने की चेष्टा नहीं करते, तो हम नयी कविता की प्रकृति को समझने में भूल कर सकते हैं। साहित्य में व्यक्ति के विद्रोह के नाम पर बहुत कुछ ऐसा आया है जो अन्ततोगत्वा समाज के लिए कल्याणकारी सिद्ध हुआ है और अक्सर सामाजिक कल्याण के नाम

रचनावली

पर भी बहुत कुछ ऐसा आता रहा है जो रूढ़ियों का समर्थक, विकास का विरोधी, समाज के लिए अहितकर और जीवन के सर्वांगीण विकास में बाधक सिद्ध होता रहा है। नयी कविता में व्यक्ति के पुनरन्वेषण, मानव की पुनःप्रतिष्ठा तथा इस प्रकार की जो अन्य स्थापनाएँ सुन पड़ती हैं, क्या वे समाज-विरोधी हैं ? प्रश्न इस बात का है।

इसका उत्तर देने के पूर्व यह पूछा जा सकता है कि समाज से आपका क्या तात्पर्य ? और किस समाज का कल्याण करने की माँग आप कविता से करते हैं ? और दूसरे यह कि उस कल्याण की प्रणाली आप क्या मानते हैं ? समाज के राजनीतिक या व्यापारिक आन्दोलनों के लिए कवि छन्दबद्ध घोषणा-पत्र या प्रचारात्मक वक्तव्य तैयार करे, इसको तो नयी कविता अस्वीकार कर चुकी है; पर फिर भी नयी कविता राजनीतिक समस्याओं को उठाती है···उनमें कहीं-कहीं उद्‌बोधन का स्वर भी मिलता है, कहीं-कहीं तारों का स्तर भी उभरने लगता है। पर एक बात जरूर है कि सामयिक समस्याओं पर लिखे जाने पर भी, जो उनमें से सचमुच अच्छी कविताएँ हैं उनका स्वर या शुद्ध दलगत राजनीतिक कविताओं के स्वर से पृथक् है।

इस पृथक्ता का विश्लेषण करने के पहले एक प्रश्न और पूछा जा सकता है कि क्या यह नयी कविता एक गौण स्वर नहीं है, क्या उसका प्रमुख स्वर व्यक्ति के विक्षोभ का स्वर नहीं है ? यह प्रश्न हमें समस्या के मर्म तक पहुँचा देता है।

वास्तव में नयी कविता की जो प्रमुख भावभूमि है उसमें मुख्य प्रश्न है सर्वांगीण मानवीय विघटन का मुक़ाबला करने का। वह सर्वांगीण विघटन सर्वथा दूसरे पैराये की समस्या है जिसके सामने व्यक्ति और समाज के अन्तर्विरोध का प्रश्न उतना तीखा नहीं है जितना यह प्रश्न है कि वे मूल्य कैसे पुनः स्थापित किये जायँ जो व्यक्ति को इतना कायर और दुर्बल बनने से रोकें कि वह अपने सामाजिक दायित्व से पलायन कर आत्मरति में ही लीन रहे, या सामाजिक कल्याण के नाम पर आनेवाले किसी भी अधिनायकवादी आतंक के सम्मुख समर्पण कर दे। कोई भी विकासशील समाज नीतिवान्, दायित्वयुक्त, स्वतन्त्र-चेता व्यक्तियों का संगठन होता है। इसीलिए नयी कविता उन मूल्यों के पुनरन्वेषण और पुनःस्थापना के लिए अग्रसर होती है। नयी कविता मनुष्य की 'आन्तरिकता' को फिर से प्रतिष्ठित करना चाहती है, उसके असामंजस्य को दूर करना चाहती है। चाहे अवचेतन की अन्धबर्बर पशुप्रवृत्तियाँ उसके आन्तरिक सन्तुलन को बिगाड़ रही हों और चाहे बाह्यारोपित जनसंकुल सामूहिकता उसे कुण्ठित कर रही हों, यदि इनमें से कोई भी अतिप्रबल है तो हम नये कवि के राग बोध को विक्षुब्ध पाते हैं।

मनुष्य की इस 'आन्तरिकता' का सामाजिक महत्त्व क्या है, इसे समझ लेना आवश्यक है। पिछली दो शताब्दियों में विज्ञान और भौतिक साधनों की जितनी उन्नति हुई है और उससे पूर्व और पश्चिम में संस्कृतियों का जो विकास हुआ है उसके विषय

में कलाकारों, दार्शनिकों और सन्तों के सारे स्वप्न खण्डित हो चुके हैं। उन्होंने यह देखा कि भौतिक विकास करने पर भी मनुष्य में प्रबल नैतिक निष्ठा नहीं विकसित हो पाई, वह पिछड़ा रह गया और धीरे-धीरे वह बिखरने-सा लगा। यह बिखराव आधुनिक युग की समस्या थी और सबसे पहले आधुनिक कलाकारों, कवियों, लेखकों और चिन्तकों ने इसे अनुभव किया। यह नया यथार्थ था जिसे मध्ययुगीन परम्पराओं से आक्रान्त रूमानी काव्य-दृष्टि ग्रहण कर सकने में असमर्थ थी। आधुनिक काव्य-दृष्टि ने इस नये यथार्थ को ग्रहण करने का आग्रह किया।

इसमें सन्देह नहीं कि इस संक्रान्ति-काल में बहुत-से कवि ऐसे थे जिन्होंने इस बिखराव को संयमित करने में सफलता नहीं पाई या मनोविश्लेषण, या मार्क्सवाद इसी प्रकार के उन अन्य एकांगी मतवादों में कविता को उन्होंने बाँध दिया जो स्वयं इसी बिखराव की उपज थे। लेकिन जिन कवियों का रागबोध अप्रतिहत रहा और जिनमें मानवीय मूल्यों के प्रति निष्ठा रही, वे बराबर इस बिखराव को पराजित कर मानवीयता को पुनःप्रतिष्ठित करने के प्रति आग्रहशील रहे।

मानवीयता की पुनःप्रतिष्ठा के लिए नये कवि ने व्यक्ति को अनिवार्य माना है। व्यक्ति का विनाश या उसको वस्तु या यन्त्र बनाने के प्रयासों को वह मानवसमाज के लिए घातक मानता है। वाल्टह्विटमैन ने Song of the Myself में जो कहा था, अति आधुनिक सन्दर्भ में वही लुई मैकनीस ने Prayer of the Unborn Child में कहा है, प्रभाकर माचवे ने अपने एक नव-प्रकाशित सानेट में पूछा है–'सबको समतल करनेवाले डालोगे क्या मुझ पर डाका ?' श्याममोहन ने लिखा है–'मिट जाने के प्रथम मरण की गोद वरूँगा', गिरिजाकुमार माथुर ने 'खत' शीर्षक कविता में लिखा है–'नहीं स्वीकार उनको क़ैद, नियमन कूट, अनुशासन, पंक्तिचालन, फालइ़न', सर्वेश्वरदयाल ने 'सरकंडे की गाड़ी' में इसी पंक्तिचालन, अनुशासन पर तीखा व्यंग्य किया है। नयी कविता का प्रमुख स्वर आज मानव की मुक्ति का स्वर है।

किन्तु यह मानव की मुक्ति दायित्वहीनता नहीं है। हो भी नहीं सकती। क्योंकि नयी कविता के पीछे केवल शिल्पाग्रह नहीं है, जीवन-आग्रह है। उस दायित्व को ग्रहण करने की चेतना, उसके प्रति अपने को अर्पित करने की आस्था लगभग उन सभी कवियों में है जिनके हस्ताक्षर नयी कविता से सम्बद्ध हैं। किन्तु यह दायित्व नया कवि अपनी पीड़ा, अपने विवेक और अपनी चेतना के द्वारा ही खोजना चाहता है। वह किसी बाह्यारोपित दायित्व को नहीं स्वीकार करता। वह स्वातन्त्र्य का हक माँगता है, ताकि वह अपनी सार्थकता खोज सके। अपना दायित्व भी खोज़ सके। केदारनाथ सिंह की एक कविता है–'फूल को हक दो', जिसमें उन्होंने हवा, फूल, लहर के प्रतीकों से इसे सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है–

लहर को हक दो··· वह कभी संग पुवया के
कभी संग पछुआ के, इस तट पर भी आये··· उस तट पर भी जाये

रचनावली

और किसी रेती पर सिर रखकर सो जाये।
नयी लहर के लिए।

इसीलिए नया कवि व्यक्ति की मुक्ति को दायित्व से युक्त मानता है और उसी आत्मोपलब्ध दायित्व को अपनी पीड़ा की सार्थकता मानता है और दूसरों की मुक्ति की कामना करता है। अज्ञेय की प्रख्यात पंक्तियाँ हैं–

दर्द सबको माँजता है
और, जिन्हें वह माँजता है उन्हें वह यह सीख देता है
कि सबको मुक्त रक्खें।

नये कवियों की आस्था इस पीड़ा की मानवीयता पर है और वे यह मानते हैं कि यही पीड़ा, दायित्व-चेतना और मुक्ति-भावना मनुष्य की उस आन्तरिकता को उभार सकती है, जो इस विघटन का परिहार कर ऐसी नयी भावभूमि का सृजन कर सके जिसमें व्यक्ति और समाज के कृत्रिम विरोध का परिशमन हो–

भटके हुए व्यक्ति का संशय
इतिहासों का अन्धा निश्चय
ये दोनों जिसमें पा आश्रय
बन जायेंगे सार्थक समतल
ऐसे किसी अनागत पथ का
पावन माध्यम भर है मेरी
आकुल प्रतिभा, अर्पित रसना। –भारती

इस प्रकार नयी कविता एक अर्थ में 'अर्पित रसना' भी है। पर उसका वह अर्पण किसके प्रति है ? निस्सन्देह मानव-मूल्यों के प्रति। मात्र उसके व्यक्ति से मानव-मूल्य बड़े हैं और पीड़ा के माध्यम से वह उन्हीं को उपलब्ध करना चाहता है, उनकी उपलब्धि के लिए अपने अहम् को अर्पित भी करता है ; क्योंकि वह दर्द उससे बड़ा है··· सर्वेश्वर की पंक्तियाँ हैं–

लगा मुझको उठाकर कोई खड़ा कर गया
और मेरे दर्द को मुझसे बड़ा कर गया।

और उसी दीपक से व्यक्ति-मन को भक्ति को अर्पित करने का आग्रह 'अज्ञेय' में है–

जिज्ञासु, प्रबुद्ध सदा श्रद्धामय इसको भी भक्ति को दे दो।

यह अर्पण एक नयी सामाजिकता का प्रारम्भ बिन्दु है जिसमें सामाजिकता 'आन्तरिक' है, केवल बाह्य नहीं। वह दूसरों की पीड़ा पहचानने का व्रत लेकर चलती है, क्योंकि व्यक्ति रूप में उसने खुद पीड़ा भोगी है। आन्तरिक सामाजिकता पर आग्रह उस मानवीय विघटन को चुनौती देता है जो आज व्यक्ति के विनाश और समाज के खोखलेपन में प्रतिबिम्बित हो रहा है।

यही उसकी आस्था का आधार भी है। कुँवर नारायण की पंक्तियाँ हैं–

है मुझे स्वीकार
मेरे वन, अकेलेपन, परिस्थिति के सभी काँटे
ये दधीची हड्डियाँ हर दाह में तप लें
न जाने कौन दैवी आसुरी संघर्ष बाक़ी हों अभी
जिसमें तपायी हड्डियाँ मेरी यशस्वी हों···

COMPILED

रचनावली

Recommended By

ARCHIVES DATA BASE
2011 - 12

COMPILED

लेखक के अध्ययन का दायरा हिंदी या रूसी साहित्य तक सीमित नहीं है, वह विश्व-साहित्य से भी परिचित है। इसी विस्तृत दृष्टि के आलोक में भारती ने प्रगतिवादी साहित्य की गंभीर समीक्षा की है।

'मानव मूल्य और साहित्य' भारती की मानवतावादी दृष्टि का विकास है। संपन्न सांस्कृतिक परंपरा, समृद्ध भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य, पश्चिमी संस्कृति, स्वातंत्र्य-संघर्ष तथा दो विश्वयुद्धों ने आधुनिक साहित्यकारों को प्रभावित किया है। इससे ऐसी दृष्टि विकसित हुई जिसका मूल सरोकार मानवतावादी है। भारती-साहित्य में राष्ट्रीयतावादी मानवीय दृष्टि का वैशिष्ट्य मिलता है। निज भाषा, साहित्य, संस्कृति और समकालीन संदर्भ इसे समृद्ध करते हैं। विभिन्न विचारों और मूल्य-संस्कृतियों के समन्वय से विकसित बोध भारती की समीक्षा-दृष्टि को गहराई देते हैं। मानवता के भविष्य, नियति और गौरव को व्यक्त करने वाली कृतियों की पड़ताल करते हुए भारती मानवीय मूल्यों के पक्ष में साहित्य की महती भूमिका को प्रस्तावित करते हैं।

रचनावली

वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली-110002

रचनावली